

उपासकाध्ययन

अनुक्रमणिका

- 001) समस्त मतों के सिद्धान्तों का ज्ञान
- 002) आप्त स्वरूप की मीमांसा
- 003) आगम और तत्त्व की मीमांसा
- 004) मूढता का निषेध
- 005) सम्यग्दर्शन के दोष
- 006) जिनदत्त और राजा पद्मरथ के प्रतिज्ञा निर्वाह का साहस
- 007) निःशंकित तत्त्व
- 008) निःकांक्षित तत्त्व
- 009) निर्विचिकित्सा अङ्ग
- 010) भव्यसेन मुनि की दुश्चेष्टा
- 011) अमूढता अंग
- 013) वारिषेणकुमार का प्रव्रज्याव्रजन
- 014) स्थितिकरण
- 015) वज्रकुमार का विद्याधर से समागम
- 016) वज्रकुमार द्वारा तप ग्रहण
- 017) बुद्धदासी द्वारा पूतिकवाहन का वरण
- 018) प्रभावना अंग
- 019) बलि को देशनिर्वासन
- 020) वात्सल्य अंग
- 021) रत्नत्रय का स्वरूप
- 022) मद्य के दोष
- 023) मद्यत्याग के गुण
- 024) मांस की इच्छा मात्र करने का फल
- 025) मांस त्याग का फल
- 026) अहिंसा का फल
- 027) चोरी का फल
- 028) सुलसा का सगर के साथ संगम
- 029) वसु की रसातल-प्राप्ति
- 030) असत्य का फल
- 031) दुराचार का फल

!! श्रीसर्वज्ञवीतरागाय नमः !!

श्रीमद्-भगवत्सोमदेवाचार्य-देव-प्रणीत

श्री

उपासकाध्ययन

मूल संस्कृत गाथा

आभार :

!! नमः श्रीसर्वज्ञवीतरागाय !!

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः

कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नमः ॥1॥

अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलकलंका

मुनिभिरूपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥2॥

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया

चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥3॥

॥ श्रीपरमगुरुवे नमः, परम्पराचार्यगुरुवे नमः ॥

सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमनः प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं

श्रीउपासकाध्ययन नामधेयं, अस्य मूलाग्रन्थकर्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां

वचनानुसारमासाद्य श्रीमद्-भगवत्सोमदेवाचार्य विरचितं, श्रोतारः सावधानतया शृण्वन्तु ॥

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी

मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

सर्वमंगलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं

प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥

जो न्यूनता विपरीतता अर अधिकता से रहित है ।

सन्देह से भी रहित है स्पष्टता से सहित है ॥

जो वस्तु जैसी उसे वैसी जानता जो ज्ञान है ।

जाने जिनागम वे कहें वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान है ॥र.क.श्रा.-42॥

मुक्तिमग के मग तथा जो ललित में भी ललित हैं ।

जो भविजनों के कर्ण-अमृत और अनुपम शुद्ध हैं ॥

भविविजन के उग्र दावानल शमन को नीर हैं ।

मैं नमूँ उन जिनवचन को जो योगिजन के वंद्य हैं ॥नि.सा.-क.१५॥

समस्त मतों के सिद्धान्तों का ज्ञान

कल्प - १

ग्रन्थ :

धर्म विषयक जिज्ञासा

धर्मात्किलैष जन्तुर्भवति सुखी जगति स च पुनर्धर्मः ।

किरूपः किंभेदः किमुपायः किंफलश्च जायेत ॥1॥

धर्म से यह प्राणी जगत् में सुखी होता है । उस धर्म का क्या स्वरूप है ? कितने भेद हैं ? तथा उसका क्या उपाय और क्या फल है ॥1॥

धर्म का स्वरूप और भेद

यस्मादभ्युदयः पुंसां निःश्रेयसफलाश्रयः ।

वदन्ति विदिताम्नायास्तं धर्मं धर्मसूरयः ॥2॥

जिससे मनुष्यों को ऐसे अभ्युदय की प्राप्ति होती है, जिसका फल मोक्ष है उसे आम्नाय के ज्ञाता धर्माचार्य धर्म कहते हैं ॥2॥

स प्रवृत्तिनिवृत्त्यात्मा गृहस्थेतरगोचरः ।

प्रवृत्तिर्मुक्तिहेती स्यानिवृत्तिर्भवकारणात् ॥3॥

वह धर्म प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप है । मोक्ष के कारणों में लगने को प्रवृत्ति और संसार के कारणों से बचने को निवृत्ति कहते हैं । वह धर्म गृहस्थ धर्म और मुनि धर्म के भेद से दो प्रकार का है ॥3॥

संसार और मोक्ष के कारणों का स्वरूप

अब प्रश्न यह है कि मुक्ति का कारण क्या है और संसार का कारण क्या है ? तथा गृहस्थों का धर्म क्या है और मुनियों का धर्म क्या है ? -

सम्यक्त्वज्ञानचारित्र्यमोक्षस्य कारणम् ।

संसारस्य च मीमांस्यं मिथ्यात्वादितुष्टयम् ॥4॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र्य मोक्ष के कारण हैं । तथा मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय और योग संसार के कारण हैं ॥4॥

सम्यक्त्वं भावनामाहुयुक्तियुक्तेषु वस्तुषु ।

मोहसंदेहविभ्रान्तिवर्जितं ज्ञानमुच्यते ॥5॥

युक्तियुक्त वस्तुओं में दृढ़ आस्था का होना सम्यग्दर्शन है । और मोह, सन्देह तथा भ्रम से रहित ज्ञान का होना सम्यग्ज्ञान है ॥5॥

कर्मादाननिमित्तायाः क्रियायाः परमं शमम् ।

चारित्र्योचितचातुर्याश्चारुचारित्र्यमूचिरे ॥6॥

जिन कामों के करने से कर्मोंका बन्ध होता है उन कामों के न करने को चारित्र्य में चतुर आचार्य सम्यक्चारित्र्य कहते हैं ॥6॥

सम्यक्त्वज्ञानचारित्र्यविपर्ययपरं मनः ।

मिथ्यात्वं नृषु भाषन्ते सूरयः सर्ववेदिनः ॥७॥

तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य के विषय में विपरीत मानसिक प्रवृत्ति को सर्वविद् आचार्यों ने मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र्य कहा है ॥7॥

मुक्ति के विषय में मतान्तर

अत्र दुरागमवासनाविलासिनीवासितचेतसां प्रवर्तितप्राकृतलोकानोकहोन्मूलनसमयस्रोतसां सदाचाराचरणचातुरीविदूरवर्तिनां परवादिनां मुक्तरूपाये कोये च बहुवृत्तयः खलु प्रवृत्तयः । तथाहि-सकलनिष्कलाप्तप्राप्तमन्त्रतन्त्रापेक्षदीक्षालक्षणाच्छ्रद्धामात्रानुसरणान्मोक्षः इति सैद्धान्त्यवैशेषिकाः, द्रव्यगुणकर्मसामान्यसमवायान्त्यविशेषाभावाभिधानानां पदार्थानां साधर्म्यवैधावबोधतन्त्राक्षानमात्रात्' इति तार्किकवैशेषिकाः, 'त्रिकालभस्मोद्धूलनेज्यागडुकप्रदानाप्रदक्षिणोकारणात्मविडम्बनादिक्रियाकाण्डमात्राधिष्ठानादनुष्ठानात्' इति पाशुपताः, 'सर्वेषु पेयापेयभक्ष्याभक्ष्यादिषु निःशङ्कचित्ताद् वृत्तात्' इति कुलाचार्यकाः । तथा च त्रिकमतोक्तिः- 'मदिरामोदमेदुरवदनस्तरसरसप्रसन्नहृदयः सव्यपार्श्वविनिवेशितशक्ति शक्तिमुद्रासनधरः स्वयमुमामहेश्वरायमाणः कृष्णया शर्वाणीश्वरमाराधयेदिति / प्रकृतिपुरुषयोविवेकमतेः ख्यातेः' इति सांख्याः, 'नैरात्म्यादिनिवेदितसंभावनातो भावनातः' इति दशबल शिष्याः, 'अङ्गाराजनादिवत्स्वभावादेव कालुष्योत्कर्षप्रवृत्तस्यै चित्तस्य न कुतश्चिद्विशुद्धचित्तवृत्तिः' इति जैमिनीयाः, 'सति धर्मिणि धर्माश्चिन्त्यन्ते ततः परलोकिनोऽभावात्परलोकाभावे कस्यासौ मोक्षः' इति समवाप्तसमस्तनास्तिकाधिपत्या बार्हस्पत्याः, 'परमब्रह्मदर्शनवशादशेषभेदसंवेदनाविद्याविनाशात्' इति वेदान्तवादिनः,

अन्य मतवाले मुक्ति का स्वरूप तथा उपाय अलग-अलग बतलाते हैं । सैद्धान्तिक वैशेषिकों का कहना है कि सशरीर वा अशरीर परम शिव के द्वारा प्राप्त हुए मन्त्र-तन्त्र पूर्वक दीक्षा धारण करना और उनपर श्रद्धा मात्र रखना मोक्ष का कारण है । तार्किक वैशेषिकों का कहना है कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय, विशेष और अभाव इन सात पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्य मूलक ज्ञान मात्र से मोक्ष होता है । पाशुपतों का कहना है कि तीनों समय प्रातः दोपहर और शाम को भस्म लगाने, शिवलिंग की पूजा करने, उसके सामने जलपात्र स्थापित करने, प्रदक्षिणा करने और आत्मदमन आदि क्रियाकाण्ड मात्र के अनुष्ठान से मोक्ष होता है । कुलाचार्यकों का कहना है कि

निःशङ्क चित्त से समस्त पीने योग्य, न पीने योग्य, खाने योग्य, न खाने योग्य पदार्थों में प्रवृत्ति करने से मोक्ष होता है। त्रिकमतमें लिखा है कि शराब की सुगन्ध से मुख को सुवासित करके, मांस के स्वाद से हृदय को प्रसन्न करके और दक्षिण पार्श्व में स्त्री शक्ति को स्थापित करके योनि-मुद्रा आसन का धारक स्वयं ही शिव और पार्वती बनकर मदिरा के द्वारा उमा और महेश्वर की आराधना करे। सांख्यों का कहना है कि प्रकृति और पुरुष के भेदज्ञान से मोक्ष होता है। बुद्ध के शिष्यों का कहना है कि नैरात्म्य भावना के अभ्यास से मोक्ष होता है। जैमिनीयों का मत है कि कोयले और अंजन की तरह स्वभाव से ही कलुषित चित्त की चित्तवृत्ति विशुद्ध नहीं हो सकती। अर्थात् जैसे कोयले को घिसने पर भी वह सफेद नहीं हो सकता, उसी तरह स्वभाव से ही मलिन चित्त विशुद्ध नहीं हो सकता। नास्तिक शिरोमणि वृहस्पति के अनुयायी चार्वाकों का कहना है कि धर्मों के होने पर ही धर्मों का विचार किया जाता है। अतः परलोक में जानेवाली किसी आत्मा के न होने से जब परलोक ही नहीं है तो मोक्ष होता किसको है? अर्थात् जब आत्मा ही नहीं है तो मोक्ष की बात ही बेकार है। वेदान्तियों का मत है कि परम ब्रह्मका दर्शन होने से समस्त भेदज्ञान को कराने वाली अविद्या का नाश हो जाता है और उससे मोक्ष की प्राप्ति होती है।

नैवान्तस्तत्त्वमस्तीह न बहिस्तत्त्वमज्जसा।

विचारगोचरातीतः शून्यता श्रेयसी ततः ॥8॥

दिखाई देनेवाले विश्व का भी निषेध करनेवाले शून्यतैकान्तवादी बौद्धविशेषों का मत है कि न कोई अन्तस्तत्त्व आत्मा वगैरह है और न कोई वास्तविक बाहरी तत्त्व घटादिक ही है, दोनों ही विचारगोचर नहीं हैं, अतः शून्यता ही श्रेष्ठ है ॥8॥ इति पश्यतोहराः

प्रकाशितशून्यतैकान्तमिराः शाक्यविशेषाः, तथा 'शानसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काराणां

नवसंख्यावसराणामात्मगुणानामत्यन्तोन्मुक्तिर्मुक्तिः' इति काणादाः। तदुक्तम्

बहिः शरीराद्यद्र पमात्मनः संप्रतीयते।

उक्तं तदेव मुक्तस्य मुनिना कणभोजिना" ॥9॥

कणाद के अनुयायियों का मत है कि ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म और अधर्म, आत्मा के इन नौ गुणों का अत्यन्त अभाव हो जाने को ही मुक्ति कहते हैं। कहा भी है "शरीर से बाहर आत्माका जो स्वरूप प्रतीत होता है, कणाद मुनि ने उसी को मुक्तात्मा का स्वरूप कहा है" ॥9॥ निराश्रयवित्तोत्पत्तिलक्षणो मोक्षक्षणः' इति ताथागताः। तदुक्तम्

दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचिन्नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतः स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥10॥

दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचिन्नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।

जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतः क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिम्" ॥11-सौन्दरनन्द 16, 28-29॥

बौद्धों का कहना है कि निराश्रय चित्त की उत्पत्ति हो जाना ही मोक्ष है। कहा भी है "जैसे दीपक बुझ जाने पर न किसी दिशा को चला जाता है, न किसी विदिशा को चला जाता है। न नीचे पृथिवी में समा जाता है और न ऊपर आकाश में समा जाता है, किन्तु तेल के चुक जाने से शान्त हो जाता है। उसी तरह निर्वाण को प्राप्त हुआ जीव न किसी दिशा को जाता है, न किसी विदिशा को जाता है, न पृथिवी में समा जाता है और न ऊपर आकाश में समा जाता है, किन्तु क्लेशों के क्षय हो जाने से शान्त हो जाता है" ॥10-11॥

'बुद्धिमनोऽहंकारविरहादखिलेन्द्रियोपशमावहात्तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानं मुक्तिः' इति कापिलाः। 'यथा घटविघटने घटाकाशमाकाशीभवति तथा देहोच्छेदात्सर्वः प्राणी परब्रह्मणि लीयते' इति ब्रह्माद्वैतवादिनः।

अज्ञातपरमार्थानामेवमन्येऽपि दुर्नयाः।

मिथ्यादृशौ न गण्यन्ते जात्यन्धानामिव द्विपे ॥12॥

बुद्धि, मन और अहंकार का अभाव हो जाने के कारण समस्त इन्द्रियों के शान्त हो जाने से पुरुष का अपने चैतन्य स्वरूप में स्थित होना मोक्ष है, ऐसा कपिल ऋषि के अनुयायी मानते हैं। ब्रह्माद्वैतवादियों का कहना है कि जैसे घट के फूट जाने पर घट से रोका हुआ आकाश आकाश में मिल जाता है, उसी तरह शरीर का विनाश हो जाने पर सब प्राणी परम ब्रह्म में लीन हो जाते हैं।

जिस तरह जन्मान्ध मनुष्य हाथी के विषय में विचित्र कल्पनाएँ कर लेते हैं, उसी तरह परमार्थ को न जानने वाले मिथ्यामतवादियों ने अन्य

भी अनेक मत कल्पित कर रखे हैं, उनकी गणना करना भी कठिन है ॥12॥

(इस प्रकार मोक्ष के विषय में अन्य मतों को बतला कर आचार्य विचारते हैं)

प्रायः संप्रति कोपाय सन्मार्गस्योपदेशनम् ।

निलूननासिकस्येव विशुद्धादर्शदर्शनम् ॥13॥

जैसे नकटे मनुष्य को स्वच्छ दर्पण दिखाने से उसे क्रोध आता है, वैसे ही आजकल सन्मार्ग का उपदेश भी प्रायः लोगों के क्रोध का कारण होता है ॥13॥

दृष्टान्ताः सन्त्यसंख्येया मतिस्तद्वशवर्तिनी ।

किं न कुर्युर्महीं धूर्ता विवेकरहितामिमाम् ॥14॥

संसार में दृष्टान्तों की कमी नहीं है, दृष्टान्तों को सुनकर लोगों की बुद्धि उनके आधीन हो जाती है। ठीक ही है-धूर्त लोग इस विवेक शून्य पृथिवी पर क्या नहीं कर सकते ॥14॥

दुराग्रहग्रहग्रस्ते विद्वान्पुंसि करोतु किम् ।

कृष्णपाषाणखण्डेषु मार्दवाय न तोयदः ॥15॥

जो पुरुष दुराग्रह रूपी राहु से ग्रस लिया गया है (जो अपनी बुरी हठ को पकड़े हुए है) उस पुरुष को विद्वान् कैसे समझावें। मेघ के बरसने से काले पत्थर के टुकड़ों में कोमलता नहीं आती ॥15॥

ईर्ते युक्तिं यदेवात्र तदेव परमार्थसत् ।

यद्भानुदीप्तिवत्तस्याः पक्षपातोऽस्ति न क्वचित् ॥16॥

फिर भी इस लोक में जो वस्तु युक्ति सिद्ध हो वही सत्य है, क्योंकि सूर्य की किरणों की तरह युक्ति भी किसी का पक्षपात नहीं करती ॥16॥

(इस प्रकार मन में विचार कर आचार्य यहाँ से उक्त मतान्तरों का क्रमशः निराकरण करते हैं -)

श्रद्धा श्रेयोऽर्थिनां श्रेयःसंश्रयाय न केवला ।

बुभुक्षितवशात्पाको जायेत किमुदम्बरे ॥17॥

कल्याण चाहने वालों का कल्याण केवल श्रद्धा मात्र से नहीं हो सकता। क्या भूख लगने से ही गूलर पक जाते हैं ? ॥17॥

पात्रावेशादिवन्मन्त्रादात्मदोषपरिक्षयः ।

दृश्येत यदि को नाम कृती किश्येत संयमैः ॥18॥

उचित व्यक्ति में आगत भूतावेश की तरह यदि मन्त्र पाठ से ही आत्मा के दोषों का नाश होता देखा जाता, तो कौन मनुष्य संयम धारण करने का क्लेश उठाता ॥18॥

दीक्षाक्षणान्तरात्पूर्व ये दोषा भवसंभवाः ।

ते पश्चादपि दृश्यन्ते तन्न सा मुक्तिकारणम् ॥19॥

दीक्षा धारण करने से पहले जो सांसारिक दोष देखे जाते हैं, दीक्षा धारण करने के बाद भी वे दोष देखे जाते हैं। अतः केवल दीक्षा भी मुक्ति का कारण नहीं है ॥19॥

(भावार्थ – पहले सैद्धान्त वैशेषिकों का मत बतलाते हुए कहा है कि वे मन्त्र-तन्त्र पूर्वक दीक्षा धारण करने और उनपर श्रद्धा मात्र रखनेसे मोक्ष मानते हैं। उसी की आलोचना करते हुए आचार्य कहते हैं कि न केवल श्रद्धा से ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है और न मन्त्र-तन्त्र पूर्वक दीक्षा धारण करने से ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है। श्रद्धा तो मात्र रुचि को बतलाती है, किन्तु किसी चीज पर श्रद्धा हो जाने मात्र से ही तो वह प्राप्त नहीं हो जाती। इसी तरह दीक्षा धारण कर लेने मात्र से भी काम नहीं चलता, क्योंकि दीक्षा लेने पर भी यदि सांसारिक दोषों के विनाश का प्रयत्न न किया जाये तो वे दोष जैसे दीक्षा लेने से पहले देखे जाते हैं वैसे ही दीक्षा धारण करने के बादमें भी देखे जाते हैं। यदि केवल श्रद्धा या दीक्षा से ही काम चल सकता होता तो संयम धारण करने के कष्टों को उठाने की जरूरत ही नहीं रहती। अतः ये मोक्ष के कारण नहीं माने जा सकते।)

(अब प्राचार्य बिना ज्ञान की क्रिया को और बिना क्रिया के ज्ञान को व्यर्थ बतलाते हैं-)

ज्ञानादवगमोऽर्थानां न तत्कार्यसमागमः ।

तर्षापकर्षयोगि स्यादृष्टमेवान्यथा पयः ॥20॥

ज्ञान से पदार्थों का बोध होता है, किन्तु उन्हें जानने मात्र से उन पदार्थों का कार्य होता नहीं देखा जाता। यदि ऐसा होता तो पानी के देखते ही प्यास बुझ जानी चाहिए ॥20॥

ज्ञानहीने क्रिया पुसि परं नारभते फलम् ।

तरोश्छायेव किं लभ्या फलश्रीनष्टदृष्टिभिः ॥21॥

तथा ज्ञान हीन पुरुष की क्रिया फलदायी नहीं होती। क्या अन्धे मनुष्य वृक्ष की छाया की तरह उसके फलों की शोभा का आनन्द ले सकते हैं ? ॥21॥

ज्ञानं पङ्गौ क्रिया चान्धे निःश्रद्धे नार्थकद्वयम् ।

ततो ज्ञानक्रियाश्रद्धात्रयं तत्पदकारणम् ॥22॥

श्रद्धाहीन पंगु का ज्ञान और श्रद्धाहीन अन्धे की क्रिया दोनों ही कार्यकारी नहीं हैं। अतः ज्ञान, चारित्र और श्रद्धा तीनों ही मिलकर मोक्ष का कारण हैं ॥22॥

उक्तंच -

कहा भी है -

"हतं ज्ञानं क्रियाशून्यं हता चाज्ञानिनः क्रिया ।

धावनप्यन्धको नष्टः पश्यन्नपि च पङ्कजः" ॥23॥

क्रिया-आचरण से शून्य ज्ञान भी व्यर्थ है और अज्ञानी की क्रिया भी व्यर्थ है। देखो, एक जंगल में आग लगने पर अन्धा मनुष्य दौड़ भाग करके भी नहीं बच सका, क्योंकि वह देख नहीं सकता था और लँगड़ा मनुष्य आग को देखते हुए भी न भाग सकने के कारण उसी में जल मरा ॥23॥

(कौल मतवादियोंको आचार्य उत्तर देते हैं-)

निःशङ्कात्मप्रवृत्तेः स्याद्यदि मोक्षसमीक्षणम् ।

ठक्स्नाकृतां पूर्व पश्चात्कोलेष्वसौ भवेत् ॥24॥

यदि मद्य-मांस वगैर हमें निःशङ्क होकर प्रवृत्ति करने से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती तो सबसे पहले तो ठगों और मांस बेचनेवाले कसाइयोंकी मुक्ति होनी चाहिए। उनके पीछे कौल मतवालों की मुक्ति होना चाहिए ॥24॥

(इस प्रकार केवल ज्ञान या केवल चारित्र से मुक्ति की प्राप्ति को असम्भव बतलाकर आगे आचार्य सांख्य मतकी आलोचना करते हैं-)

अव्यक्तनरयोनित्यं नित्यव्यापिस्वभावयोः ।

विवेकेन कथं ख्याति सांख्यमुख्याः प्रचक्षते ॥25॥

सांख्य मत में प्रकृति और पुरुष दोनों व्यापक और नित्य माने गये हैं। ऐसी अवस्था में उनमें भेद-ग्रहण कैसे सम्भव है ? (व्यापक और नित्य होने से प्रकृति और पुरुष दोनों सदा से मिले हुए ही रहते हैं। तब उनमें भेद ग्रहण का कथन सांख्याचार्य कैसे करते हैं) ॥25॥

(पहले नैरात्म्य भावना से मुक्ति मानने वाले एक मत का उल्लेख कर आये हैं, उसको आलोचना करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं-)

सर्व चेतसि भासेत वस्तु भावनया स्फुटम् ।

तावन्मात्रेण मुक्तत्वे मुक्तिः स्याद्विप्रेलम्बिनाम् ॥26॥

भावना से सभी वस्तु चित्त में स्पष्ट रूप से झलकने लगती है। यदि केवल उतने से ही मुक्ति प्राप्त होती है तो ठगों की भी मुक्ति हो जायेगी ॥26॥

तदुक्तम् -

कहा भी है -

"पिहिते कारागारे तमसि च सूचीमुखाग्रनिर्भये ।

मयि च निमीलितनयने तथापि कान्ताननं व्यक्तम्" ॥27॥

सब ओर से बन्द जेलखाने में अत्यन्त घोर अन्धकार के होते हुए और मेरे आँख बन्द कर लेने पर भी मुझे अपनी प्रिया का मुख दिखाई दिया ॥27॥

(भावार्थ- आशय यह है कि भावना जैसी भाई जाती है वैसी ही वस्तु दिखाई देने लगती है। अतः केवल भावना के बल पर यथार्थ वस्तु की प्राप्ति नहीं हो सकती।)

(इस प्रकार नैरात्म्य भावनावादी को उत्तर देकर आचार्य जैमिनि के मत की आलोचना करते हैं। जैमिनि का कहना है कि स्वभाव से ही कलुषित चित्त की विशुद्धि नहीं हो सकती। इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं-)

स्वभावान्तरसंभूतिर्यत्र तत्र मलक्षयः ।

कतुं शक्यः स्वहेतुभ्यो मणिमुक्ताफलेष्विव ॥28॥

जिस वस्तु में स्वभावान्तर हो सकता है, उसमें अपने कारणों से मल का क्षय किया जा सकता है, जैसा कि मणि और मोतियों में देखा जाता है। अर्थात् मणि मोती वगैरह जन्म से ही सुमैल पैदा होते हैं किन्तु बाद को उनका मैल दूर करके उन्हें चमकदार बना लिया जाता है। इसी तरह अनादि से मलिन आत्मा से भी कर्म जन्य मलिनता को हटाकर उसे विशुद्ध किया जा सकता है ॥28॥

(अब आत्मा और परलोक को न मानने वाले चार्वाकों को उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं-)

"तदहर्जस्तनेहातो रक्षोडष्टर्भवस्मृतेः।

भूतानन्बयनाजीवः प्रकृतिशः सनातनः" ॥29॥

उसी दिन का पैदा हुआ बच्चा माता के स्तनोंको पीनेकी चेष्टा करता है, राक्षस वगैरह देखे जाते हैं, किसी-किसी को पूर्व जन्मका स्मरण भी हो जाता है, तथा आत्मा में पञ्च भूतों का कोई भी धर्म नहीं पाया जाता। इन बातोंसे प्रकृतिका ज्ञाता जीव सनातन सिद्ध होता है ॥ 29॥

(भावार्थ- आशय यह है कि चार्वाक आत्मा को एक स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानता। उसका कहना है कि जैसे कई चीजों के मिलाने से शराब बन जाती है और उसमें मादकता उत्पन्न हो जाती है, उसी तरह पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँच भूतों के मिलने से एक शक्ति उत्पन्न हो जाती है या प्रकट हो जाती है, उसे ही आत्मा कह देते हैं। जब वे पाँचों भूत बिछुड़ जाते हैं तो वह शक्ति भी नष्ट हो जाती है। अतः पञ्चभूतों के सिवा आत्मा कोई स्वतंत्र द्रव्य नहीं है। इसका निराकरण करते हुए आचार्य कहते हैं कि एक तो उसी दिन का जन्मा हुआ बच्चा माता के स्तनों को पीने की चेष्टा करता हुआ देखा जाता है, और यदि उसके मुँह में स्तन लगा दिया जाता है तो झट पीने लगता है। यदि बच्चे को पूर्व जन्म का संस्कार न होता तो पैदा होते ही उसमें ऐसी चेष्टा नहीं होनी चाहिए थी। यह सब पूर्व जन्म का संस्कार ही है। तथा राक्षस व्यन्तरादिक देव देखे जाते हैं जो अनेक बातें बतलाते हैं। पूर्व जन्म के स्मरण की कई घटनाएँ सच्ची पाई गई हैं, तथा सबसे बड़ी बात तो यह है कि यदि चैतन्य, भूतों के मेलसे पैदा होता है तो उसमें भूतों का धर्म पाया जाना चाहिए था, क्योंकि जो वस्तु जिन कारणों से पैदा होती है उस वस्तुमें उन कारणों का धर्म पाया जाता है, जैसे मिट्टी से पैदा होने वाले घड़े में मिट्टीपना रहता है, धागों से बनाये जाने वाले वस्त्र में धागे पाये जाते हैं, किन्तु चैतन्य में पंचभूतों का कोई धर्म नहीं पाया जाता । पंच भूत तो जड़ होते हैं उनमें जानने-देखने की शक्ति नहीं होती, किन्तु चैतन्य में जानने देखने की शक्ति पाई जाती है । तथा यदि चैतन्य पंचभूतों का धर्म है तो मोटे शरीर में अधिक चैतन्य पाया जाना चाहिए था और दुबले शरीर में कम । किन्तु इसके विपरीत कोई-कोई दुबले-पतले बड़े मेधावी और ज्ञानी देखे जाते हैं और स्थूल मनुष्य निर्बुद्धि होते हैं । तथा यदि चैतन्य पंचभूतों का धर्म है तो शरीर का हाथ-पैर आदि कट जाने पर उसमें चैतन्य की कमी हो जानी चाहिए; क्योंकि पंचभूत कम हो गये हैं किन्तु हाथ-पैर वगैरह के कट जानेपर भी मनुष्य के ज्ञानमें कोई कमी नहीं देखी जाती। इससे सिद्ध है कि चैतन्य पंचभूतोंका धर्म नहीं है बल्कि एक नित्य द्रव्य आत्माका ही धर्म है । अतः आत्मा एक स्वतन्त्र द्रव्य है।)

(अब आचार्य वेदान्तियोंके मतकी आलोचना करते हुए उनसे पूछते हैं-)

भेदोऽयं यद्यविद्या स्याद्वैचित्र्यं जगतः कुतः ।

जन्ममृत्युसुखप्रायैर्विवर्तैर्मानवर्तिभिः ॥30॥

यदि यह भेद अविद्याजन्य है- अज्ञान मूलक है, तो संसार में वैचित्र्य क्यों पाया जाता है, क्यों कोई मरता है और कोई जन्म लेता है ? कोई सुखी और कोई दुखी क्यों देखा जाता है ? ॥ 30॥

(अब आचार्य शून्यवादी बौद्ध के मत की आलोचना करते हैं-)

शून्यं तत्त्वमहं वादी साधयामि प्रमाणतः ।

इत्यास्थायां विरुध्येत सर्वशून्यत्ववादिता ॥31॥

'मैं शून्य तत्त्व को प्रमाणसे सिद्ध करता हूँ', ऐसी प्रतिज्ञा करने पर सर्वशून्यवाद का स्वयं विरोध हो जाता है ॥31॥

(भावार्थ - आशय यह है कि शून्यतावादी अपने मत की सिद्धि यदि किसी प्रमाण से करता है तो प्रमाण के वस्तु सिद्ध हो जाने से शून्यतावाद सिद्ध नहीं हो सकता। और यदि बिना किसी प्रमाण के ही शून्यतावाद को सिद्ध मानता है तब तो दुनिया में ऐसी कोई वस्तु ही न रहेगी जिसे सिद्ध न किया जा सके। और ऐसी अवस्था में बिना प्रमाणके ही शून्यतावाद के विरुद्ध अशून्यतावाद भी सिद्ध हो जायेगा। अतः सर्वशून्यतावाद भी ठीक नहीं है।)

(अब आचार्य मुक्ति में आत्मा के विशेष गुणों का विनाश मानने वाले कणाद मतानुयायियों की आलोचना करते हैं-)

वोधो वा यदि वानन्दो नास्ति मुक्तौ भवोद्भवः ।

सिद्धसाध्यतयास्माकं न काचित्तिरोक्ष्यते ॥32॥

न्यक्षवीक्षाविनिर्मोक्षे मोक्षे किं मोक्षिलक्षणम् ।

न धम्नावन्यदुष्णत्वालक्ष्म लक्ष्यं विचक्षणैः ॥33॥

यदि आप यह मानते हैं कि मुक्ति में सांसारिक सुख-दुःख नहीं है तो इसमें कोई हानि नहीं है, यह बात तो हमको भी इष्ट ही है। किन्तु यदि आत्मा के समस्त पदार्थ विषयक ज्ञान के विनाश को मोक्ष मानते हैं तो फिर मुक्तात्मा का लक्षण क्या है ? क्योंकि विद्वान् लोग वस्तु के विशेष गुणों को ही वस्तु का लक्षण मानते हैं, जैसे आग का लक्षण उष्णता है, यदि आग की उष्णता नष्ट हो जाये तो फिर उसका लक्षण क्या होगा ? फिर तो आगका ही अभाव हो जायेगा; क्योंकि विशेष गुणों के अभाव में गुणी का भी अभाव हो जाता है। अतः यदि मुक्तिमें आत्मा के ज्ञानादि विशेष गुणों का अभाव माना जायेगा तो आत्मा का भी अभाव हो जायेगा ॥32-33॥

किं च सदाशिवेश्वरादयः संसारिणो मुक्ता वा ? संसारित्वे कथमाप्तता ? भुक्तत्वे 'केशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरस्तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्' इति पतञ्जलिजल्पितम् -

"ऐश्वर्यमप्रतिहतं सहजो विराग

स्तृप्तिनिसर्गजनिता वशितेन्द्रियेषु ।

आत्यन्तिकं सुखमनावरणा च शक्ति

निं च सर्वविषयं भगवस्तवैव" ॥34॥

तथा आपके सदाशिव ईश्वर वगैरह संसारी हैं या मुक्त ? यदि संसारी हैं तो वे आप्त नहीं हो सकते। यदि मुक्त हैं तो 'क्लेश, कर्म, कर्मफलका उपभोग और उसके अनुरूप संस्कारों से रहित पुरुष विशेष ईश्वर है। उस ईश्वर में सर्वज्ञता का जो बीज है वह अपनी चरम सीमा को प्राप्त है अर्थात् वह पूर्णज्ञानी है'। पतञ्जलि का यह कथन, और 'हे भगवन् ! आप में अविनाशी ऐश्वर्य है, स्वाभाविक विरागता है, स्वाभाविक सन्तोष है, स्वभाव से ही आप इन्द्रियजयी हैं। आप में ही अविनाशी सुख, निरावरण शक्ति और सब विषयोंका ज्ञान है ॥34॥

इत्यवधूताभिधानं च न घटेत्।

अवधूताचार्य का यह कथन घटित नहीं हो सकता है।

(इस प्रकार कणाद मत के अनुयायियों की आलोचना करके आचार्य बौद्धों की आलोचना करते हैं -)

अनेकजन्मसंततेर्यावदद्याक्षयः पुमान् ।

यद्यसौ मुक्त्यवस्थायां कुतः क्षीयेत हेतुतः ॥35॥

यदि पुरुष अनेक जन्म धारण करने पर भी आज तक अक्षय है, उसका विनाश नहीं हुआ तो मुक्ति प्राप्त होने पर उसका विनाश किस कारण से हो जाता है ? ॥ 35 ॥

(अब आचार्य सांख्यमत की आलोचना करते हैं-)

बाह्ये ग्राह्ये मलापायात्सत्यस्वप्न इवात्मनः

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽस्मिन्नवस्थानममानकम् ॥36॥

जैसे वात, पित आदि का प्रकोप न रहने पर आत्मा को सच्चा स्वप्न दिखाई देता है वैसे ही ज्ञानावरण कर्म रूपी मल के नष्ट हो जाने पर आत्मा बाह्य पदार्थों को जानता है। अतः मुक्त हो जाने पर आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है और बाह्य पदार्थों को नहीं जानता यह कहना अप्रमाण है। यह भी **अर्थ** हो सकता है कि मल के नष्ट हो जाने पर आत्मा बाह्य पदार्थों को जानता है। और तब अपने इस स्वरूप में अनन्त काल तक अवस्थित रहता है॥ 36॥

न चायं सत्यस्वप्नोऽप्रसिद्धः स्वप्नाध्यायेऽतीव सुप्रसिद्धत्वात् । तथा हि -

शायद कहा जाये कि सच्चे स्वप्न होते ही नहीं हैं, किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'स्वप्नाध्याय' में सच्चे स्वप्न बतलाये हैं। जैसा कि उसमें लिखा है-

"यस्तु पश्यति रात्र्यन्ते राजानं कुञ्जरःहयम् ।

सुवर्णं वृषभं गां च कुटुम्ब तस्य वर्धते" ॥37॥

'जो रात्रिके पिछले पहर में राजा, हाथी, घोड़ा, सोना, बैल और गाय को देखता है उसका कुटुम्ब बढ़ता है ॥37॥

यत्र नेत्रादिकं नास्ति न तत्र मतिरात्मनि ।

तत्र युक्तमिदं यस्मात्स्वप्नमन्धोऽपि वीक्षते ॥38॥

जहाँ आँख वगैरह इन्द्रियाँ नहीं होती वहाँ आत्मा में ज्ञान भी नहीं होता ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अन्धे मनुष्य को भी स्वप्न दिखाई देता है ॥38॥

(भावार्थ - सांख्य मुक्तात्मा में ज्ञान नहीं मानता, क्योंकि वहाँ इन्द्रियाँ नहीं होती। उसकी इस मान्यता का खण्डन करते हुए ग्रन्थकारका कहना है कि इन्द्रियों के होनेपर ही ज्ञान हो और उनके नहीं होने पर न हो ऐसा कोई नियम नहीं है। इन्द्रियों के अभाव में भी ज्ञान होता देखा जाता है। स्वप्न दशा में इन्द्रियाँ काम नहीं करतीं फिर भी ज्ञान होता है और वह सच्चा निकलता है। अतः इन्द्रियों के अभाव में भी मुक्तात्मा को स्वाभाविक ज्ञान रहता ही है।)

(जैमिनि के मत के अनुयायी मीमांसक कहे जाते हैं। मीमांसक लोग सर्वज्ञ को नहीं मानते। वे वेद को ही प्रमाण मानते हैं। उनके मत से वेद ही भूत और भविष्यत् का भी ज्ञान करा सकता है। उनका कहना है कि मनुष्य की बुद्धि कितना भी विकास करे किन्तु उसमें अतीन्द्रिय पदार्थों को जानने की शक्ति कभी नहीं आ सकती। मनुष्य यदि अतीन्द्रिय पदार्थों को जान सकता है तो केवल वेद के द्वारा ही जान सकता है। इसकी आलोचना करते हुए आचार्य कहते हैं -)

जैमिन्यादेनरत्वेऽपि प्रकृष्येत मतिर्यदि।

पराकाष्ठाप्यतस्तस्याः क्वचित्खे परिमाणवत् ॥39॥

आपके आप्त जैमिनि मनुष्य थे। फिर भी उनकी बुद्धि इतनी विकसित हो गई थी कि वे वेदको पूरी तरहसे जान सके। इसी तरह किसी पुरुषकी बुद्धि का विकास अपनी चरम सीमा को भी पहुँच सकता है। क्योंकि जिनकी हानि-वृद्धि देखी जाती है, उनका कहीं परम प्रकर्ष और परम अपकर्ष **अर्थ**ात् अति हानि और अति वृद्धि भी देखी जाती है। जैसे परिमाण का परम प्रकर्ष आकाश में पाया जाता है ॥39॥ तुच्छाभावो न कस्यापि हानिदीपस्तमोऽन्वयी ।

धेरादिषु धियो हानौ विश्लेषे सिद्धसाध्यता ॥40॥

शायद कहा जाये कि इस नियम के अनुसार तो किसी में बुद्धि का बिल्कुल अभाव भी हो सकता है तो इसका उत्तर यह है कि किसी भी वस्तु का तुच्छाभाव नहीं होता, **अर्थ**ात् वह चीज एक दम नष्ट हो जाये और कुछ भी शेष न रहे ऐसा नहीं होता। दीपक जब बुझ जाता है तो प्रकाश अन्धकार रूपमें परिवर्तित हो जाता है। तथा पृथिवी वगैरह में बुद्धि की अत्यन्त हानि देखी जाती है। क्योंकि पृथिवीकायिक

आदि जीव पृथिवी आदि रूप पुद्गलोंको अपने शरीर रूप से ग्रहण करता है और मरण होनेपर उन्हें छोड़ देता है। अतः जीव के वियुक्त हो जाने पर उन पृथिवी आदि रूप पुद्गलों में बुद्धि का सर्वथा अभाव हो जाता है। इसमें तो सिद्ध साध्यता है ॥40॥

तदावृतिहतौ तस्य तपनस्येव दीधितिः।

कथं न शेमुषी सर्व प्रकाशयति वस्तु यत् ॥41॥

अतः जैसे सूर्य के ऊपर से आवरण के हट जाने पर उसकी किरणें समस्त जगत् को प्रकाशित करती हैं। वैसे ही बुद्धि के ऊपरसे कर्मों का आवरण हट जाने पर वह समस्त जगत्को क्यों नहीं जान सकती, अवश्य जान सकती है ॥41॥

(अब आचार्य ब्रह्माद्वैत की आलोचना करते हैं-)

ब्रह्मैकं यदि सिद्धं स्यान्निस्तरङ्गं कुतश्च न ।

घटाकाशमिवाकाशे तत्रदं लीयतां जगत् ॥42॥

यदि केवल एक ब्रह्म ही है तो वह निस्तरंग-सांसारिक भेदों से रहित क्यों नहीं है अर्थात् यह लोक भिन्न क्यों दिखाई देता है। तथा जैसे घट के फूट जाने पर घट के द्वारा छेका गया आकाश आकाश में मिल जाता है, वैसे ही इस जगत्को भी उसी ब्रह्म में मिल जाना चाहिए ॥ 42॥

अथ मतम्

एक एव हि भूतात्मा देहे देहे व्यवस्थितः।

एकधानेकधा चापि दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥43॥

एकः खेऽनेकधान्यत्र यथेन्दुर्वेद्यते जनैः ।

न तथा वेद्यते ब्रह्म भेदेभ्योऽन्यदभेदभाक् ॥44॥

शायद कहा जाये कि -

जैसे चंद्रमा एक होते हुए भी जल में प्रतिविम्ब पड़ने पर अनेक रूप दिखाई देता है उसी तरह एक ही ब्रह्म भिन्न भिन्न शरीरों में पाया जाने से अनेक रूप दिखाई देता है ॥43॥

किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे चन्द्रमा आकाश में एक और जल में अनेक दिखाई देता है, वैसे भेदों से जुदा एक ब्रह्म ज्ञानगोचर नहीं होता ॥44॥

अलमतिविस्तरेण।

अस्तु, अब इस प्रसंग को यहीं समाप्त करते हैं।

आनन्दो शानमैश्वर्य वीर्य परमसूक्ष्मता।

एतदात्यन्तिकं यत्र स मोक्षः परिकीर्तितः ॥45॥

ज्वालोरुवकबीजाद्रेः स्वभावादूर्ध्वगामिता ।

नियता च यथा दृष्टा मुक्तस्यापि तथात्मनः ॥46॥

तथाप्यत्र तदावासे पुण्यपापात्मनामपि ।

स्वर्गश्चभ्रागमो न स्यादलं लोकान्तरेण वे ॥47॥

मुक्त जीव का ऊर्ध्वगमन जहाँ पर अविनाशी सुख, ज्ञान, ऐश्वर्य, वीर्य और परम सूक्ष्मत्व आदि गुण पाये जाते हैं उसी को मोक्ष कहते हैं।

जैसे आग की ज्वाला और एरण्डके बीज स्वभाव से ही ऊपर को जाते हैं, उसी प्रकार मुक्तात्मा भी स्वभाव से ही ऊपर को जाता है।

यदि यही माना जाये कि मुक्त होने पर आत्मा यहीं रह जाता है कहीं जाता नहीं है, तो पुण्यात्माओं का स्वर्गगमन और पापात्माओं का नरक गमन भी नहीं होगा। फिर तो परलोक की कथा ही व्यर्थ हो जाती है। अतः मुक्तात्माको ऊर्ध्वगामी 'मानना चाहिए ॥45-47॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में समस्त मतों के सिद्धान्तों का ज्ञान कराने वाला पहला कल्प समाप्त हुआ।

आप्त स्वरूप की मीमांसा

ग्रन्थ :

अहो धर्माश्रयनकमते वसुमतीपते, सम्यक्त्वं हि नाम नराणां महती खलु पुरुषदेवता । यत्सकदेकमेव यथोक्तगुणप्रगुणतया संजातमशेषकल्मषकलुषधिषणतया नरकादिषु गतिषु, पुष्यदायुषामपि मनुष्याणां षट्सु तेलपातालेषु, भृष्टविधेषु व्यन्तरेषु, दशविधेषु भवनवासिषु, पञ्चविधेषु ज्योतिष्केषु, त्रिविधासु स्त्रीषु, विकलकरणेषु पृथ्वीपयःपावकपवनकायिकेषु वनस्पतिषु च न भवति संभूतिहेतुः । सावधिं विदधात्याजवंजवीभावं, नियमेन संपादयति कंचित्कालमुपलभ्यात्मनश्चाचारित्रे, साधुसंपादनसारः संस्कार इव 'बीजेषु जन्मान्तरेऽपि न जहात्यात्मनोऽनुवृत्तिम्, सिद्धश्चिन्तामणिरिव च फलत्यसीमं कामितानि। व्रतानि पुनरोषधय इव फलपाकावसानानि पाथेयवन्नियतवृत्तीनि च । न च सिद्धरसवेधसंबन्धादुर्षुर्बुधसंनिधानमात्रजन्मनि जाम्बुनद इवात्र पदार्थयाथात्म्यसमवगमान्मनोमननमात्रतन्त्रे निःशेषश्रुतश्रवणपरिश्रमः समाश्रयणीयः, न शरीरमायासयितव्यम्, न देशान्तरमनुसरणीयम्, नापि कालक्षेपकुतिरपेक्षितव्यः। तस्मादधिष्ठानमिव प्रासादस्य, सौभाग्यमिव रूपसंसदः, प्राणितमिव भोगायतनोपचारस्य, मूलबलमिव विजयप्राप्तः, विनीतत्वमिवाभिजात्यस्य, नयानुष्ठानमिव राज्यस्थितेरखिलस्यापि परलोकोदाहरस्य सम्यक्त्वमेव ननु प्रथमं कारणं गृणन्ति गरीयांसः। तस्य चेदं लक्षणम् -

(अब ग्रन्थकार सम्यक्त्व का माहात्म्य और स्वरूप बतलाते हैं:-)

सम्यक्त्व का माहात्म्य धर्मप्रेमी राजन् ! सम्यक्त्व मनुष्यों का एक महती पुरुष देवता है अर्थात् देवता की तरह उनका रक्षक है। क्योंकि यदि अपने यथोक्त गुणों से समन्वित सम्यग्दर्शन एक बार भी प्राप्त हो जाता है तो समस्त पापों से कलुषित मति होने के कारण जिन पुरुषों ने नरकादिक गतियों में से किसी एक की आयु का बन्ध कर लिया है उन मनुष्यों का नीचे के छै नरकों में, आठ प्रकार के व्यन्तरीयों में, दस प्रकार के भवनवासियों में, पाँच प्रकारके ज्योतिषी देवों में, तीन प्रकार की स्त्रियों में, विकलेन्द्रियों में, पृथिवीकाय, जलकाय, तैजसकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय में जन्म नहीं होने देता। संसार को सान्त कर देता है। कुछ समय के पश्चात् उस आत्मा के सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र अवश्य प्रकट हो जाते हैं। जैसे, बीजों में अच्छी तरह से किया गया संस्कार बीजों की वृक्ष रूप पर्यायान्तर होने पर भी वर्तमान रहता है, उसी तरह सम्यक्त्व जन्मान्तर में भी आत्मा का अनुसरण करता है, उसे छोड़ता नहीं है। सिद्ध चिन्तामणि के समान असीम मनोरथों को पूर्ण करता है। व्रत तो औषधि वृक्षों की तरह (जो वृक्ष फलों के पकने के बाद नष्ट हो जाते हैं उन्हें औषधि वृक्ष कहते हैं) मोक्षरूपी फल के पकने तक ही ठहरते हैं तथा कलेवा की तरह नियत काल तक ही रहते हैं। (किन्तु सम्यक्त्व ऐसा नहीं है) पारे और अग्नि के संयोगमात्र से उत्पन्न होने वाले स्वर्ण की तरह, पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को जानकर उनमें मन को लगाने मात्र से प्रकट होने वाले सम्यक्त्व के लिए न तो समस्त श्रुत को सुनने का परिश्रम ही करना आवश्यक है, न शरीर को ही कष्ट देना चाहिए, न देशान्तर में भटकना चाहिए और न काल की ही अपेक्षा करनी चाहिए। अर्थात् सम्यक्त्व के लिए किसी काल-विशेष या देश-विशेष की आवश्यकता नहीं है। सब देशों और सब कालों में वह हो सकता है। इसलिए जैसे नींव को महल का, सौभाग्य को रूप सम्पदा का, जीवन को शारीरिक सुख का, मूल बल को विजय का, विनम्रता को कुलीनता का, और नीति पालन को राज्य की स्थिरता का मूल कारण माना जाता है वैसे ही महात्मागण सम्यक्त्व को ही समस्त पारलौकिक अभ्युन्नति का अथवा मोक्ष का प्रथम कारण कहते हैं। उस सम्यक्त्व का लक्षण इस प्रकार है - सम्यग्दर्शन का लक्षण -

आप्तागमपदार्थानां श्रद्धानं कारणद्वयात् ।

मूढाद्यपोढमष्टाङ्गं सम्यक्त्वं प्रशमादिभाक् ॥48॥

अन्तरंग और बहिरंग कारणों के मिलने पर आप्त (देव), शास्त्र और पदार्थों का तीन मूढता रहित, आठ अङ्ग सहित जो श्रद्धान होता है, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं, यह सम्यग्दर्शन प्रशम संवेग आदि गुणवाला होता है ॥48॥

(भावार्थ - सम्यग्दर्शन या सम्यक्त्व अन्तरंग और बहिरंग कारणों के मिलनेपर प्रकट होता है। इसका अन्तरंग कारण तो दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम क्षय अथवा क्षयोपशम है। मोहनीय कर्म के भेदों मेंसे दर्शन मोहनीय कर्म सम्यक्त्व गुण का घातक है। जब तक इस कर्म का उदय रहता है तब तक सम्यक्त्व गुण प्रकट नहीं होता। जब उस कर्म का उपशम कर दिया जाता है अर्थात् कुछ समय के लिए उसे इस योग्य कर दिया जाता है कि वह अपना फल नहीं दे सकता तब जीव के प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्रकट होता है। इसके प्रकट होते ही जीव की अन्तर्दृष्टि में ऐसी निर्मलता आ जाती है कि वह अपने सच्चे हित और सच्चे हितकारी को पहचानने में भूल नहीं करता। सच्चा

देव कौन है, सच्चे शास्त्र कौन हैं और सच्चे तत्त्व कौन हैं, इसकी उसे परख हो जाती है और उनपर वह ऐसी दृढ़ आस्था रखता है कि कोई उसे उसकी आस्था से विचलित नहीं कर सकता। साथ-साथ सम्यक्त्वके प्रभाव से उसके अन्दर प्रशम आदि अनेक गुण प्रकट होते हैं। काम क्रोधादि विकारों से उसकी रुचि हट जाती है। जो उसको हानि पहुँचाते हैं उन जीवों को भी सताने के उसके भाव नहीं होते। यह प्रशम गुण कहलाता है। धर्माचरण करने में उसे खूब उत्साह रहता है और जो अन्य धर्मात्मा होते हैं उनसे वह खूब प्रेम करता है। यह संवेग गुण कहलाता है। सब जीवों से वह मित्र की तरह व्यवहार करता है। इसे अनुकम्पा कहते हैं। जीव एक स्वतः सिद्ध पदार्थ है। वह अनादिकालसे कर्मों से बद्ध है। वह उनका कर्ता भी है और भोक्ता भी है। और जब वह उन कर्मों को नष्ट कर देता है तो मुक्त हो जाता है इस तरह का उसे विश्वास रहता है। इसे आस्तिक्य कहते हैं। असल में सम्यक्त्व आत्मा का गुण है, और वह गुण दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से अनादिकालसे मिथ्यारूप हो रहा है। उसके मिथ्यारूप होनेसे जीव की रुचि विषय भोग वगैरह बुरे कामों में तो लगती है, किन्तु जिनसे उसका सच्चा और स्थायी कल्याण होता है उन कार्यों में या कार्यों का उपदेश देने वालों में नहीं होती। जब काललब्धि वगैरह का योग मिल जाता है और संसार समुद्र का किनारा करीब आने को होता है तब विना प्रयत्न किये ही अन्तर्मुहर्त के लिए दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम हो जाने से उपशम सम्यक्त्व प्रकट हो जाता है। इसमें बाह्य निमित्त अनेक होते हैं। किन्हीं को जिन विम्ब के दर्शन से सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है। किन्हीं को जिन भगवान की महिमा के देखने से सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है। किन्हीं को जैन धर्मका उपदेश सुनने से सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है। किन्हीं देवताओं को अन्य देवताओं का ऐश्वर्य देखकर और उसे धर्म का फल समझने से सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है। किन्हीं को पूर्व जन्म का स्मरण हो जाने से सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है और किन्हीं नारकी वगैरह को कष्ट भोगने से सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है। अन्य भी अनेक बाह्य कारण शास्त्रों में बतलाये हैं। इन अन्तरंग और बाह्य कारणों के मिलने पर सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है। जैसे शराब या धतूरे के नशे से बेहोश मनुष्य का जब नशा उतर जाता है तो उसे जैसा होश होता है, वैसे ही दर्शन मोहनीय के उदय से जीव में एक विचित्र प्रकार का नशा-सा छाया रहता है, जिससे उसे बराबर बुद्धि भ्रम बना रहता है। अनेक शास्त्रों का पण्डित हो जाने पर भी उसकी बुद्धि का भ्रम दूर नहीं होता। किन्तु जैसे ही दर्शन मोह का उदय शान्त हो जाता है वैसे ही उसका वह बुद्धि भ्रम हट जाता है और उसकी दृष्टि ठीक दिशा में लग जाती है। इसी से उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं। (सम्यग्दर्शन के विषयभूत देव आप्त वगैरह का तथा आठ अंगों का स्वरूप आगे ग्रन्थकार स्वयं बतलायेंगे।)

आप्त का स्वरूप

सर्वज्ञं सर्वलोकेशं सर्वदोषविवर्जितम् ।

सर्वसत्त्वहितं प्राहुराप्तमाप्तमतोचिताः ॥49॥

ज्ञानवान्मृग्यते कश्चित्तदुक्तप्रतिपत्तये।

अज्ञोपदेशकरणे विप्रलम्भनशङ्किभिः ॥50॥

जो सर्वज्ञ है, समस्त लोकों का स्वामी है, सब दोषों से रहित है और सब जीवों का हितू है, उसे आप्त कहते हैं। चूंकि यदि अज्ञ मनुष्य उपदेश दे तो उससे ठगाये जाने की शंका रहती है, इसलिए मनुष्य उपदेश के लिए ज्ञानी पुरुष की ही खोज करते हैं, क्योंकि उसके द्वारा कही गई बातों पर विश्वास करने के लिए किसी ज्ञानी को ही खोजा जाता है ॥49-50॥

(ऊपर आप्त को समस्त लोकों का स्वामी बतलाया है। किन्तु जैन-धर्म में आप्त को न तो ईश्वर की तरह जगत् का कर्ता-हर्ता माना गया है और न उसे सुख-दुःख का देने वाला ही माना गया है। ऐसी स्थिति में यह शङ्का होना स्वाभाविक है कि आप्त को सब लोगों का स्वामी क्यों बतलाया ? इसी बात को मन में रखकर ग्रन्थकार कहते हैं-)

यस्तत्त्वदेशनाद्दुःखवार्थरुद्धरते जगत् ।

कथं न सर्वलोकेशः प्रह्वीभूतजगत्त्रयः ॥51॥

जो तत्त्वों का उपदेश देकर दुःखों के समुद्र से जगत् का उद्धार करता है, अत एव कृतज्ञतावश तीनों लोक जिसके चरणों में नत हो जाते हैं, वह सर्व-लोकों का स्वामी क्यों नहीं है ? ॥51॥

क्षुत्पिपासाभयं द्वेषश्चिन्तनं मूढतागमः।

राँगो जरा रुजा मृत्युः क्रोधः खेदो मदो रतिः ॥52॥

विस्मयो जननं निद्रा विषादोऽष्टादश ध्रुवाः।

त्रिजगत्सर्वभूतानां दोषाः साधारणा इमे ॥53॥

एभिर्दोषैर्विनिर्मुक्तः सोऽयमाप्तो नीरञ्जनः ।

स एव हेतुः सूक्तीनां केवलज्ञानलोचनः ॥54॥

रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा वाक्यमुच्यते छनृतम् ।

यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतकारणं नास्ति ॥ 55॥

भूख, प्यास, भय, द्वेष, चिन्ता, मोह, राग, बुढ़ापा, रोग, मृत्यु, क्रोध, खेद, मद, रति, आश्चर्य, जन्म, निद्रा और खेद ये अठारह दोष संसार के सभी प्राणियों में पाये जाते हैं। जो इन दोषों से रहित है वही आप्त है। उसकी आँखें केवल ज्ञान है उसीके द्वारा वह चराचर विश्व को जानता है तथा वही सदुपदेश का दाता है। वह जो कुछ कहता है सत्य कहता है, क्योंकि राग से, द्वेष से या मोह से झूठ बोला जाता है। किन्तु जिसमें ये तीनों दोष नहीं हैं, उसके झूठ बोलने का कोई कारण नहीं है ॥52-55॥

उच्चावचप्रसूतीनां सत्त्वानां सदृशाकृतिः।

य श्रादर्श इवाभाति स एव जगतां पतिः ॥५६॥

विविध प्रकार के प्राणियों की शकल-सूरत समान होती है। किन्तु उनमें से जिसका आत्मा दर्पण के समान स्वच्छ हो वही जगत् का स्वामी है ॥56॥

यस्यात्मनि श्रुते तत्त्वे चारित्रे मुक्तिकारणे ।

एकवाक्यतया वृत्तिराप्तः सोऽनुमतः सताम् ॥57॥

जिसकी आत्मा में, श्रुति में, तत्त्व में और मुक्ति के कारणभूत चारित्र में एकवाक्यता पाई जाती है **अर्थ**ात् जो जैसा कहता है वैसा ही स्वयं आचरण करता है और वैसी ही तत्त्व व्यवस्था भी उपलब्ध होती है , उसे सज्जन पुरुष आप्त मानते हैं ॥57॥

(इस पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि जिन पुरुषों को आप्त माना जाता है वे तो गुजर चुके । हम कैसे जानें कि वे आप्त थे ? इसका उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं -)

अत्यतेप्यागमात्पुंसि विशिष्टत्वं प्रतीयते ।

उद्यानमध्यवृत्तीनां ध्वनेरिव नगौकसौम् ॥58॥

अतीन्द्रिय पुरुष की विशिष्टता उसके द्वारा उपदिष्ट आगम से जानी जाती है। जैसे , बगीचे में रहने वाले पक्षियों की आवाज से उनकी विशिष्टता का भान होता है। **अर्थ**ात् पक्षियों को बिना देखे भी जैसे उनकी आवाज से उनकी पहचान हो जाती है, वैसे ही आप्त पुरुषों को बिना देखे भी उनके शास्त्रों से उनकी आप्तता का पता चल जाता है ॥58॥

स्वगुणैः श्लाघ्यतां ग्राति स्वदोषैर्दूष्यतां जनः ।

रोषतोषौ वृथा तत्र कलधौयसोरिव ॥59॥

चाँदी और लोह की तरह मनुष्य अपने ही गुणों से प्रशंसा पाता है और अपने ही दोषों से बदनामी उठाता है। इसमें रोष और तोष करना **अर्थ**ात् अपने आप्त को प्रशंसा सुनकर हर्षित होना और निन्दा सुनकर क्रुद्ध होना व्यर्थ है ॥59॥

द्रुहिणो धोक्षजेशानशाक्यसूरपुरःसराः ।

यदि रागाद्यधिष्ठानं कथं तत्राप्तता भवेत् ॥60॥

रागादिदोषसंभूतिज्ञेयामीषु तदार्गमात् ।

असतः परदोषस्य गृहीतौ पातकं महत् ॥61॥

ब्रह्मा, विष्णु, महेश, बुद्ध और सूर्य वगैरह देवता यदि रागादिक दोषोंसे युक्त हैं तो वे आप्त कैसे हो सकते हैं ? और वे रागादि दोषों से युक्त हैं यह बात उनके शास्त्रों से ही जाननी चाहिए, क्योंकि जिसमें जो दोष नहीं है उसमें उस दोष को मानने में बड़ा पाप है ॥60-61॥

अजस्तिलोत्तमाचित्तः श्रीरतः श्रीपतिः स्मृतः ।

अर्धनारीश्वरः शंभुस्तथाप्येषां किलाप्तता ॥62॥

वसुदेवः पिता यस्य सवित्री देवकी हरेः॥

स्वयं च राजधर्मस्थश्चित्रं देवस्तथापि सः ॥63॥

त्रैलोक्यं जठरे यस्य यश्च सर्वत्र विद्यते ।

किमुत्पत्तिविपत्ती स्तां क्वचित्तस्येति चिन्त्यताम् ॥64॥

देखो, ब्रह्मा तिलोत्तमा में आसक्त हैं, विष्णु लक्ष्मी में लीन हैं और महेश तो अर्धनारीश्वर प्रसिद्ध ही हैं। आश्चर्य है, फिर भी इन्हें आप्त माना जाता है। विष्णु के पिता वसुदेव थे, माता देवकी थी, और वे स्वयं राजधर्मका पालन करते थे। आश्चर्य है, फिर भी वे देव माने जाते हैं। सोचनेकी बात है कि जिस विष्णु के उदर में तीनों लोक बसते हैं और जो सर्वव्यापी है, उसका जन्म और मृत्यु कैसे हो सकते हैं ? ॥

62-64॥

कपर्दी दोषवानेष निःशरीरः सदाशिवः।

अप्रामाण्यादशक्तश्च कथं तत्रागमागमः ॥65॥

परस्परविरुद्धार्थमीश्वरः पञ्चभिर्मुखैः ।

शास्त्रं शास्ति भवेत्तत्र कतमार्थविनिश्चयः ॥66॥

महेश को अशरीरी और सदाशिव मानते हैं, और वह दोषों से भी युक्त है। ऐसी अवस्था में न तो वह प्रमाण माना जा सकता है और न वह कुछ उपदेश ही दे सकता है; क्योंकि वह दोषयुक्त है और शरीर से रहित है। तब उससे आगम की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?, जब शिव पाँच मुखों से परस्पर में विरुद्ध शास्त्रों का उपदेश देता है तो उनमें से किसी एक **अर्थ** का निश्चय करना कैसे संभव है ॥65-66॥

सदाशिवकला रुद्रे यद्यायाति युगे युगे ।

कथं स्वरूपभेदः स्यात्काञ्चनस्य कलास्विव ॥67॥

कहा जाता है कि प्रत्येक युग में रुद्र में सदाशिव की कला अवतरित होती है। किन्तु जैसे सुवर्ण और उसके टुकड़ों में कोई भेद नहीं किया जा सकता, वैसे ही अशरीरी सदाशिव और सशरीर रुद्र में कैसे स्वरूप भेद हो सकता है ॥67॥

(भावार्थ - शिव या रुद्र की उपासना वैदिक काल से भी पूर्व से प्रचलित बतलाई जाती है। शैवों के चार विभिन्न सम्प्रदाय हैं—शैव, पाशुपत, कालमुख और कापालिक। इन्हीं के मूल ग्रन्थों को शैवागम के नामसे पुकारते हैं। इन शैव मतों का प्रचार भिन्न-भिन्न प्रान्तों में था। शैव सिद्धान्त का प्रचार तमिल देश में और वीर शैव मतका प्रचार कर्नाटक प्रान्त में था। पाशुपत मत का केन्द्र गुजरात और राजपूताना था। कहा जाता है कि शिवने अपने भक्तों के उद्धारके लिए अपने पाँच मुखोंसे 28 तंत्रोंका आविर्भाव किया। इनमें 10 तंत्र द्वैतमूलक हैं और 18 द्वैताद्वैत प्रधान हैं। देवताके स्वरूप, गुण, कर्म आदिका जिसमें चिन्तन हो तद्विषयक मंत्रोंका उद्धार किया गया हो, उन मंत्रोंको यंत्रमें रखकर देवता का ध्यान तथा उपासना के पाँचों अंग व्यवस्थित रूपसे दिखलाये गये हों, उन ग्रन्थोंको तंत्र कहते हैं। तंत्रों की विशेषता क्रिया है। तांत्रिक आचार एक रहस्यपूर्ण व्यापार है। गुरु के द्वारा दीक्षा ग्रहण करने के समय ही शिष्य को इसका रहस्य समझाया जाता है। शैव सिद्धान्त में चार पाद हैं—विद्यापाद, क्रियापाद, योगपाद और चर्यापाद। इनमें से अन्त के तीन पाद क्रिया परक हैं और विद्यापाद तत्त्वज्ञान से सम्बन्ध रखता है। विद्या **अर्थ**ात् ज्ञान के तीन विषय हैं -पति अर्थात् स्वतंत्र शिव अथवा परमेश्वर तत्त्व, पशु अर्थात् परतंत्र जीव और पाश अर्थात् बन्धके कारण। मुक्त जीव भी परमेश्वर के परतंत्र रहते हैं। यद्यपि पशुओं की अपेक्षा उनमें स्वतंत्रता रहती है फिर भी वे परमेश्वर के प्रसाद से ही मुक्ति लाभ करने में समर्थ होते हैं, इसलिए वे शिव के परतंत्र हैं। शिव नित्य मुक्त है। उसका शरीर पञ्चमंत्रात्मक है। वह पाँच मुखों के द्वारा पाँच आम्नायों का प्रवर्तन कर्ता है। इसी बात को लेकर ग्रन्थकार ने ऊपर शैव मत की आलोचना की है। जब शिव को उपास्य और उपासक रूप से क्रीड़ा करने की इच्छा उत्पन्न होती है तब परम शिव में कम्पन उत्पन्न होता है और उससे वह दो रूप हो जाता है—चैतन्यात्मक रूपका नाम शिव और दूसरे अंशका नाम जीव होता है। शैव सिद्धान्त के अनुसार शिव, शक्ति और बिन्दु ये तीन रत्न माने जाते हैं। ये ही समस्त तत्त्वों के अधिष्ठाता हैं। शुद्ध जगत्का कर्ता शिव, करण शक्ति और उपादान बिन्दु है। शक्ति परम शिव से अभिन्न होकर रहने वाला विशेषण है। न तो शिव शक्ति से भिन्न है न शक्ति शिव से भिन्न है। शक्ति के क्षोभ मात्र से परम शिव के दो रूप हो जाते हैं एक उपास्य रूप, जिसका नाम है लिंग [शिव] और दूसरा उपासक रूप, जिसका नाम है 'अंग' [जीव]। परम शिव की द्विरूपता के समान शक्ति में भी दो रूप उत्पन्न होते हैं, लिंग की शक्ति का नाम 'कला' है जो प्रवृत्ति उत्पन्न करती है। कला

शक्ति से जगत् परम शिव से प्रकट होता है । सदाशिव की यह कला रुद्रों में अवतरित होती है जो भिन्न भिन्न रूप वाले होते हैं ।)

भैक्षनर्तननग्नत्वं पुरत्रयविलोपनम् ।

ब्रह्महत्याकपालित्वमेताः क्रीडाः किलेश्वरे ॥68॥

भिक्षा माँगना, नाचना, नग्न होना, त्रिपुर को भस्म करना, ब्रह्म हत्या करना और हाथ में खप्पर रखना ये सदाशिव ईश्वर की क्रीड़ाएँ हैं ॥ 68॥

(भावार्थ – शिव का हाथ में खप्पर लेकर भिक्षा माँगना, नंगे घूमना और ताण्डव नृत्य करना तो प्रसिद्ध ही है । शिव की उपासना भी इसी प्रकार से की जाती है। साधक को महेश्वर की पूजा के समय हंसना, गाना, नाचना, जीभ और तालु के संयोग से बैल की आवाज के समान हुडहुड़ शब्द करना होता है। इसी के साथ भस्म स्नान, भस्म शयन, जप और प्रदक्षिणा को पंचविध व्रत कहते हैं। ये सब कार्य शिव को बहुत प्रिय बतलाये जाते हैं । त्रिपुर को भस्म करने की कथा निम्न प्रकार है- एक बार इन्द्र के साथ सब देवता महेश्वर के पास आये और कहने लगे कि बाण नामका एक दानव है उसका त्रिपुर नाम का नगर है। उससे डरकर हम आपकी शरणमें आये हैं, आप हमारी रक्षा करें। शिवजीने उन्हें रक्षाका आश्वासन दिया और यह विचारने लगे कि त्रिपुर को कैसे नष्ट करना चाहिये । शिवजी ने नारदजी को बुलाया और उनसे कहा कि हे नारद ! तुम दानवेन्द्र बाणके त्रिपुर नगरको जाओ । वहाँ की स्त्रियों के तेज से वह नगर आकाश में डोलता है। तुम वहाँ जाकर उनकी बुद्धि विपरीत कर दो। नारद ने वहाँ जाकर अपने मिथ्या उपदेश से वहाँ की स्त्रियों का मन पति व्रत धर्म से विचलित कर दिया। इससे उनका तेज जाता रहा और पुर में छिद्र हो गया । तब शिवजी ने त्रिपुर को अपने बाण से जला डाला। इसके जलने का दर्दनाक चित्रण मत्स्य पुराण में है। ब्रह्म हत्या की कथा इस प्रकार है- ब्रह्मा के गर्दभकी तरह पाँचवाँ मुख था । जब दैत्य लोग देवों से डरकर भागने लगे तो ब्रह्मा ने कहा- क्यों डरकर भागते हो ? मैं सब सुरों को खा डालूँगा।' इससे डरकर देवता गण विष्णु की शरण में पहुँचे और उनसे प्रार्थना की कि आप ब्रह्मा का मुख काट डालें। विष्णु बोले-'यदि मैं ब्रह्मा का मुख काट डालूँगा तो उसी समय वह कटा सिर सचराचर जगत् का संहार कर डालेगा। तुम शिवजीके पास जाओ। देवता शिवजी के पास गये और शिवजी ने अपने नखों से ब्रह्मा के उस पाँचवें मुखको काट डाला। इस पर ब्रह्मा ने कहा-तुमने बिना किसी अपराध के मेरा सिर काटा है, मैं तुम्हें शाप देता हूँ तुम ब्रह्म हत्या से पीड़ित होकर भूतल पर हाथ में खप्पर लेकर भटकते फिरोगे। इस शापसे शिवजी हाथमें खप्पर लेकर घूमने लगे । एक दिन वे नारायण के पास भिक्षाके लिए गये । विष्णु ने अपने नखों से अपने पार्श्व को चीर डाला और रक्त को बड़ी भारी धारा बह निकली किन्तु खप्पर नहीं भरा । जब विष्णु ने इसका कारण पूछा तब शिवजी ने ब्रह्म हत्या करने का सब हाल उनसे कहा और बोले कि मैं जहाँ-जहाँ जाता हूँ वहाँ यह कपाल मेरे साथ जाता है । तब विष्णु बोले तुम स्थान-स्थान पर जाकर ब्रह्मा की इच्छा पूर्ण करो । उसके तेज से यह कपाल ठहर जायेगा । तब शिवजी ने वैसा ही किया और विष्णु के प्रसाद से वह कपाल सहस्र खण्ड होकर फूट गया। और शिवजी ब्रह्म हत्याके पाप से मुक्त हो गये।' इस तरह की बातें किसी ईश्वर में कैसे पाई जा सकती हैं।)

सिद्धान्तेऽन्यत्प्रमाणेऽन्यदन्यत्काव्येऽन्यदीहिते ।

तत्त्वमाप्तस्वरूपं च विचित्रं शैवदर्शनम् ॥69॥

शैव दर्शन में तत्त्व और आप्त का स्वरूप सिद्धान्त रूप में कुछ अन्य है, प्रमाणित कुछ अन्य किया जाता है, काव्य में कुछ अन्य है और व्यवहार में कुछ अन्य है। शैव दर्शन भी बड़ा विचित्र है ॥69॥

एकान्तः शपथश्चैव वृथा तत्त्वपरिग्रहे ।

सन्तस्तत्त्वं न हीच्छन्ति परप्रत्ययमात्रतः ॥70॥

दाहच्छेदकषाऽशुद्धे हेम्नि का शपथक्रिया ।

दाहच्छेदकषाशुद्धे हेम्नि का शपथक्रिया ॥71॥

यदृष्टमनुमानं च प्रतीति लौकिकी भजेत् ।

तदाहुः सुविदस्तत्त्वं रहः कुहकवर्जितम् ॥72॥

तत्त्व को स्वीकार करने में एकान्त और कसम खाना दोनों ही व्यर्थ हैं । विवेकशील पुरुष दूसरों पर विश्वास करके तत्त्व को स्वीकार नहीं करते । तपाने, काटने और कसौटी पर घिसने से जो सोना अशुद्ध ठहरता है, उसके लिए कसम खाना बेकार है। तथा तपाने, काटने और

कसौटी पर घिसने से जो सोना खरा निकलता है उसके लिए कसम खाने से क्या लाभ ? जो प्रत्यक्ष, अनुमान और लौकिक अनुभव से ठीक प्रमाणित होता है, और गोप्यता तथा माया छल से रहित होता है विद्वान लोग उसीको यथार्थ तत्त्व मानते हैं ॥70-72॥

(इस प्रकार शैव मत की आलोचना करके ग्रन्थकार शाक्त मत की आलोचना करते हैं। यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि शैवदर्शन और शाक्त दर्शन का पारस्परिक सम्बन्ध आत्मा और शरीर जैसा है। दोनों के सिद्धान्त लगभग मिलते हुए हैं। शैव दर्शन में पूर्ण शिव भाव को प्रकट करने के तीन उपाय बतलाये हैं शांभव उपाय - इसमें पूर्ण अनुभवी गुरु से दीक्षा ली जाती है और उसी से स्वरूप का भान प्रकट होता है। शाक्त उपाय - इसमें दीक्षा के क्रम से प्राप्त हुए मंत्र को भावना के द्वारा सिद्धि करके स्वरूप का भान करने का क्रम बतलाया है। आणव उपाय - इसमें बद्ध जीव का दीक्षा क्रम के द्वारा शोधन करके जप, होम, पूजन, ध्यान वगैरह क्रियाकाण्ड के द्वारा स्वरूप का भान करने की पद्धति होती है। इन तीन उपायों में से दूसरे और तीसरे उपाय का वर्णन करने में शैव दर्शन शाक्त दर्शन रूप ही पड़ता है। शाक्त दर्शन का मुख्य प्रयोजन शब्द ब्रह्म को ज्ञान की मर्यादा में लाना है। इसमें यन्त्र तन्त्र और मंत्रकी बहुतायत होती है। इष्ट देवता के स्वरूप को मर्यादा में अंकित करने वाली बाह्य प्राकृति को यंत्र कहते हैं। उस देवता के नाम, रूप, गुण और कर्म को लेकर पूजन वगैरह की पद्धति का वर्णन करने वाले शास्त्र को तन्त्र कहते हैं और उसके रहस्य के बोधक शब्दों को मंत्र कहते हैं। यहाँ ग्रन्थकार तन्त्र मंत्र से मुक्ति होने के विचार की आलोचना करते हैं-यहाँ इतना और बतला देना आवश्यक है कि तंत्र साधना में स्त्री एक आवश्यक साधन माना जाता है। और मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन इन पाँच मकारों का सेवन भी किया जाता है।)

निर्बीजतेव तन्त्रेण यदि स्यान्मुक्तताङ्गिनि ।

बीजवत्पावकस्पर्शः प्रणेयो मोक्षकाक्षिणि ॥73॥

जैसे अग्नि के स्पर्श से बीज निर्बीज हो जाता है उसमें उत्पादन शक्ति नहीं रहती, वैसे ही यदि तंत्र के प्रयोग से ही प्राणी की मुक्ति हो जाती है तो मुक्ति चाहने वाले मनुष्य को भी आग का स्पर्श करा देना चाहिए जिससे बीज की तरह वह भी जन्म मरण के चक्र से छूट जाये ॥73॥

विषसामर्थ्यवन्मन्त्रात्तयश्चेदिह कर्मणः ।

तर्हि तन्मन्त्रमान्यस्य न स्युर्दोषा भवोद्भवाः ॥74॥

जैसे, मंत्र के द्वारा विष की मारण शक्ति को नष्ट कर दिया जाता है, वैसे ही मंत्र के द्वारा यदि कर्मों का भी क्षय हो जाता है तो उन मंत्रों के जो मान्य हैं उनमें सांसारिक दोष नहीं पाये जाने चाहिये ॥74॥

(इस प्रकार शाक्त मत की आलोचना करके ग्रन्थकार सूर्य पूजा की आलोचना करते हैं)

ग्रहगोत्रगतोऽप्येष पूषा पूज्यो न चन्द्रमाः ।

अविचारिततत्त्वस्य जन्तोवृत्तिनिरङ्कशा ॥75॥

ग्रहों के कुल का होने पर भी यह सूर्य तो पूज्य हैं और चन्द्रमा पूज्य नहीं हैं ? ठीक ही है जिस जीव ने तत्त्वका विचार नहीं किया, उसकी वृत्ति निरंकुश होती है ॥75॥

(अब बौद्ध-मत की आलोचना करते हैं-)

द्वताद्वैताश्रयः शाक्यः शंकरानुकृतागमः।

कथं मनीषिभिर्मन्यस्तरसासवशक्तधी ॥76॥

बौद्धमत एक ओर द्वैतवादी है अर्थात् संयम और भक्ष्याभक्ष्य आदि का विचार करता है और दूसरी ओर अद्वैतवादी है, अर्थात् सर्व कुछ सेवन करने की छूट देता है। उसी के आगम का अनुकरण शंकराचार्य ने किया है। ऐसा मद्य और मांस का प्रेमी मत बुद्धिमानों के द्वारा मान्य कैसे हो सकता है ? ॥७६॥

(इस प्रकार अन्य मतों की समीक्षा करने पर उन मतों के अनुयायी कहते हैं-)

अथैवं प्रत्यवतिष्ठासवो-भवतां समये किल मनुजः सन्नाप्तो भवति तस्य चाप्ततातीव दुर्घटा संप्रति संजातजनवद् भवतु वा, तथापि मनुष्यस्याभिलषिततत्त्वावबोधो न स्वतस्तथा दर्शनाभावात् । परश्चेत्कोऽसौ परः ? तीर्थकरोऽन्यो वा ? तीर्थकरश्चेत्तत्राप्येवं पर्यनुयोगे प्रकृतमनुबन्धे । तस्मादनवस्था । तदभावमाप्तसद्भावं च वाञ्छद्भिः सदाशिवः शिवापतिर्वा तस्य तत्त्वोपदेशकः प्रतिश्रोतव्यः । तदाह

पतञ्जलि:- "स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् । " तथा हि ।

आप जैनों के आगम में मनुष्य को आप्त माना है। किन्तु उसका आप्तपना किसी भी तरह नहीं बनता। आज भी लाखों करोड़ों मनुष्य वर्तमान हैं, किन्तु उनमें कोई भी आप्त नहीं देखा जाता। यदि किसी तरह मनुष्य को आप्त मान भी लिया जाये तो उसे इष्ट तत्त्व का ज्ञान स्वयं तो नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा नहीं देखा जाता। यदि दूसरे से ऐसा ज्ञान होता है तो वह दूसरा कौन है ? तीर्थकर है या अन्य कोई है ? यदि तीर्थकर है तो उसमें भी यही प्रश्न पैदा होता है। यदि तीर्थकर को इष्ट तत्त्व का ज्ञान किसी तीसरे के द्वारा होता है तो उस तीसरे को इष्ट तत्त्व का ज्ञान चौथे के द्वारा होगा और चौथे को इष्ट तत्त्व का ज्ञान पाँचवें के द्वारा होगा। इस तरह अनवस्था दोष आ जाता है। अतः यदि अनवस्था दोष से बचना चाहते हैं और साथ ही साथ आप्त का सद्भाव भी चाहते हैं तो तत्त्व के उपदेष्टा सदाशिव पार्वती पति को ही मानना चाहिये। पतञ्जलि ऋषि ने भी कहा है - 'वह पहलों के भी गुरु हैं, क्योंकि काल के द्वारा उनका नाश नहीं होता'। और भी कहा है -

अदृष्टविग्रहाच्छान्ताच्छिवात्परमकारणात् ।

नादरूपं समुत्पन्नं शास्त्रं परमदुर्लभम्" ॥77॥

अशरीरी, शान्त और परम कारण शिव से परम दुर्लभ नाद रूप शास्त्र की उत्पत्ति हुई ॥७७॥

तथाप्तेनैकेन भवितव्यम् । न ह्याप्तानामितरमाणिवद गणः समस्ति, संभवे वा चतुर्विंशतिरिति नियमः कौतस्कुत इति वन्ध्यास्तनंधयधैर्यव्यावर्णनमुदीर्णमोहार्णवविलयनं च परेषाम् । यतः

तथा आप्त एक ही होना चाहिये। अन्य प्राणियों के समूह की तरह आप्तों का समूह तो होता नहीं है। और यदि हो भी तो चौबीस संख्या का नियम कहाँ से आया ?'

इस प्रकार दूसरे मतवालों का उक्त कथन बन्ध्या के पुत्र के धैर्य की प्रशंसा करने के तुल्य व्यर्थ है, वे महान् मोह के समुद्र में डूबे हुए हैं, क्योंकि सदाशिव अशरीरी है अतः वह वक्ता नहीं हो सकता। और

वक्ता नैव सदाशिवो विकरणस्तस्मात्परो रागवान्

वैविध्यादपर तृतीयमिति चेत्तत्कस्य हेतोरभूत् ।

शक्त्या चेत्परकीयया कथमसौ तद्भानसंबन्धतः ।

संबन्धोऽपि न जाघटीति भवतां शास्त्रं निरालम्बनम् ॥78॥

शिव यद्यपि सशरीर हैं मगर वह रागी हैं - पार्वती के साथ रहते हैं, अतः उनका उपदेश प्रमाण नहीं माना जा सकता। यदि इन दोनों के सिवा किसी तीसरे को वक्ता मानते हो तो वह तीसरा किससे हुआ। यदि कहोगे कि शक्ति से हुआ, तो शक्ति तो भिन्न है, भिन्न शक्ति से वह शक्तिवान कैसे हो सकता है, क्योंकि उन दोनों का कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि सम्बन्ध मानोगे तो विचार करने पर उनका कोई सम्बन्ध भी नहीं बनता है, अतः आपका शास्त्र निराधार ठहरता है क्योंकि उसका कोई वक्ता सिद्ध नहीं होता ॥78॥

संबन्धो हि सदाशिवस्य शक्त्या सह न भिन्नस्य संयोगः शक्तरद्रव्यत्वात्, 'द्रव्ययोरेव संयोगः' इति योगसिद्धान्तः। 'समवायलक्षणोऽपि न संबन्धः शक्तः पृथक्सिद्धत्वात्, 'अयुतसिद्धानां गुणगुण्यादीनां समवायसंबन्धः' इति वैशेषिकमैतिह्यम् ।

सदाशिव का शक्ति के साथ संयोग सम्बन्ध तो हो नहीं सकता, क्योंकि शक्ति द्रव्य नहीं है और 'संयोग सम्बन्ध द्रव्यों का ही होता है' ऐसा यौगों का सिद्धान्त है। तथा समवाय सम्बन्ध भी नहीं हो सकता, क्योंकि शक्ति तो शिव से पृथक् सिद्ध है-जुदी है और 'जो पृथक् सिद्ध नहीं हैं ऐसे गुण गुणी वगैरह का ही समवाय सम्बन्ध होता है' ऐसा वैशेषिकों का मत है।

(भावार्थ - ऊपर शैवमतवादियों ने मनुष्य को आप्त मानने में आपत्ति दिखलाते हुए सदाशिव को ही आप्त और शास्त्र का उपदेष्टा मानने पर जोर दिया था। उसी का उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि सदाशिव तो अशरीरी है इसलिए वे वक्ता हो नहीं सकते, क्योंकि बोलने के लिए शरीरका होना जरूरी है उनके बिना शब्दकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि सशरीरी शिव को वक्ता माना जायेगा तो वह रागी हैं, पार्वती के साथ रहते हैं, अर्धनारीश्वर हैं, अतः उनका वचन प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। यदि किसी तीसरे को वक्ता माना जायेगा तो प्रश्न होता है कि वह तीसरा कहाँ से उत्पन्न हुआ। यदि कहा जायेगा कि शक्तिसे उत्पन्न हुआ तो शक्तिके साथ उसका सम्बन्ध बतलाना चाहिये। दो ही सम्बन्ध योग दर्शनमें माने गये हैं संयोग और समवाय। ये दोनों ही सम्बन्ध शक्ति और शक्तिमान्के बीच नहीं बनते; क्योंकि

संयोग दो द्रव्योंमें ही होता है किन्तु शक्ति द्रव्य नहीं है। तथा समवाय सम्बन्ध अभिन्नों में ही होता है किन्तु शक्ति शक्तिमान्से भिन्न है।) (इस प्रकार सदाशिववादियों के शास्त्र को निराधार बतलाकर ग्रन्थकार, मनुष्य को आप्त मानने में जो आपत्ति की गई है, उनका निराकरण करते हैं-)

तत्त्वभावनयोद्भूतं जन्मान्तरसमुत्थया।

हिताहितविवेकाय यस्य ज्ञानत्रयं परम् ॥79॥

दृष्टादृष्टमवैत्यर्थ रूपवन्तमथावधेः।

श्रुतेः श्रुतिसमाश्रेयं वासौ परमपेक्षताम् ॥80॥

पूर्व जन्म में उत्पन्न हुई तत्त्व भावना से, हित और अहित की पहचान करने के लिए उत्पन्न हुए जिसके तीन ज्ञान-मति, श्रुत और अवधि-दृष्ट और अदृष्ट अर्थको जानते हैं, उनमें भी अवधिज्ञान केवल रूपी पदार्थों को ही जानता है और श्रुतज्ञान शास्त्र में वर्णित विषयों को जानता है। ऐसी अवस्था में इष्ट तत्त्व को जानने के लिए उसे दूसरेकी अपेक्षा ही क्या रहती है ? ॥79-80॥

(भावार्थ – पहले शैवमतवादी ने मनुष्य को आप्त मानने में आपत्ति करते हुए कहा था कि मनुष्य को इष्ट तत्त्वका बोध यदि तीर्थङ्करके द्वारा होता है तो तीर्थङ्कर को इष्ट तत्व का ज्ञान किसके द्वारा होता है ? इसका परिहार करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि तीर्थङ्करके जन्म से ही तीन ज्ञान होते हैं। और वे तीनों ज्ञान पूर्व जन्म की भावना से उत्पन्न होते हैं, उनसे वह इष्ट तत्त्व को जान लेते हैं। बाद में मुनि होकर तपस्या के द्वारा कर्मों को नष्ट करके वे सर्वज्ञ हो जाते हैं। तब उन्हें इष्ट तत्त्व को जानने के लिए दूसरे से सहायता लेने की जरूरत ही क्या है ? वे स्वयं ही जानकर संसार के प्राणियों को तत्त्वों का उपदेश देते हैं। उनके उपदेश से अन्य मनुष्यों को इष्ट तत्त्व का ज्ञान हो जाता है।)

(आगे कहते हैं-)

न चैतदसर्वत्रिकम् । कथमन्यथा स्वत एव संजात षट् पदार्थावसायप्रसरे कणेचरे वाराणस्यां महेश्वरस्योलूकसायुज्यसरस्येदं वचः

संगच्छेत्- 'ब्रह्मैतुला नामेदं दिवौकसां दिव्यमद्भुतं ज्ञानं प्रादुर्भूतमिह त्वयि तद्वत्संविधत्स्व विप्रेभ्यः' ।

और यह बात कि तीर्थकर स्वयं ही इष्ट तत्त्व को जान लेते हैं, ऐसी नहीं है जिसे सब न मानते हों। यदि ऐसा नहीं है तो स्वतः ही छ पदार्थोंका ज्ञान होने पर कणाद-ऋषिके प्रति वाराणसी नगरी में उलूकका अवतार लेने वाले महेश्वर का यह कथन कैसे संगत हो सकता है — 'हे कणाद ! तुझे देवों के ब्रह्मतुला नाम के दिव्य ज्ञान की प्राप्ति हुई है इसे विप्रों को प्रदान कर । '

(भावार्थ-वैदिक पुराणों के अनुसार महेश्वर ने उल्लू का अवतार धारण करके कणाद ऋषि से उक्त बात कही थी। ऊपर शैवमतवादियों ने जैनों पर यह आपत्ति की थी कि दूसरे की सहायता के बिना तुम्हारे तीर्थकरों को ज्ञान कैसे होता है, उसीका निराकरण करते हुए ग्रन्थकार ने बतलाया है कि तुम्हारे मत में भी कणाद ऋषि को स्वयं छः पदार्थों का ज्ञान होने का उल्लेख है। अतः यह आपत्ति कि बिना अन्य की सहायता के ज्ञान नहीं हो सकता, निराधार है।)

उपाये सत्युपेयस्य प्राप्तेः का प्रतिबन्धिता।

पातालस्थं जलं यन्त्रात्करस्थं क्रियते यतः ॥81॥

साधन सामग्री के मिलने पर पाने योग्य वस्तु की प्राप्ति में रुकावट ही क्या हो सकती है ? क्योंकि यंत्र के द्वारा पाताल में भी स्थित जल प्राप्त कर लिया जाता है ॥81॥

अश्मा हेम जलं मुक्ता द्रुमो वह्निः क्षितिर्मणिः ।

तत्तद्भूततया भावा भवन्त्यद्भुतसंपदः ॥82॥

सर्गावस्थितिसंहारग्रीष्मवर्षातुषारवत् ।

अनाद्यनन्तभावोऽयमाप्तश्रुतसमाश्रयः ॥83॥

पत्थर से सोना पैदा होता है। जल से मोती बनता है। वृक्ष से आग पैदा होती है और पृथ्वी से मणि पैदा होती है। इस तरह अपने-अपने कारणों से अद्भुत सम्पदा उत्पन्न होती है। जैसे उत्पत्ति, स्थिति और विनाश की परम्परा अनादि-अनन्त है, या ग्रीष्म ऋतु, वर्षा ऋतु और शीत ऋतुकी परम्परा अनादि अनन्त है, वैसे ही आप्त और श्रुत की परम्परा भी प्रवाह रूप से चली आती है, न उसका आदि है और न

अन्त । आप्त से श्रुत उत्पन्न होता है और श्रुत से आप्त बनता है ॥82-83॥

(शैव मतवादी ने यह आपत्ति की थी कि आप्त बहुत से नहीं हो सकते और यदि हों भी तो चौवीस का नियम कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं-)

नियतं न बहुत्वं चेत्कथमेते तथाविधाः।

तिथिताराग्रहाम्भोधिभूभृत्प्रभृतयो मताः ॥84॥

यदि वस्तुओं का बहुत्व नियत न हो तो तिथि, तारा, ग्रह, समुद्र, पहाड़ वगैरह नियत क्यों माने गये हैं ? अर्थात् जैसे ये बहुत हैं फिर भी इनकी संख्या नियत है उसी तरह जैन तीर्थङ्करों की भी चौवीस संख्या नियत है ॥ 84॥

अनयैव दिशा चिन्त्यं सांख्यशाफ्यादिशासनम् ।

तत्त्वागमाप्तरूपाणां नानात्वस्याविशेषतः ॥85॥

इसी प्रकार से सांख्य और बौद्ध वगैरह के मतों का भी विचार कर लेना चाहिये। क्योंकि उनमें भी तत्त्व, आगम और आप्त के स्वरूपों में भेद पाया जाता है ॥85॥

जैनमेकं मतं मुक्त्वा द्वैताद्वैतसमाश्रयौ।

मार्गौसमाश्रिताः सर्वे सर्वाभ्युपगमागमाः ॥86॥

एक जैनमत को छोड़कर शेष सभी मतवालों ने या तो द्वैत मत को अपनाया है या अद्वैत मत को अपनाया है। और उनके आगमों में ऐसी बातें हैं जो सभी लोगों के द्वारा मान्य हैं ॥86॥

वामदक्षिणमार्गस्थो मन्त्रीतरसमाश्रयः ।

कर्मज्ञानगतो ज्ञेयः शंभुशाक्यद्विजागमः ॥87॥

शैवमत, बौद्धमत और ब्राह्मण मत वाममार्गी और दक्षिणमार्गी हैं, मंत्र तंत्र प्रधान भी हैं, तथा उसको न मानने वाले भी हैं और कर्मकाण्डी तथा ज्ञानकाण्डी हैं ॥87॥

(भावार्थ – शैवमत ब्राह्मण मत और बौद्धमत में उत्तर काल में वाम मार्ग भी उत्पन्न हो गया था, और वह वाम मार्ग मंत्र तंत्र प्रधान था तथा उसमें क्रिया काण्डका ही प्राधान्य था। दक्षिण मार्ग न तो मंत्र तंत्र प्रधान था और न क्रिया काण्ड को ही विशेष महत्त्व देता था। शैव मत का तो वाम मार्ग प्रसिद्ध है। बौद्ध मत के महायान सम्प्रदाय में से तांत्रिक वाम मार्ग का उदय हुआ था । वैसे बुद्ध के पश्चात् बौद्धमत हीनयान और महायान सम्प्रदायों में विभाजित हो गया था। इसी प्रकार वैदिक ब्राह्मण मत भी पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा के भेद से दो रूप हो गया था। पूर्व मीमांसा यज्ञ यागादि कर्म काण्ड प्रधान है, और उत्तर मीमांसा, जिसे वेदान्त भी कहते हैं, ज्ञान प्रधान है।)

(अब ग्रन्थकार मनुस्मृतिके दो पद्यों को देकर उसकी आलोचना करते हैं-)

यच्चैतत्

तथा (मनुस्मृति अ० 2 श्लोक 10-11 में) जो यह कहा है -

श्रुति वेदमिह प्रादुर्धर्मशास्त्रं स्मृतिर्मता।

ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ॥88॥

ते तु यस्त्ववमन्येत हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः।

स साधुभिर्बहिः कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥89॥

श्रुति को वेद कहते हैं और धर्म शास्त्र को स्मृति कहते हैं। उन श्रुति और स्मृति का विचार प्रतिकूल तर्कों से नहीं करना चाहिये क्योंकि उन्हीं से धर्म प्रकट हुआ है । जो द्विज युक्ति शास्त्र का आश्रय लेकर श्रुति और स्मृति का निरादर करता है, साधु पुरुषों को उसका बहिष्कार करना चाहिये; क्योंकि वेद का निन्दक होने से वह नास्तिक है ॥88-89॥

तदपि न साधु । यतः।

यह भी ठीक नहीं है क्योंकि--

समस्तयुक्तिनिर्मुक्तः केवलागेमलोचनः ।

तत्त्वमिच्छन्न कस्येह भवेद्वादी जयावहः ॥90॥

जो मतावलम्बी समस्त युक्तियों को छोड़कर केवल आगम के बल पर तत्त्व की सिद्धि करना चाहता है वह किसीको नहीं जीत सकता ॥ 90॥

(भावार्थ – मनुस्मृतिकार ने श्रुति और स्मृति में युक्ति लगाने का निषेध किया है किन्तु जैनाचार्य कहते हैं कि युक्ति के बिना केवल आगम से तत्त्व की सिद्धि नहीं हो सकती। यदि केवल आगम से ही तत्त्व की सिद्धि मानी जायेगी तब तो ऐसा व्यक्ति सबको जीत लेगा। अथवा सभी धर्म वाले अपने-अपने आगमों से अपने-अपने तत्त्व सिद्ध कर लेंगे। अतः युक्ति से नहीं घबराना चाहिए, जो बात विचार पूर्ण होती है उसे सब ही मानने को तैयार रहते हैं।)

सन्तो गुणेषु तुष्यन्ति नाविचारेषु वस्तुषु ।

पादेन तिप्यते ग्रावो रत्नं मौलौ निधीयते ॥91॥

श्रेष्ठो गुणैर्गृहस्थः स्यात्ततः श्रेष्ठतरो यतिः ।

यतेः श्रेष्ठतरो देवो न देवादधिकं परम् ॥92॥

गेहिना समवृत्तस्य यतेरप्यधरस्थितेः।

यदि देवस्य देवत्वं न देवो दुर्लभो भवेत् ॥93॥

सज्जन पुरुष गुणों से प्रसन्न होते हैं, अविचारित वस्तुओं से नहीं। देखो, पत्थर को पैर से ठुकराया जाता है और रत्न को मुकुट में स्थापित किया जाता है। अतः जो गुणों से श्रेष्ठ है वह गृहस्थ है, गृहस्थ से भी श्रेष्ठ यति है और यति से श्रेष्ठ देव है। किन्तु देव से श्रेष्ठ कोई नहीं है। जिसका आचरण गृहस्थ के समान है और जो यति से भी नीचे स्थित है, ऐसे देव को भी यदि देव माना जाता है तो फिर देवत्व दुर्लभ नहीं रहता ॥91-93॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में आप्त स्वरूप की मीमांसा नाम का दूसरा कल्प समाप्त हुआ।

आगम और तत्त्व की मीमांसा

कल्प - ३

ग्रन्थ :

(अब ग्रन्थकार आगम और तत्त्वकी मीमांसा करते हैं-)

देवमादौ परीक्षेत पश्चात्तद्वचनक्रमम् ।

ततश्च तदनुष्ठानं कुर्यात्तत्र मतिं ततः ॥94॥

येऽविचार्य पुनर्देवं रुचिं तद्वाचि कुर्वते ।

तेऽन्धास्तत्स्कन्धविन्यस्तहस्ता वाञ्छन्ति सद्गतिम् ॥95॥

पित्रोः शुद्धौ यथाऽपत्ये विशुद्धिरिह दृश्यते ।

तथाप्तस्य विशुद्धत्वे भवेदागमशुद्धता ॥96॥

सब से प्रथम देव की परीक्षा करनी चाहिए, पीछे उसके वचनों की परीक्षा करनी चाहिए। उसके बाद उसमें मन को लगाना चाहिए। जो लोग देव की परीक्षा किये बिना उसके वचनों का आदर करते हैं वे अन्धे हैं और उस देव के कन्धेपर हाथ रखकर सद्गति प्राप्त करना चाहते हैं। जैसे माता-पिता के शुद्ध होने पर सन्तान में शुद्धि देखी जाती है वैसे ही आप्त के विशुद्ध होने पर ही आगम में शुद्धता हो सकती है। अर्थात् यदि आप्त निर्दोष होता है तो उसके द्वारा कहे गये आगम में भी कोई दोष नहीं पाया जाता। अतः पहले आप्त या देव की परीक्षा करनी चाहिए, उसके बाद उसके वचनों को प्रमाण मानना चाहिए ॥94-96॥

वाग्विशुद्धापि दुष्टा स्याद् वृष्टिवत्पात्रदोषतः ।

वन्द्यं चस्तदेवोच्चस्तोयवत्तीर्थसंश्रयम् ॥97॥

जैसे वर्षा का पानी समुद्र में जाकर खारा हो जाता है या सांप के मुख में जाकर विषरूप हो जाता है, वैसे ही पात्र के दोष से विशुद्ध वचन भी दुष्ट हो जाता है। तथा जैसे तीर्थ का आश्रय लेने वाला जल पूज्य होता है वैसे ही जो वचन तीर्थकरों का आश्रय ले लेता है अर्थात्

उनके द्वारा कहा जाता है वही पूज्य होता है ॥ 97 ॥

दृष्टेऽर्थे वेचसोऽध्यक्षादनमेयेऽनुमानतः।

पूर्वापरविरोधेन परोक्षे च प्रमाणता ॥98॥

जो वचन ऐसे **अर्थ** को कहता है जिसे प्रत्यक्ष से देखा जा सकता है, उस वचन की प्रमाणता प्रत्यक्ष से साबित हो जाती है। जो वचन ऐसे अर्थ को कहता है जिसे अनुमान से ही जाना जा सकता है उस वचन की प्रमाणता अनुमान से साबित होती है। और जो वचन बिल्कुल परोक्ष वस्तु को कहता है, जिसे न प्रत्यक्ष से ही जाना जा सकता है और न अनुमान से, पूर्वापर में कोई विरोध न होने से उस वचन की प्रमाणता सिद्ध होती है। अर्थात् यदि उस वचन के द्वारा कही गई बातें आपस में कटती नहीं हैं, तो उस वचन को प्रमाण माना जाता है ॥ 98 ॥

(भावार्थ- शास्त्रों में बहुत सी ऐसी बातों का भी कथन पाया जाता है जिनके विषय में न युक्ति से काम लिया जा सकता है और न प्रत्यक्ष से, ऐसे कथन को सहसा अप्रमाण भी नहीं कहा जा सकता। अतः उन शास्त्रों की अन्य बातें, जो प्रत्यक्ष और अनुमान से जानी जा सकती हैं वे यदि ठीक ठहरती हैं और यदि उनमें परस्पर में विरोधी बातें नहीं कही गई हैं तो उन शास्त्रों के ऐसे कथन को भी प्रमाण ही मानना चाहिए ।)

पूर्वापरविरोधेन यस्तु युक्तया च बाध्यते ।

मत्तोन्मत्तवचःप्रख्यः स प्रमाणं किमागमः ॥99॥

जिस आगम में परस्पर में विरोधी बातों का कथन है और युक्ति से भी बाधा आती है, पागल की बकवाद के समान उस आगम को कैसे प्रमाण माना जा सकता है ॥99॥

आगम का स्वरूप और विषय

हेयोपादेयरूपेण चतुर्वर्गसमाश्रयात् ।

कालत्रयगतानर्थानामयन्नागमः स्मृतः ॥100॥

आत्माना त्मस्थितिलोको बन्धमोक्षौ सहेतुको ।

आगमस्य निगद्यन्ते पदार्थास्तत्त्ववेदिभिः ॥101॥

जो धर्म, **अर्थ**, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों का अवलम्बन लेकर, हेय और उपादेय रूप से त्रिकालवर्ती पदार्थों का ज्ञान कराता है उसे आगम कहते हैं ॥ 100 ॥ तत्त्व के ज्ञाताओं का कहना है कि आगम में जीव, अजीव, उनके रहने के स्थान, लोक तथा अपने-अपने कारणों के साथ बन्ध और मोक्ष का कथन होता है ॥101॥

(भावार्थ- जिसमें चारों पुरुषार्थों का वर्णन करते हुए यह बतलाया गया हो कि क्या छोड़ने योग्य है और कौन ग्रहण करने योग्य है वही सच्चा आगम है। उस आगम में जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों का वर्णन रहता है।)

प्रत्येक वस्तु उत्पाद-व्यय ध्रौव्यात्मक है

उत्पत्तिस्थितिसंहारसाराः सर्वे स्वभावतः ।

नयद्वयाश्रयादेते तरङ्गा इव तोयधेः ॥102॥

जैसे समुद्र में लहरें होती हैं वैसे ही सभी पदार्थ द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से स्वभाव से ही उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त होते हैं ॥102॥

(भावार्थ-जैन धर्म में प्रत्येक वस्तु को प्रति समय उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त माना है **अर्थ**ात् प्रत्येक वस्तु प्रति समय उत्पन्न होती है, नष्ट होती है और स्थिर भी रहती है। इस पर यह प्रश्न होता है कि ये तीनों बातें तो परस्पर में विरुद्ध हैं, अतः एक वस्तु में एक साथ वे तीनों बातें कैसे हो सकती हैं, क्योंकि जिस समय वस्तु उत्पन्न होती है उस समय वह नष्ट कैसे हो सकती है और जिस समय नष्ट होती है उसी समय वह उत्पन्न कैसे हो सकती है। तथा जिस समय नष्ट और उत्पन्न होती है उस समय वह स्थिर कैसे रह सकती है ? इसका समाधान यह है कि प्रत्येक वस्तु प्रति समय परिवर्तनशील है। संसारमें कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है। उदाहरण के लिए बच्चा जब जन्म लेता है तो छोटा सा होता है, कुछ दिनों के बाद वह बड़ा हो जाता है। उसमें जो बढ़ोतरी दिखाई देती है वह किसी खास समय में नहीं हुई है, किन्तु

बच्चे के जन्म लेने के क्षण से ही उसमें बढ़ोतरी प्रारम्भ हो जाती है और जब वह कुछ बड़ा हो जाता है तो वह बढ़ोतरी स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगती है। इसी तरह एक मकान सौ वर्ष के बाद जीर्ण होकर गिर पड़ता है। उसमें यह जीर्णता किसी खास समय में नहीं आई, किन्तु जिस क्षण से वह बनना प्रारम्भ हुआ था उसी क्षण से उसमें परिवर्तन होना प्रारम्भ हो गया था उसी का यह फल है जो कुछ समयके बाद दिखाई देता है। अन्य भी अनेक दृष्टान्त हैं जिनसे वस्तु प्रति समय परिवर्तनशील प्रमाणित होती है। इस तरह वस्तु के परिवर्तनशील होने से उसमें एक साथ तीन बातें होती हैं, पहली हालत नष्ट होती है और जिस क्षणमें पहली हालत नष्ट होती है उसी क्षणमें दूसरी हालत उत्पन्न होती है। ऐसा नहीं है कि पहली हालत नष्ट हो जाये उसके बाद दूसरी हालत उत्पन्न हो । पहली हालत का नष्ट होना ही तो दूसरी हालतकी उत्पत्ति है । जैसे, कुम्हार मिट्टी को चाक पर रखकर जब उसे घुमाता है तो उस मिट्टी की पहली हालत बदलती जाती है और नई-नई अवस्थाएँ उसमें उत्पन्न होती जाती हैं। पहली हालत का बदलना और दूसरी का बनना दोनों एक साथ होते हैं । यदि ऐसा माना जायेगा कि पहली हालत नष्ट हो चुकने के बाद दूसरी हालत उत्पन्न होती है तो पहली हालत के नष्ट हो चुकने और दूसरी हालत के उत्पन्न होने के बीच में वस्तु में कौन-सी हालत दशा मानी जायेगी। घड़ा जिस क्षण में फूटता है उसी क्षण में ठीकरे पैदा हो जाते हैं। ऐसा नहीं है कि घड़ा पहले फूट जाता है पीछे से उसके ठीकरे बन जाते हैं। घड़े का फूटना ही ठीकरे का उत्पन्न होना है और ठीकरे का उत्पन्न होना ही घड़े का फूटना है। अतः उत्पाद और विनाश दोनों एक साथ होते हैं—एक ही क्षण में एक पर्याय नष्ट होती है और दूसरी पर्याय उत्पन्न होती है, और इनके उत्पन्न और नष्ट होने पर भी द्रव्य-मूल वस्तु कायम रहता है -न वह उत्पन्न होता है। और न नष्ट । जैसे घड़ेक फूट जाने और ठीकरे के उत्पन्न हो जाने पर भी मिट्टी दोनों हालतों में बराबर कायम रहती है । अतः वस्तु प्रति समय उत्पाद, व्यय और ध्रुव्य युक्त कहलाती है।)

तयाक्षयैकपक्षत्वे बन्धमोक्षक्षयागमः ।

तात्त्विकैकत्वसद्भावे स्वभावान्तरहानितः ॥103॥

वस्तु को देखने की दो दृष्टियाँ हैं- एक दृष्टि का नाम है द्रव्यार्थिक और दूसरी का नाम है पर्यायार्थिक । द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से वस्तु ध्रुव है, और पर्यायार्थिक नय दृष्टि से उत्पाद व्ययशील है। यदि वस्तु को केवल प्रतिक्षण विनाशशील या केवल नित्य माना जायेगा तो बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था नहीं बन सकेगी। क्योंकि सर्वथा एक रूप मानने पर उसमें स्वभावान्तर नहीं हो सकेगा ॥103॥

(भावार्थ - वस्तु को उत्पाद विनाशशील न मानकर यदि सर्वथा क्षणिक ही माना जायेगा तो प्रत्येक वस्तु दूसरे क्षण में नष्ट हो जायेगी। ऐसी अवस्था में जो आत्मा बँधा है वह तो नष्ट हो जायेगा तब मुक्ति किसकी होगी ? इसी तरह यदि वस्तु को सर्वथा नित्य माना जायेगा तो वस्तु में कभी भी कोई परिवर्तन नहीं हो सकेगा। और परिवर्तन न होने से जो जिस रूप में है वह उसी रूप में बनी रहेगी । अतः बद्ध आत्मा सदा बद्ध ही बना रहेगा, अथवा कोई आत्मा बंधेगा ही नहीं; क्योंकि जब वस्तु सर्वथा नित्य है तो आत्मा सदा एक रूप ही रहेगा, न वह कर्ता हो सकेगा और न भोक्ता । यदि उसे कर्ता भोक्ता माना जायेगा तो वह सर्वथा नित्य नहीं रहेगा। अतः प्रत्येक वस्तु को द्रव्य की अपेक्षा नित्य और पर्याय की अपेक्षा अनित्य मानना चाहिए ।)

आत्मा का स्वरूप

ज्ञाता दृष्टा महान् सूक्ष्मः कृतिभुक्त्योः स्वयं प्रभुः।

भोगायतनमात्रोऽयं स्वभावादूर्ध्वगः पुमान् ॥104॥

ज्ञानदर्शनशून्यस्य न भेदः स्यादचेतनात् ।

ज्ञानमात्रस्य जीवत्वे नैकधीश्चित्रमित्रवत् ॥105॥

आत्मा ज्ञाता और द्रष्टा है, महान् और सूक्ष्म है, स्वयं ही कर्ता और स्वयं ही भोक्ता है। अपने शरीरके बराबर है । तथा स्वभाव से ही ऊपर को गमन करनेवाला है॥ यदि आत्मा को ज्ञान और दर्शन से रहित माना जायेगा तो अचेतन से उसमें कोई भेद नहीं रहेगा। अर्थात् जड़ और चेतन दोनों एक हो जायेंगे। और यदि ज्ञानमात्र को जीव माना जायेगा तो चित्र मित्र की तरह एक बुद्धि नहीं बनेगी ॥104-105॥

प्रेर्यते 'कर्म जीवेन जीवः प्रेयेत कर्मणा ।

एतयोः प्रेरको नान्यो नौनाविकसमानयोः ॥106॥

जीव कर्मको प्रेरित करता है और कर्म जीव को प्रेरित करता है। इन दोनों का सम्बन्ध नौका और नाविक के समान है। कोई तीसरा इन दोनों का प्रेरक नहीं है ॥106 ॥

मन्त्रवन्नियतोऽप्येषोऽचिन्त्यशक्तिः स्वभावतः ।

अतः शरीरतोऽन्यत्र न भावोऽस्य प्रमान्वितः ॥107॥

जैसे मंत्र में कुछ नियत अक्षर होते हैं, फिर भी उसकी शक्ति अचिन्त्य होती है उसी तरह यद्यपि आत्मा शरीर परिमाणवाला है, फिर भी वह स्वभाव से ही अचिन्त्य शक्तिवाला है, अतः शरीर से अन्यत्र उसका अस्तित्व प्रमाणित नहीं है ॥107॥

जीव के भेद

त्रसस्थावरभेदेन चतुर्गतिसमाश्रयाः ।

जीवाः केचित्तथान्ये च पञ्चमी गतिमाश्रिताः ॥108॥

त्रस और स्थावर के भेद से जीव दो प्रकार के हैं; जो नरकगति, तिर्यज्जगति मनुष्यगति, और देवगति में पाये जाते हैं । ये सब संसारी जीवों के भेद हैं । और पञ्चम गति को प्राप्त मुक्त जीव होते हैं ॥108॥

अजीव द्रव्य

धर्माधर्मौ नभः कालो पुद्गलश्चेति पञ्चमः ।

अजीवशब्दवाच्याः स्युरेते विविधपर्ययाः ॥109॥

धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल ये पाँच अजीव द्रव्य कहलाते हैं । इनकी अनेक पर्यायें होती हैं ॥109॥

गतिस्थित्यप्रतीघातपरिणामनिबन्धनम् ।

चत्वारः सर्ववस्तूनां रूपाचात्मा च पुद्गलः ॥110॥

धर्मद्रव्य जीव और पुद्गलों की गति में निमित्त कारण है। अधर्म द्रव्य उनकी स्थिति में निमित्त कारण है। आकाश सब वस्तुओं को स्थान देने में निमित्त है और काल सब के परिणामन में निमित्त है। तथा जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चारों गुण पाये जाते हैं, उसे पुद्गल कहते हैं ॥110॥

अन्योन्यानुप्रवेशेन बन्धः कर्मात्मनो मतः ।

अनादिः सावसानश्च कालिकास्वर्णयोरिव ॥111॥

प्रेकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशप्रविभागतः।

चतुर्धा भिद्यते बन्धः सर्वेषामेव देहिनाम् ॥112॥

बन्ध का स्वरूप और भेद आत्मा और कर्म का अन्योन्यानुप्रवेशरूप बन्ध होता है अर्थात् आत्मा और कर्म के प्रदेश परस्पर में मिल जाते हैं। स्वर्ण और कालिका के बन्ध की तरह यह बन्ध अनादि और सान्त होता है अर्थात् जैसे सोने में खान से ही मैल मिला होता है और बाद में मैल को दूर करके सोने को शुद्ध कर लिया जाता है वैसे ही जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि होने पर भी सान्त है, उसका अन्त हो जाता है। यह बन्ध चार प्रकारका है-प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभाग बन्ध और प्रदेशबन्ध । यह चारों प्रकार का बंध सभी शरीरधारी जीवों के होता है ॥111-112॥

(भावार्थ – प्रकृति शब्दका अर्थ स्वभाव है। कर्मोंमें ज्ञानादिको घातनेका जो स्वभाव उत्पन्न होता है, उसे प्रकृतिबन्ध कहते हैं । कर्मों में अपने अपने स्वभाव को न त्यागकर जीव के साथ बंधे रहने के काल की मर्यादा के पड़ने को स्थिति बन्ध कहते हैं । उनमें फल देने की न्यूनाधिक शक्ति के होने को अनुभाग बन्ध कहते हैं और न्यूनाधिक परमाणु वाले कर्मस्कन्धों का जीव के साथ सम्बन्ध होने को प्रदेश बन्ध कहते हैं। सारांश यह है कि जीव के योग और कषायरूप भावों का निमित्त पाकर जब कर्मण वर्गणाएँ कर्मरूप परिणत होती हैं तो उनमें चार बातें होती हैं, एक उनका स्वभाव, दूसरे स्थिति, तीसरे फल देने की शक्ति और चौथे अमुक परिमाण में उसका जीव के साथ सम्बद्ध होना। इन चार बातों को ही चार बन्ध कहते हैं। सभी जीवों के दसवें गुणस्थान तक ये चारों प्रकारके बन्ध होते हैं । आगे कषाय का उदय न होने से स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध नहीं होता। तथा चौदहवें गुणस्थान में योग के भी न रहने से कोई बन्ध नहीं होता। इस तरह अनादि होने पर भी यह बन्ध भव्य जीवके सान्त होता है।)

मोक्ष का स्वरूप

आत्मलाभं विदुर्मोक्षं जीवस्यान्तर्मलक्षयात् ।

नाभावो नाप्यचैतन्यं न चैतन्यमनर्थकम् ॥113॥

रागद्वेषादि रूप आभ्यन्तर मल के क्षय हो जाने से जीव के स्व स्वरूप की प्राप्ति को मोक्ष कहते हैं। मोक्ष मैं न तो आत्मा का अभाव ही होता है, न आत्मा अचेतन ही होता है और चेतन होने पर भी न आत्मा में ज्ञानादि का अभाव ही होता है ॥113॥

(भावार्थ – पहले बतला आये हैं कि बौद्ध आत्मा के अभाव को ही मोक्ष मानते हैं, वैशेषिक आत्मा के विशेष गुणों के अभाव को मोक्ष कहता है और सांख्य ज्ञानादि से रहित केवल चैतन्य को ही मुक्त आत्मा का स्वरूप मानता है। इन सभी को दृष्टि में रखकर ग्रन्थकार ने मोक्ष का स्वरूप बतलाया है।)

बन्ध और मोक्ष के कारण

वन्धस्य कारणं प्रोक्तं मिथ्यात्वासंयमादिकम् ।

रत्नत्रयं तु मोक्षस्य कारणं संप्रकीर्तितम् ॥114॥

मिथ्यात्व असंयम वगैरह को बन्ध का कारण कहा है और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय को मोक्षका कारण कहा है ॥114॥

मिथ्यात्व के भेद

प्राप्तागमपदार्थानामश्रद्धानं विपर्ययः।

संशयश्च त्रिधा प्रोक्तं मिथ्यात्वं मलिनात्मनाम् ॥115॥

अथवा।

एकान्तसंशयाज्ञानं व्यत्यासविनयाश्रयम् ।

भवपक्षाविपक्षत्वान्मिथ्यात्वं पञ्चधा स्मृतम् ॥116॥

मलिन आत्माओं में पाये जाने वाले मिथ्यात्व के तीन भेद हैं -१. देव, शास्त्र और उनके द्वारा कहे गये पदार्थों का श्रद्धान न करना, 2.

विपर्यय और 3. संशय । अथवा मिथ्यात्व के पाँच भेद भी हैं-एकान्त मिथ्यात्व, संशय मिथ्यात्व, अज्ञान मिथ्यात्व, विपर्यय मिथ्यात्व और विनय मिथ्यात्व । ये पाँचों प्रकार का मिथ्यात्व संसार का कारण है ॥115-116॥

(भावार्थ – मिथ्यात्व या मिथ्यादर्शन सम्यग्दर्शन का विरोधी है, उसके रहते हुए आत्मा में सम्यक्त्व गुण प्रकट नहीं हो सकता ।उसके पाँच भेद हैं ।अनेकान्तात्मक वस्तु को एकान्त रूप मानना एकान्त मिथ्यात्व है,जैसे आत्मा नित्य ही है या अनित्य ही है ।सम्यग्दर्शन,सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्ष के कारण हैं या नहीं, इस प्रकारके सन्देह को संशय मिथ्यात्व कहते हैं। देवादिक के स्वरूप को न जानना अज्ञान मिथ्यात्व है, इसके रहते हुए जीव हित और अहित का भेद नहीं कर पाता । झूठे देव, झूठे शास्त्र और झूठे पदार्थों को सच्चा मानकर उन पर विश्वास करना विपर्यय मिथ्यात्व है और सभी धर्मों, और उनके प्रवर्तकों को तथा उनके द्वारा कहे गये आचार विचार को समान मानना विनय मिथ्यात्व है।)

असंयम का स्वरूप

अवतित्वं प्रमादित्वं निर्दयत्वमतृप्तता।

इन्द्रियेच्छानुवर्तित्वं सन्तः प्राहुरसंयमम् ॥117॥

व्रतों का पालन न करना,अच्छे कामों में आलस्य करना, निर्दय होना, सदा असन्तुष्ट रहना और इन्द्रियों की रुचि के अनुसार प्रवृत्ति करना इन सब को सज्जन पुरुष असंयम कहते हैं ॥117॥

कषाय के भेद

कषायाः क्रोधमानाद्यास्ते चत्वारश्चतुर्विधाः।

संसारसिन्धुसंपातहेतवः प्राणिनां मताः ॥118॥

क्रोध, मान, माया और लोभ के भेद से कषाय चार प्रकार की कही है। इनमें से प्रत्येक के चार चार भेद हैं-अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ; अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ तथा संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ । ये कषायें प्राणियों को संसार रूपी समुद्र में गिराने में कारण हैं ॥118॥

(भावार्थ – कष धातुका अर्थ घातना है। ये क्रोध, मान, माया और लोभ आत्मा के गुणों को घातते हैं इसलिए इन्हें कषाय कहते हैं। उनके चार दर्जे हैं। जो कषाय मिथ्यात्व के साथ रहकर जीव के संसार का अन्त नहीं होने देती उसे अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं। इस कषाय का उदय होते रहते सम्यक्त्व गुण प्रकट नहीं होता। जो कषाय अप्रत्याख्यान अर्थात् देशचारित्र को नहीं होने देती उसे अप्रत्याख्यानवरण कहते हैं। जिस कषाय का उदय रहते प्रत्याख्यान अर्थात् सम्पूर्ण चारित्र प्रकट नहीं होता उसे अप्रत्याख्यानवरण कहते हैं। और जिस कषायका उदय रहते यथाख्यात चारित्र प्रकट नहीं होता उसे संज्वलन कहते हैं। इस प्रकार ये कषायें आत्मा के सम्यक्त्व और चारित्र गुणकी घातक होने से जीव के उद्धार में सबसे प्रबल बाधक हैं। इनको दूर किये बिना कोई प्राणी संसार समुद्र से बाहर नहीं निकल सकता ।)

योग

मनोवाकायकर्माणि शुभाशुभविभेदतः।

भवन्ति पुण्यपापानां बन्धकारणमात्मनि ॥119॥

मन वचन और काय की क्रिया शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार की होती हैं। इनमें से शुभ क्रियाओं से आत्मा के पुण्य बन्ध होता है और अशुभ क्रियाओं से पापबन्ध होता है ॥119॥

(भावार्थ – हिंसा करना, चोरी करना, मैथुन करना आदि अशुभ कायिक क्रिया है। कठोर वचन बोलना, असत्य वचन बोलना, किसी की निन्दा करना आदि अशुभ वाचनिक क्रिया है। किसी का बुरा विचारना आदि अशुभ मानसिक क्रिया है। इन क्रियाओं से पाप बन्ध होता है। और इनसे बचकर अच्छे काम करना, हित मित वचन बोलना और दूसरों का भला विचारना आदि शुभ क्रियाओं से पुण्यबन्ध होता है। असल में शास्त्रकारों ने योग को बन्ध का कारण बतलाया है और चूंकि उक्त क्रियाएँ योग में कारण होती है इस लिए क्रियाओंको योग कहा है। ऊपर भी क्रियाओं से आशय योग का ही है क्योंकि ग्रन्थकार बन्ध के कारण बतला रहे हैं और वे पाँच होते हैं- मिथ्यात्व, असंयम, प्रमाद, कषाय और योग। कोई कोई आचार्य प्रमाद को असंयम में ही गर्भित कर लेते हैं, जैसा कि सोमदेव सूरिने किया है। अतः उनके मत से चार ही बन्ध के कारण माने जाते हैं।)

(इस प्रकार बन्ध के कारण बतलाकर ग्रन्थकार लोक का स्वरूप कहते हैं-)

निराधारो निरालम्बः पवमानसमाश्रयः।

नभोमध्यस्थितो लोकः सृष्टिसंहारवर्जितः ॥120॥

लोक का स्वरूप यह लोक निराधार है, निरालम्ब है-कोई इसे धारण किये हुए नहीं हैं, केवल तीन प्रकार की वायु के सहारे से आकाश के बीचोबीच में यह ठहरा हुआ है। न इसकी कभी उत्पत्ति हुई है और न कभी विनाश ही होता है।

(भावार्थ – जैन धर्म के अनुसार आकाश द्रव्य सर्वत्र व्याप्त है। आकाश का काम सब द्रव्यों को स्थान देना है। उस आकाश के बीच में चौदह राजू ऊँचा, उत्तर दक्षिण सात राजू मोटा और पूर्व पश्चिम नीचे सात राजू, मध्य में एक राजू, पुनः पाँच राजू और अन्त में एक राजू विस्तार वाला लोक है। लोक का आकार दोनों पैर फैलाकर तथा कूल्हों पर दोनों हाथ रखकर खड़े हुए पुरुषके समान है। पूर्व पश्चिममें पैर के नीचे लम्बाई 7 राजू है, कटिभाग में एक राजू है, दोनों कोनियों के स्थान पर पाँच राजू है और ऊपर सिर पर एक राजू है। वैसे तो यह लोक आकाश का ही एक भाग है। किन्तु जितने आकाश में सभी द्रव्य पाये जाते हैं उतने को लोकाकाश कहते हैं और लोक से बाहर के शुद्ध आकाश को अलोकाकाश कहते हैं। इस तरह आकाशके दो भाग हो गये हैं। वह आकाश स्वयं ही अपना आधार है उसके लिए किसी आधार की आवश्यकता नहीं है। अब रह जाते हैं शेष द्रव्य, उनमें भी जो चार द्रव्य अमूर्तिक हैं उन्हें भी किसी अन्य आधार की आवश्यकता नहीं है क्योंकि एक तो वे आकाश की ही तरह अमूर्तिक और स्वाधार हैं। दूसरे उनका साधारण आधार आकाश द्रव्य है ही, अतः उन्हें भी किसी अन्य आधार की आवश्यकता नहीं है। अब रह गये मूर्तिक पदार्थ। सो उनका भी साधारण आधार तो आकाश ही है तथा दूसरा आधार वायु है। वायु तीन प्रकार की है घनोदधिवातवलय, घनवातवलय और तनुवातवलय। वलय चूड़ी या कड़े को कहते हैं जो गोल होते हैं। जैसे कड़ा हाथ में पहिरने पर वह हाथ को चारों ओर से घेर लेता है वैसे ही लोक को चारों ओर से तीनों वायु घेरे हुए हैं इस लिए उन्हें वातवलय कहा है। ये वातवलय ही पृथ्वी वगैरह को धारण करने में सहायक हैं।)

अथ मतम्

जैनों की इस मान्यता पर दूसरे आक्षेप करते हुए कहते हैं -

नैव लग्नं जगत्वापि भूभूधाम्भोधिनिर्भरम् ।

धातारश्च न युज्यन्ते मत्स्यकूर्माहिपोत्रिणः ॥121॥

एवमालोच्य लोकस्य निरालम्बस्य धारणे ।

कल्प्यते पवनो जैनैरित्येतत्साहसं महत् ॥122॥

यो हि वायुर्न शक्तोऽत्र लोष्टकाष्ठादिधारणे।

त्रैलोक्यस्य कथं स स्याद्धारणावसरक्षमः ॥123॥

पृथ्वी, पहाड़, समुद्र वगैरह के भार से लदा हुआ यह जगत् किसी के भी आधार नहीं है, तथा मच्छ, कच्छप, वासुकीनाग और शूकर इसके धारणकर्ता हो नहीं सकते। ऐसा विचार करके जैन लोग इस निरालम्ब जगत् का धारणकर्ता वायु को मानते हैं। किन्तु यह उनका बड़ा साहस है, क्योंकि जो वायु हमारे देखने में इंट पत्थर लकड़ी वगैरह का भी बोझ सम्हालने में असमर्थ है, वह तीनों लोकों को धारण करने में कैसे समर्थ हो सकता है ? ॥121-123॥

तदसत् ।

किन्तु उनका यह आक्षेप ठीक नहीं है, क्योंकि

ये लावयन्ति पानीयैर्विष्टपं सचराचरम्।

मेघास्ते वातसामर्थ्यार्तिक न व्योनि समासते ॥124॥

जो मेघ पानी के द्वारा चराचर जगत्को जलमय बना देते हैं, वे वायु के द्वारा ही क्या आकाशमें नहीं ठहरे रहते 1 ॥124॥

(भावार्थ – आज कल तो हजारों टन बोझा ले जाने वाले वायुयान वायु के सहारे ही आकाश में उड़ते हुए पाये जाते हैं। अतः वायु में बड़ी शक्ति है और वही लोक को धारण करने में समर्थ है। मच्छ कछुवे आदि को जो पुराणों में पृथ्वी का आधार माना गया है. वह विज्ञान सम्मत नहीं है ।)

जैन मुनियों पर दोषारोपण

प्राप्तागमपदार्थेष्वपरं दोषमपश्यतः

जैन आप्त, जैन आगम और उनके द्वारा कहे हुए पदार्थों में अन्य दोष न पाकर कुछ लोग जैन मुनियों में दोष लगाते हैं। वे कहते हैं कि अमजनमनाचामो नग्नत्वं स्थितिभोजिता।

मिथ्यादृशो वदन्त्येतन्मुनेदोषचतुष्टयम् ॥125॥

जैनों के साधु स्नान नहीं करते, आचमन नहीं करते, नंगे रहते हैं और खड़े होकर भोजन करते हैं । इन दोषों का समाधान इस प्रकार है ॥ १२५॥

तत्रैष समाधिः

उनका समाधान

ब्रह्मचर्योपपन्नानामध्यात्माचारचेतसाम् ।

मुनीनां स्नानमप्राप्तं दोषे त्वस्य विधिर्मतः ॥126॥

संगे कापालिकोत्रेयीचाण्डालशबरादिभिः ।

ऑप्लुत्य दण्डवत्सम्यग्जपेन्मन्त्रमुपोषितः ॥127॥

ब्रह्मचर्य से युक्त और आत्मिक आचार में लीन मुनियों के लिए स्नान की आवश्यकता नहीं है । हाँ, यदि कोई दोष लग जावे तो उसका विधान है । यदि मुनि हाथ में खोपड़ी लेकर माँगने वाले वाममार्गी कापालिकों से, रजस्वला स्त्री से, चाण्डाल और म्लेच्छ वगैरह से छू जाये तो उसे स्नान करके, उपवास पूर्वक कायोत्सर्ग के द्वारा मंत्र का जप करना चाहिए ॥126-127॥

(भावार्थ – साधारणतः मुनि के लिए स्नान करनेका निषेध है; क्योंकि मुनि अखण्ड ब्रह्मचारी होते हैं तथा आरम्भ आदि से दूर रहते हैं। हाँ, यदि ऊपर कही गई कोई अशुद्धि हो जाये तो वे स्नान करके बाद को उसका प्रायश्चित्त करते हैं ।)

ऋतुमती स्त्रियों की शुद्धि

एकान्तरं त्रिरात्रं वा कृत्वा स्नात्वा चतुर्थके ।

दिने शुद्ध्यन्त्यसंदेहमृतौ व्रतगताः स्त्रियः ॥128॥

जो स्त्रियाँ व्रताचरण करती हैं, वे ऋतुकाल में एकाशन अथवा तीन दिनका उपवास करके, चौथे दिन स्नान करके निःसन्देह शुद्ध हो जाती हैं ॥128॥

(इस प्रकार मुनियों के स्नान करने का कारण बतलाकर ग्रन्थकार आचमन विधि की आलोचना करते हैं)

यदेवांगमशुद्धं स्यादद्भिः शोध्यं तदेव हि ।

अङ्गुलौ सर्पदृष्टायां न हि नासा निकृत्यते ॥129॥

निष्पन्दादिविधौ वक्र यद्यपूतत्वमिष्यते ।

तर्हि वक्रापवित्रत्वे शौचं नारभ्यते कुतः ॥130॥

शरीर का जो भाग अशुद्ध हो, जलसे उसी की शुद्धि करनी चाहिए। अंगुलियों में साँप के काट लेने पर नाक को नहीं काटा जाता है ॥

126॥ अधोवायु का निस्सरण आदि करने पर यदि मुख में अपवित्रता मानते हो तो मुख के अपवित्र होने पर अधोभागमें शौच क्यों नहीं करते हो ॥130॥

(भावार्थ – ब्राह्मण धर्म में विहित कर्म करने से पहले शरीर की शुद्धि के लिए तीन बार हाथ पर जलपान किया जाता है। इसे ही आचमन कहते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि शरीर का जो भाग अशुद्ध हो जल से उसी की शुद्धि करनी चाहिए, जलपान कर लेने से अशुद्ध शरीर कैसे शुद्ध हो सकता है ? यदि मुख अशुद्ध हो तो उसकी शुद्धि करनी चाहिए और यदि कोई दूसरा अंग अशुद्ध हो तो उसकी शुद्धि करनी चाहिए। सबकी शुद्धि जलपान मात्र से तो नहीं हो सकती / अतः आचमन करना व्यर्थ है।)

(अब मुनियों की नग्नता का समर्थन करते हैं-)

विकारे विदुषां द्वेषो नाविकारानुवर्तने ।

तन्नग्नत्वे निसर्गोत्थे को नाम पिकल्मपः ॥131॥

नैष्किचन्यमहिंसा च कुतः संयमिनां भवेत् ।

ते संगाय यदीहन्ते वल्कलाजिनवाससाम् ॥132॥

विद्वान् लोग विकार से द्वेष करते हैं, अविकारता से नहीं। ऐसी स्थिति में प्राकृतिक नग्नता से किस बातका द्वेष ? यदि मुनिजन पहिरने के लिए वल्कल, चर्म अथवा वस्त्र की इच्छा रखते हैं तो उनमें नैकिचन्य-मेरा कुछ भी नहीं है ऐसा भाव तथा अहिंसा कैसे सम्भव है ? **अर्थ** ात् वस्त्रादिककी इच्छा रखने से उससे मोह तो बना ही रहा तथा वस्त्र के धोने वगैरह में हिंसा भी होती ही है ॥131-132॥

(अब मुनियों के खड़े होकर आहार ग्रहण करने का समर्थन करते हैं-)

न स्वर्गाय स्थिते तिर्न श्वभ्रायास्थितेः पुनः ।

किं तु संयमिलोकेऽस्मिन्सा प्रतिज्ञार्थमिष्यते ॥133॥

पाणिपत्रं मिलत्येतच्छक्तिश्च स्थितिभोजने ।

यावत्तावदहं भुजे रहस्याहारमन्यथा ॥134॥

बैठकर भोजन करने से स्वर्ग नहीं मिलता और न खड़े होकर भोजन करने से नरकमें जाना पड़ता है। किन्तु मुनिजन प्रतिज्ञा के निर्वाह के लिए ही खड़े होकर भोजन करते हैं। मुनि भोजन प्रारम्भ करने से पूर्व यह प्रतिज्ञा करते हैं कि- 'जबतक मेरे दोनों हाथ मिले हैं और मेरे में खड़े होकर भोजन करने की शक्ति है तब तक मैं भोजन करूँगा अन्यथा आहार को छोड़ दूँगा। इसी प्रतिज्ञा के निर्वाह के लिए मुनि खड़े होकर भोजन करते हैं ॥133-134॥

(भावार्थ – मुनि खाने के लिए नहीं जीते, किन्तु जीने के लिए खाते हैं। जैसे गाड़ी को ठीक चलाने के लिए उसे औंध देते हैं वैसे ही इस शरीर रूपी गाड़ी के ठीक तरह से चलते रहने के लिए मुनि इसे उतना ही आहार देते हैं जितने से यह शरीर चलता रहे और मुनि के स्वाध्याय ध्यान वगैरह कार्यों में उससे कोई बाधा उपस्थित न हो। इसलिए तथा आत्मनिर्भर बने रहने के लिए वे खड़े होकर और बायें हाथ

की कनकी अंगुलीमें दायें हाथकी कनकी अंगुलि दबाकर बनाये गये हस्तपुटमें भोजन करते हैं। श्रावक एक-एक ग्रास उसकी बाईं हथेली पर रखता जाता है और वे उसे शोधकर दायें हाथ की अंगुलियों से मुँह में रखते जाते हैं। खड़े होकर भोजन करने से आत्मनिर्भरता बनी रहती है, भोजन में अलौल्यता रहती है और परिमित आहार होता है तथा हाथ में भोजन करने से एक तो पात्र की आवश्यकता नहीं रहती, दूसरे यदि शोधकर खाते समय भोजन में अन्तराय हो जाता है तो बहुत सा भोजन खराब नहीं होता, अन्यथा भरी थाली भी छोड़ना पड़ सकती है। अतः खड़े होकर हाथ में भोजन करना मुनिके लिए विधेय है।)

(अब केशलोच का समर्थन करते हैं-)

अदैन्यासंगवैराग्यपरीपहकृते कृतः।

अत एव यतीशानां केशोत्पाटनसद्विधिः ॥135॥

अदीनता, निष्परिग्रहपना, वैराग्य और परीषह के लिए मुनियों को केशलोच करना बतलाया है ॥135॥

(भावार्थ – मुनियों के पास एक दमड़ी भी नहीं रहती, जिससे क्षौरकर्म करा सकें, यदि दूसरे से माँगते हैं तो दीनता प्रकट होती है, पास में छुरा वगैरह भी नहीं रख सकते। और यदि केश बढ़ाकर जटा रखते हैं तो उसमें जूँ वगैरह पड़ जाती हैं इसलिए वह हिंसा का कारण है। इसके विपरीत केशलोच करने में न किसी से कुछ माँगना पड़ता है, न कोई हिंसा होती है, प्रत्युत उससे वैराग्यभाव दृढ़ होता है और कष्टों को सहने की क्षमता बढ़ती है, इसलिए मुनिगण केशलोच करते हैं।)

इत्युपासकाध्ययन आगमपदार्थपरीक्षो नाम तृतीयः कल्पः ।

इस प्रकार उपासकाध्ययन में आगम और उसमें कहे गये पदार्थों की परीक्षा नामका तीसरा कल्प समाप्त हुआ।

मूढता का निषेध

कल्प - ४

ग्रन्थ :

लोक में प्रचलित मूढताओं का निषेध

सूर्यार्धो ग्रहणस्नानं संक्रान्तौ द्रविणव्ययः।

संध्यासेवाग्निसत्कारो गेहदेहार्चनो विधिः ॥136॥

नदीनदसमुद्रेषु मजन धर्मचेतसा।

तरुस्तूपानभक्तानां वन्दनं भृगुसंश्रयः ॥137॥

गोपृष्ठान्तनमस्कारस्तन्मत्रस्य निषेवणम्।

रत्नवाहनभूयतशस्त्रशैलादिसेवेनम् ॥138॥

समयान्तरपाखण्डवेदलोकसमाश्रयम् ।

एवमादिविमूढानां शयं मूढमनेकधा ॥139॥

वरार्थं लोकवार्तार्थमुपरोधार्थमेव का।

उपासनममीषां स्यात्सम्यग्दर्शनहानये ॥140॥

क्त शायैव क्रियामीषु न फलावाप्तिकारणम् ।

यद्भवेन्मुग्धबोधानामूषरे कृषिकर्मवत् ॥141॥

सूर्य को अर्घ देना, ग्रहण के समय स्नान करना, संक्रान्ति होने पर दान देना, सन्ध्या बन्दन करना, अग्नि को पूजना, मकान और शरीर की पूजा करना, धर्म मान कर नदियों और समुद्र में स्नान करना, वृक्ष स्तूप और प्रथम प्रास को नमस्कार करना, पहाड़ की चोटीसे गिरकर मरना, गौके पृष्ठ भाग को नमस्कार करना, उसका मूत्र पान करना, रत्न सवारी पृथ्वी यक्ष शस्त्र और पहाड़ वगैरह की पूजा करना, तथा धर्मान्तरके पाखण्ड, वेद और लोक से सम्बन्ध रखनेवाली इस प्रकारकी अनेक मूढताएं जाननी चाहिए ॥ वरकी आशा से या लोक रिवाज के विचार से या दूसरों के आग्रहसे इन मूढताओं का सेवन करने से सम्यग्दर्शन की हानि होती है। जिस प्रकार ऊसर भूमि में खेती करने से केवल क्लेश ही उठाना पड़ता है, फल कुछ भी नहीं निकलता, उसी तरह इन मूढताओं के करने से केवल क्लेश ही उठाना पड़ता है, फल

कुछ भी नहीं निकलता ॥136-141॥

वस्तुन्येव भवेद्भक्तिः शुभारम्भाय भाक्तिके।

न घरत्नेषु रत्नाय भावो भवति भूतये ॥142॥

अदेवे देवताबुद्धिमव्रते व्रतभावनाम् ।

अतत्त्वे तत्त्वविज्ञानमतो मिथ्यात्वमुत्सृजेत् ॥143॥

तथापि यदि मूढत्वं न त्यजेत्कोऽपि सर्वथा।

मिश्रत्वेनानुमान्योऽसौ सर्वनाशो न सुन्दरः ॥144॥

वस्तु में की गई भक्ति ही शुभ कर्म का बन्ध कराती है। जो रत्न नहीं है उसे रत्न मानने से कल्याण नहीं हो सकता ॥ कुदेव को देव मानना, अव्रत को व्रत मानना और अतत्त्व को तत्त्व मानना मिथ्यात्व है अतः इसे छोड़ देना चाहिए ॥ फिर भी यदि कोई इन मूढ़ताओं का सर्वथा त्याग नहीं करता (और सम्यक्त्व के साथ-साथ किसी मूढ़ता का भी पालन करता है) तो उसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि मानना चाहिए, क्योंकि मिथ्यात्व सेवन के कारण उस के धर्माचरण का भी लोप कर देना अर्थात् उसे मिथ्यादृष्टि ही मानना ठीक नहीं है ॥142-144॥ (भावार्थ – ऊपर जिन मूढ़ताओं का उल्लेख किया है, उनमें से बहुत-सी मूढ़ताएँ आज भी प्रचलित हैं, और लोग धर्म मानकर उन्हें करते हैं, किन्तु उनमें कुछ भी धर्म नहीं है। वे केवल धर्म के नाम पर कमाने-खाने का आडम्बर मात्र है। ऐसी मूढ़ताओं से सबको बचना चाहिए ॥ किन्तु यदि कोई किसी कारण से उन मूढ़ताओं को पूरी तरह से नहीं त्याग देता और अपने धर्माचरण के साथ उन्हें भी किये जाता है तो उसे एक दम मिथ्यादृष्टि न मानकर सम्यग् मिथ्यादृष्टि मानने की सलाह ग्रन्थकार देते हैं। वे उसके उस धर्माचरणका लोप नहीं करना चाहते, जो वह मूढ़ता पालते हुए भी करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार के समय में लोक-रिवाज या कामना वश कुछ जैनों में भी मिथ्यात्वका प्रचार था और बहुत से जैन उसे छोड़ने में असमर्थ थे। शायद उन्हें एक दम मिथ्यादृष्टि कह देना भी उन्हें उचित नहीं ज़चा, इसलिए सम्यग्मिथ्यादृष्टि कह दिया है, वैसे तो मिथ्यात्वसेवी जैन भी मिथ्यात्वी ही माने गये हैं।)

न स्वतो जन्तवः प्रेर्या दुरीहाः स्युर्जिनागमे ।

स्वत एव प्रवृत्तानां तद्योग्यानुग्रहो मतः ॥145॥

जिन मनुष्यों की चेष्टाएँ या इच्छाएँ अच्छी नहीं हैं उन्हें जिनागम में स्वयं प्रेरित नहीं करना चाहिए । अर्थात् ऐसे मनुष्यों को जैन धर्म में लाने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए, किन्तु यदि वे स्वयं इधर आवे तो उनके योग्य अनुग्रह-साहाय्य कर देना चाहिए ॥145॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में मूढ़ता का निषेध करनेवाला चौथा कल्प समाप्त हुआ।

सम्यग्दर्शन के दोष

कल्प - ५

ग्रन्थ :

(अब ग्रन्थकार सम्यग्दर्शन के दोष बतलाते हैं-)

शङ्काकाङ्क्षाविनिन्दान्यश्लाघा च मनसा गिरा।

एते दोषाः प्रजायन्ते सम्यक्त्वक्षतिकारणम् ॥146॥

शङ्का, कांक्षा, विनिन्दा और मन तथा वचन से मिथ्यादृष्टि को प्रशंसा करना, ये दोष सम्यग्दर्शन की हानि के कारण हैं ॥146॥

अहमेको न मे कश्चिदस्ति त्राता जगत्त्रये ।

इति व्याधिब्रजोत्क्रान्तिभीति शङ्कांप्रचक्षते ॥147॥

एतत्तत्त्वमिदं तत्त्वमेतद्व्रतमिदं व्रतम् ।

एष देवश्च देवोऽयमिति शङ्कां विदुः पराम् ॥148॥

इत्थं शङ्कितचित्तस्य न स्यादर्शनशुद्धता ।

न चास्मिन्नीप्सितावाप्तिर्यथैवोभयवेदने ॥149॥

एष एव भवेद्द्वस्तत्त्वमप्येतदेव हि । .

एतदेव व्रतं मुक्त्यै तदेव स्यादशङ्कधीः ॥150॥

तत्त्वे शाते रिपो दृष्टे पात्रे वा समुपस्थिते ।

यस्य दोलायते चित्तं रिक्तः सोऽमुत्र चेह च ॥151॥

इनमें से पहले शंका दोष का वर्णन करते हैं 'मैं अकेला हूँ, तीनों लोकों में मेरा कोई रक्षक नहीं है।' इस प्रकार रोगों के आक्रमण के भय को शंका कहते हैं ॥ 'अथवा यह तत्त्व है या यह तत्त्व है ? ॥ 'यह व्रत है या यह व्रत है ?' 'यह देव है कि यह देव है ?' इस प्रकार के संशय को शंका कहते हैं । जिसका चित्त इस प्रकार से शङ्कित-शङ्काकुल या भयभीत है उसका सम्यग्दर्शन शुद्ध नहीं है । तथा जैसे नपुंसक अपने मनोरथ को पूरा नहीं कर सकता, वैसे ही उसे भी अभीष्ट की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ 'यही देव है, यही तत्त्व है और इन्हीं व्रतों से मुक्ति प्राप्त हो सकती है। ऐसा जिसको दृढ़ विश्वास है वही मनुष्य निःशङ्क बुद्धिवाला है ॥ किन्तु तत्त्व के जानने पर, शत्रु के दृष्टि-गोचर होनेपर और पात्र के उपस्थित होने पर जिसका चित्त डोलता है, जो कुछ भी स्थिर नहीं कर सकता, वह इस लोक में भी खाली हाथ रहता है और परलोक में भी खाली हाथ रहता है ॥147-151॥

(भावार्थ - 'शंका' शब्द के दो अर्थ हैं- भय और सन्देह । जो मिथ्यादृष्टि होता है उसे सदा भय सताता रहता है क्योंकि भय उसे ही होता है जो परवस्तु में 'यह मेरी हैं' ऐसी भावना रखता है। जो यह समझता है कि यह शरीर, स्त्री, पुत्र, धन-सम्पत्ति वगैरह मुझे शुभ कर्म के उदय से प्राप्त हुई है । जब तक शुभ कर्म का उदय है तब तक रहेगी उसके बाद नष्ट हो जायेगी, उसे कभी भी भय नहीं सताता। अतः जिसे मृत्यु का, अरक्षा का या धन-धान्य के विनाश का सदा भय लगा रहता है वह मिथ्यादृष्टि है। किन्तु जो सम्यग्दृष्टि होता है वह सदा निर्भय रहता है। अतः भय करना सम्यक्त्वका घातक है। इसी तरह सदा सन्देह करते रहना भी सम्यक्त्वका घातक है। वस्तु तत्त्व में यथार्थ प्रतीति सम्यग्दृष्टि को ही होती है। वह एक बार वस्तु स्वरूप को समझकर जब उसपर दृढ़ आस्था कर लेता है तो फिर उसे उसके विश्वास से कोई भी नहीं डिगा सकता। ऐसा अडिगपना ही सिद्धि का कारण होता है। किन्तु जो लोग जरा से सन्देहमें पड़कर मूल तत्त्वों में ही सन्देह करने लगते हैं। कभी किसी को अच्छा समझ बैठते हैं तो कभी किसी को अच्छा समझ बैठते हैं। वे बे-पेन्दी की लोटेकी तरह सदा इधर से उधर लुढ़का करते हैं और कोई भी उनकी प्रतीति नहीं करता । अतः सम्यग्दृष्टि को निःसन्देह होना चाहिए। उसे तत्त्व को समझने का प्रयत्न तो करना चाहिए किन्तु यदि वह समझ में न आये या कोई समझा न सके तो उस तत्त्व की सत्यता में ही सन्देह नहीं कर बैठना चाहिए। यही निःशंकितपना है जो सम्यग्दर्शन का प्रथम अंग है।)

निःशङ्कित अंग में प्रसिद्ध अंजनचोर की कथा

श्रूयतामत्रोपाख्यानम्-इहैवानेकाश्वर्यसमीपे जम्बूद्वीपे जनपदाभिधानास्पदे जनपदे भूमितिलकपुरपरमेश्वरस्य

गुणमालामहादेवीरतिकुसुमशरस्य नरपालनाम्नो नरेन्द्रस्य श्रेष्ठी सुनन्दो नाम। धर्मपत्नी चास्य जनितनिखिलपरिजनहृदयानन्दा सुनन्दा नाम

। अनयोः सूनूर्धनद-धनबन्धु-धनप्रिय-धनपाल-धनदत्त-धनेश्वराणामनुजः सकलकूटकपटचेष्टितहरिर्धन्वन्तरिनाम । तथा

तनूपतिपुरोहितस्याग्निलादयितस्योदितोदितधर्मकर्मणः सोमशर्मणः सुतो विश्वरूप-विश्वेश्वर-विश्वमूर्ति-विश्वामित्र-विश्ववासु-

विश्ववलोकानामनवरजः समस्तसवृत्तप्रतिलोमो विश्वानुलोमो नाम ।

तौ द्वावपि सहपांशुक्रोडितत्वात्समानशीलव्यसनत्वाच्च तीरनीरवत्समाचरितसल्यौ धूतमदिरापरदारचौयोद्यनायकायेपर्यायप्रवर्त्तेनमुख्यौ

सन्तौ तेनावनीपतिनात्मीयनगरात्सनिकोरं निर्वासितौ कुरुजाङ्गलदेशेषु वीरमतिमहादेवीवरेण वीरनरेश्वरेणाधिष्ठितं

यमदण्डतरपालेनाश्रितमशेषसंसारसारसोमन्तिनीमनोहरं हस्तिनागपुरमवाप्य संपादितावस्थितौ कदाचिदस्तमस्तकोत्तंसतपनातपनिचये

संध्यासमये मदसंखीमलिनकपोलपालीनिलीनालिकुलालिख्यमानमुखपटाभोगभङ्गीप्रसरानीलगिरिकुञ्जरात्स्वच्छन्दतोऽभिमुखमागच्छतो

निवृत्य श्रीधर्माचार्योचार्यमाणधर्मश्रवणोचितं नित्यमण्डितं नाम चैत्यालयमासादयामासतुः । तत्र च 'धन्वन्तरे, यदि

सीधुपिशितोपदंशप्रमुखानि संसारसुखानि स्वेच्छयानुभवितुमिच्छसि, तदाऽवश्यममीषामम्बरावृत्तवपुषां धर्मो न श्रोतव्यः' इत्यभिधाय

पिधाय च श्रवणयुगलमतिनिर्भरं प्रमोलावलम्बिलोचनायामो विश्वानुलोमः सुष्वाप । धन्वन्तरिस्तु 'प्राणिना हि नियमेन

किमप्यचलितात्मतया व्रतमुपात्तं भवति उदकेऽवश्यं स्वःश्रेयसनिमित्तम्' इति प्रस्तावायातमाचार्योदितमुपश्रुत्य, प्रणिपत्य च 'यद्येवं तर्हि

भगवन्, अयमपि जनोऽनुगृह्यतां कस्यापि व्रतस्य प्रदानेन' इत्यवोचत् । तदनु 'ततः सूरः खलतिविलोकनात्त्वयात्तव्यम्' इति व्रतेन

कुलालालब्धनिधानः पयःपूराविष्टपिष्टशकटपरित्यागाद्विगतोरगोद्रीर्णगरलज्जितमृत्युसंगतिरक्षातनामानोकहपरिहारेण

व्यतिक्रान्तकिंपाकफलापादितापत्तिः पुनरविचार्य किमपि कार्य नाचर्यमिति गृहीतव्रतजातिरेकदा निशि नगरनायकनिलये नटनत्यनिरीक्षणाल्कृतकालक्षेपक्षणः स्वावासमनुसृत्य शनैर्विघटितकपाटपुटसंधिबन्धः स्वकीयया सवित्र्या विहितगाढावरुण्डनमात्मकलत्रं जातनिद्रातन्त्रमवलोक्योपपत्तिशङ्कया मुहुरुत्वातखङ्गो भगवतोपपादितं व्रतमनुसस्मार । शुश्रावं च दैवात्तदैव 'मनागतः परतः सर, खरं, मे शरीरसंबाधः' इति गृहिणीगिरम् । ततश्च 'यदीदं व्रतमहमद्य नाग्रहीषम्, तदेमां मातरमिदं च प्रियकलत्रमसंशयं' विशस्येह दुरपवादरजसाममुत्र च दुरन्तैनासां भागी भवेयम्' इति जातनिर्वेदः सर्वमपि शातिलोकं यथायथं मनोरथोत्सेकमवस्थाप्य 'यत्रैव देशे दुरपवादोपहतं चेतस्तत्रैव देशे समाश्रीयमाणमाचरणं न भवति निरपवादम्' इति प्रकाशितोपदेशस्य तस्य भगवतो निदेशाद्धरणभूषणभूधरोपकण्ठे तपस्यतः कान्तरदेवताविहितसपर्यादूरधर्माचार्यात्सुरसुन्दरीकटाक्षविपक्षां दीक्षामादाय विदितवेदितव्यसंप्रदायः सन्नम्बरे

स्तम्बाडम्बरितोपात्तपलाशिमालायामेतदचलमेखलायामातापनयोगस्थितोऽनवरतप्रवर्धमानाध्यात्मध्यानावन्ध्यनिरतः 'किमयं कर्करोत्कीर्णः, किं वास्मादेव पर्वतान्निरूढः' इति वितर्काभ्यो बभूव ।

धन्वन्तरिरप्यातापनयोगान्ते तस्य संबोधनाय संमन्ते समुपसद्य 'मत्प्रणयपान्थविश्रामाराम विश्वानुलोम जिनधर्मस्थितिमनवबुध्यमानः किमित्यकाण्डे चण्डभावमादाय दुराचारप्रधानः समभूः । तदेहि विहायेमं दुःपथकथासनाथं शेमथावसथमनोरथं सहैव तपस्यावः' इति बहुशः कृतप्रयत्नप्रकाशोऽपि दुःशिक्षावशात्तमोतपोतरुतभीतपतङ्गपाकमिव मुधामौनमूकतोत्तरङ्गितचित्तोत्सेकं तितउपात्र इव तन्मनोमोप्राप्तसदुपदेशपयोवस्थानः प्रतिबोधयितुमशक्नुवन्नुपपादमूलमनुशील्य कालेन प्रवचनोचितं चरमाचरणाधिकृतं विधि विधाय विबुधाङ्गनाजनोचार्यमाणमङ्गलपरम्परानल्पेऽच्युतकल्पे समस्तसुरसमाजस्तूयमानमहातपःपरायणप्रतिभोऽमितप्रभो नाम देवोऽभवत् । विश्वानुलोमोऽपि पुरोपार्जितजीवितावसाने विपद्योत्पद्य च व्यन्तरेषु गजानीकमध्ये विजयनामधेयस्य विद्युत्प्रभाख्यया वाहनो बभूव । पुनरेकदा पुरंदरपुरःसरेण दिविजवृन्देन सह नन्दीश्वरद्वीपात्तत्रयचैत्यालयाश्रयामष्टाहीपर्वक्रियां निर्वागच्छन्नसावमितप्रभो देवस्तं विद्युत्प्रभमभिभमवेक्ष्याह्लादमानमानसः प्रयुज्यावधिमवबुद्धपूर्ववृत्तान्तः 'विद्युत्प्रभ, किं स्मरसि जन्मान्तरोदन्तम्' इत्यभाषत । विद्युत्प्रभः- 'अमितप्रभ, बाढं स्मरामि । किंतु सकलत्रचारित्राधिष्ठानादनुष्ठानान्ममैवंविधः कर्मविपाकानुरोधः । तव तु ब्रह्मचर्यवशात्कायक्लेशादीदृशः । ये च मदीये समये जमदग्नि-मतङ्ग-पिङ्गल-कपिञ्जलादयो महर्षयस्ते तपोविशेषादिहागत्य भवतोऽप्यभ्यधिका भविष्यन्ति । ततो न विस्मतव्यम्' ।

संजातसुहृत्समालोकनकामो विश्वानुलोमोऽपि तत्परिजनात्परिश्रुतैतत्प्रव्रजनव्यतिकरः 'मित्रधेयस्य धन्वन्तरेर्या गतिः सा ममापि' इति प्रतिज्ञाप्रवरस्तत्रागत्य जैनजनसमयस्थितिमनवबुध्यमानः 'हंहो मनोरहस्य वयस्य, चिरान्मिलितोऽसि । किमिति न मे गाढामङ्गपाली ददासि, किमिति न काममालापयसि, किमिति न सादरं वार्तामापृच्छसे' इत्यादि बहु सप्रश्रयमाभाष्य निजनियमानुष्ठानकतानमनसि निरागसि धन्वन्तरियतीश्वरे प्ररुष्य सविधाशिवतातिः प्रादुर्भवदप्रीतिर्भूतरमणीयधरणिधरसमीपसमुत्पादितोऽजस्य सहस्रजटस्य जटिनो निकटे शतजटोऽजनिष्ट ।

अमितप्रभः- 'विद्युत्प्रभ, संप्रत्यपि न मुञ्चसि दुराग्रहम् । तदेहि । तव मम च लोकस्य परीक्षावहे चित्तम्' इति विहितविवादौ तौ द्वावपि देवौ करहाटदेशस्य पश्चिमदिग्भागमाश्रित्य काश्यपीतलमवतेरतुः । तत्र च वनेचरसैन्यसौजन्याशून्ये तनिकटदण्डकारण्यवने सेमित्कुशकुशाशयप्रकामे बदरिकाश्रमे बहुलकालकृतकृच्छ्रतपसं चन्द्रचण्डमरीचिरुचिपानपरायणमनसमूर्ध्वबाहुमेकपादावस्थानाग्रहराहुमन ल्पोल्लसत्पल्लवाविरलवल्लीगुल्मवल्मीकावरुद्धवपुषमतिप्रवृद्धवृद्धतासु धाधवलितशिरःश्मश्रुजटाजालत्विषमृषेः कश्यपस्य शिष्यं जमदग्निमवलोक्य पत्ररथमिथुनकथोचिताश्लेषं वेषं विरचय्य तत्कूर्चकुलायकुटीरकोटरे निविष्टौ 'कान्ते, काचनाचलमूलमेखलायामशेषशकुन्तचक्रवर्तिनो वैनतेयस्य वातराजसुतया मदनकन्दलीनामया सह महान्विवाहोत्सवो वर्तते । तत्र मयावश्यं गन्तव्यम् । त्वं तु सस्त्रि, समासनप्रसवसमया सती सह न शक्यसे, नेतुम् । अहं पुनस्तद्विवाहोत्सवानन्तरमकालक्षेपमागमिष्यामि । यथा चाहं तत्र चिरं नावस्थास्ये तथा मातुः पितुश्चोपरि महान्तः शपथाः । किं च बहुनोक्तेन यद्यहमन्यथा वदामि तदास्य पापकर्मणस्तपस्विनो दुरितभागी स्याम्' इत्यालापं चक्रतुः । तं च जमदग्निः कर्णकटुमालापमाकर्ण्य प्रवृद्धक्रोधः कराभ्यां तत्कदर्थनार्थं कूर्चं अमरचरौ 'विकिरावप्युड्डीय तदनविटपिनि संनिविश्य पुनरपि तं तापसमवलोलालापौ निकाममुपजहसतुः । तापसः साध्वसविस्मयोपसृतमानसः 'नैतौ खलु पक्षिणौ भवतः । किंतु रूपान्तरावुमामहेश्वराविव कौचिद्देवविशेषौ । तदुपगम्य प्रणम्य च पृच्छामि तावदात्मनः पापकर्मत्वकारणम् ।

अहोमत्पूर्वपुण्यसंपादितावलोकनदिव्यद्विजोत्तमान्वयसंभवसदनपतङ्गमिथुन, कथयतां भवन्तौ कथमहं पापकर्मा' इति। . पतत्रिणी-
तपस्विन्, आकर्ण्य ।

अपुत्रस्य गतिर्नास्ति स्वर्गो नैव च नैव च ।

तस्मात्पुत्रमुखं दृष्ट्वा पश्चाद्भवति भिक्षुकः ॥152॥

तथा अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य युक्तितः ।

इष्ट्वा यज्ञैर्यथाकालं ततः प्रव्रजितो भवेत् ॥153॥

इति स्मृतिकारकीर्तितमप्रमाणीकृत्य तपस्यसि' इति । 'कथं तर्हि मे शुभाः परलोकाः'। 'परिणयनकरणादौरसपुत्रोत्पादनेन'। 'किमत्र
दुष्करम्' इत्यभिधाय मातुलस्य विजयामहादेवीपतेरिन्द्रपुरैश्वर्यभाजः काशिराजस्य भूभुजो भवनभाग्भूत्वा तदुहितरं रेणुकां
परिणीयाविरलकलापोलपालंकृतपुलिनासराले मन्दाकिनीकूले महदाश्रमपदं संपाद्य परशुरामपिताऽभूत् ।

भवति चात्र श्लोकः

अन्तस्तत्त्वविहीनस्य वृथा व्रतसमुद्यमः।

पुंसः स्वभावभीरोः स्यान् शौर्यायायुधग्रहः ॥154॥

इत्युपासकाध्ययने जमदग्निपःप्रत्यवसादनो नाम पञ्चमः कल्पः ।

इसी जम्बूद्वीप के जनपद नामक देश में भूमितिलकपुर नामका नगर है । उसका स्वामी नरपाल नामका राजा था। उसकी पट्टरानीका नाम
गुणमाला था । उसके राजश्रेष्ठी का नाम सुनन्द था । सुनन्द के समस्त परिवार के हृदय को आनन्दित करने वाली सुनन्दा नाम की
धर्मपत्नी थी। इन दोनों के धनद, धनबन्धु, धनप्रिय, धनपाल, धनदत्त, धनेश्वर और धन्वन्तरि नामके पुत्र थे । छोटा पुत्र धन्वन्तरि सब जाल-
फरेब की मायामें निपुण था । राजा का पुरोहित धर्म-कर्म में निपुण सोमशर्मा था। उसकी पत्नीका नाम अग्निला था । उनके विश्वरूप,
विश्वेश्वर, विश्वमूर्ति, विश्वामित्र, विश्वावसु, विश्वावलोक और विश्वानुलोम नामके पुत्र थे। ज्येष्ठ पुत्र विश्वानुलोम समस्त सदाचार का विद्वेषी
था। धन्वन्तरि और विश्वानुलोम दोनों साथ-साथ खेले थे तथा दोनों का स्वभाव और आदतें भी समान थीं, इसलिए दोनों में दूध और पानी
की तरह घनिष्ठ मित्रता थी। जुआ, शराब, परस्त्रीगमन और चोरी वगैरह दुराचारों में रत रहने के कारण दोनों का तिरस्कार करके राजा ने
उन्हें अपने देश से निकाल दिया। वहाँ से निकाले जाकर वे दोनों कुरुजांगल देशके हस्तिनापुर नामक नगरमें आये। वहाँ के राजा का नाम
वीरनरेश्वर था और उसकी पट्टरानी वीरमणी थी। तथा यमदण्ड वहाँ का कोतवाल था।

एक दिन सन्ध्या के समय सूरज के डूब जाने पर वे दोनों घूमने निकले। सामनेसे नीलगिरि के समान एक मदनोन्मत्त हाथी को स्वच्छन्दता
के साथ सन्मुख आता हुआ देखकर दोनों एक नित्यमण्डित नाम के चैत्यालयमें घुस गये। वहाँ धर्माचार्य धर्म का उपदेश कर रहे थे।
विश्वानुलोम ने धन्वन्तरि से कहा—'धन्वन्तरि ! यदि संसार के मदिरा, माँस, व्यञ्जन आदि सुखों को यथेच्छ भोगना चाहते हो तो इन
दिग्गम्बर साधुओं का धर्म मत सुनो।' ऐसा कहकर दोनों कानों को बन्द करके और आँखों को मीचकर विश्वानुलोम सो गया। उधर आचार्य
कह रहे थे कि यदि प्राणी दृढ़ता के साथ नियम पूर्वक किसी भी व्रत का पालन करे तो उत्तर काल में वह व्रत अवश्य ही उसका कल्याण
करता है। यह सुनकर आचार्य को नमस्कार करके धन्वन्तरि बोला-'भगवान् ! यदि ऐसा है तो इस दास को भी कोई व्रत देने की कृपा
करें।'

आचार्य ने उसकी स्थिति को समझकर कहा-'तुम प्रतिदिन घुटे सिर व्यक्ति का दर्शन करके भोजन किया करो।' धन्वन्तरि ने इस व्रत को
सहर्ष स्वीकार कर लिया। एक दिन जैसे ही वह भोजन करने के लिए बैठा, उसे अपने नियम की याद आई, उस दिन वह घुटे सिर व्यक्ति
का दर्शन करना भूल गया था। अतः उसने भोजन नहीं किया और घुटे सिर व्यक्ति की खोज में चल दिया। उसके पड़ोसी एक कुम्हार ने
उसी दिन सिर घुटवाया था, किन्तु वह मिट्टी लेने के लिए बाहर चला गया था, धन्वन्तरि उसकी खोजमें चल दिया। जब वह कुम्हार के पास
पहुँचा तो कुम्हार उसे देखकर घबरा गया। कुम्हार को उस दिन मिट्टी खोदते हुए एक घड़ा मिला था उसमें धन था। जब धन्वन्तरि कुम्हार
को देखकर तुरन्त ही लौट गया तो कुम्हार को सन्देह हुआ कि उसने मुझे जमीन से घड़ा निकालते हुए देख लिया है और अब वह कहीं
राजा से मेरी शिकायत न कर दे । अतः उसे धन का आधा भाग देकर राजी कर लेना चाहिए । राजा तो सब धन ले लेगा । यह सोचकर
कुम्हार धन का घड़ा सिर पर रखकर धन्वन्तरि के पीछे-पीछे हो लिया। और उसके घर पहुँचकर उसने वह घड़ा उसके सामने रखकर सब

हाल कहा। एक छोटे-से व्रत के कारण धन की प्राप्ति को देखकर धन्वन्तरि का हृदय गुरु महाराज के प्रति भक्ति से गदगद हो गया। और वह नया व्रत ग्रहण करने के लिए पुनः उनकी शरण में पहुँचा। इस बार मुनिराज ने उससे कहा- बलिदान के लिए आटे का पशु वगैरह बनाकर लोग चौराहों मादि पर रख देते हैं उसे तुम नहीं खाना। एक दिन धन्वन्तरि अपने मित्र विश्वानुलोम तथा अन्य साथियों के साथ चोरी करके लौट रहा था। सब लोग भूखे थे। उन्होंने मार्ग में आटे के बने बैल रखे हुए देखे। विश्वानुलोम ने उसकी रोटी बनाकर खाने का प्रस्ताव किया। किन्तु धन्वन्तरि ने अपने व्रत के कारण उसे स्वीकार नहीं किया। तब विश्वानुलोम उस पर बहुत नाराज हुआ। किन्तु धन्वन्तरि अपने नियम से विचलित नहीं हुआ। उसके साथियों ने उस आटे की रोटियाँ बनाई किन्तु धन्वन्तरि के स्नेहवश विश्वानुलोम ने नहीं खाई। वे दोनों बच गये और उन रोटियों को खानेवाले उनके साथी मृत्यु के मुख में चले गये, क्योंकि कोई साँप उस आटे के पुतले को जहरीला कर गया था। व्रत के ही कारण जीवन रक्षा होने से धन्वन्तरि और भी अधिक प्रभावित हुआ और गुरु महाराज के पास पुनः व्रत ग्रहण करने के लिए गया। गुरु महाराज ने कहा-जिस वृक्ष का नाम अज्ञात हो, उसके फल नहीं खाना। एक दिन धन्वन्तरि और विश्वानुलोम चोरी करके एक जंगल में पहुँचे। सब लोग भूखे थे किन्तु खाने के लिए वहाँ कुछ भी नहीं था। खोजबीन करने पर एक वृक्ष पर फल लगे हुए मिले। उन्हें ही तोड़कर सब खाने के लिए बैठे। धन्वन्तरि ने जैसे ही एक फल अपने मुख में रखने के लिए उठाया। उसे अपने व्रत का स्मरण हो आया। उसने तत्काल पूछा कि ये फल जिस वृक्ष के हैं उसका नाम क्या है? किन्तु कोई भी उसका नाम नहीं बता सका। अतः धन्वन्तरि ने उनको खाना स्वीकार नहीं किया। धन्वन्तरि के साथ विश्वानुलोम ने भी उन फलों को नहीं खाया। वे विषफल थे, अतः खाते ही उनके साथी चल बसे और वे दोनों मित्र पुनः बच गये। व्रत के कारण दुबारा प्राण रक्षा होने से धन्वन्तरि गुरु महाराज का और भी दृढ़ भक्त बन गया और पुनः उनकी सेवा में उपस्थित होकर व्रतों की याचना करने लगा। इस बार आचार्य ने उसे बिना विचारे कोई काम न करने का व्रत दिया। एक दिन रात में नगरके मुखिया के मकान पर नटों का नृत्य होता था। उसे देखकर धन्वन्तरि देर से घर लौटा। धीरे से द्वार खोलकर जैसे ही उसने अन्दर देखा, अपनी माता और पत्नी को गाढ़ आलिंगन पूर्वक सोते हुए पाया। परपुरुष की आशङ्का से उसे मारने के लिए जैसे ही धन्वन्तरि ने तलवार ऊपर उठाई वैसे ही उसे आचार्यके द्वारा दिये हुए व्रत का स्मरण हो आया। भाग्यवश उसी समय उसने पत्नी की आवाज सुनी, जो कह रही थी-माता ! 'जरा दूर हटो, मुझे कष्ट हो रहा है।' तब धन्वन्तरि सोचने लगा-'यदि मैंने यह व्रत न लिया होता तो आज अवश्य ही माता और पत्नी को मारकर इस लोकमें निन्दाका और परलोकमें भारी पाप का भागी होता।' यह सोचते ही उसे वैराग्य हो गया। तब सब परिवार के लोगों के मन को जैसे-तैसे सान्त्वना देकर उसने जिन दीक्षा लेने का विचार किया। आचार्य ने कहा कि जिस देशमें अपनी बदनामी हो उस देश में धारण किया हुआ आचरण निरपवाद नहीं रहता। अतः आचार्य की आज्ञा से धरणिभूषण नाम के पर्वतके समीप में तपस्या करने वाले, श्रीधर्माचार्य के पास जाकर उसने जिनदीक्षा धारण कर ली। आम्नाय की जानने योग्य सब बातों को जानकर धन्वन्तरि मुनि उसी पहाड़ की उपत्यका में आतापन योग से स्थित होकर आत्मध्यान में लीन हो गये। उन्हें देखकर यह सन्देह होता था क्या यह इसी पर्वत से निकला है या पत्थरमें उकेरी गई कोई आकृति है?

एक दिन विश्वानुलोम अपने मित्र धन्वन्तरि से मिलनेकी उत्कण्ठा के साथ उसके घर गया। और वहाँ उसे धन्वन्तरि के कुटुम्बिजनों से उसके दीक्षा लेने का सब समाचार ज्ञात हुआ। 'मेरे मित्र धन्वन्तरि की जो दशा हुई वही मेरी भी हो' ऐसी प्रतिज्ञा करके वह धन्वन्तरि के पास आया और जैन मुनि के आचार को न जानता हुआ कहने लगा- 'अरे प्रिय मित्र ! बहुत दिनों के बाद मिले हो। क्यों नहीं मुझसे गले मिलते? क्यों मुझ से बात नहीं करते? क्यों आदर के साथ मेरे कुशल समाचार नहीं पूछते?' इस प्रकार बड़े प्रेम से बोलनेपर भी धन्वन्तरि मुनि आत्मध्यान में लीन रहे। इससे रुष्ट होकर, विश्वानुलोम उसी पहाड़ के समीप एक कुटी में रहने वाले जटाधारी साधु के निकट जटाधारी साधु बन गया। आतापन योग के समाप्त होने पर धन्वन्तरि मुनि उसे समझाने गये। बोले— 'मेरे प्रेमरूपी पथिक के विश्राम करने के लिए उद्यान के तुल्य विश्वानुलोम ! जैन धर्म की मर्यादा को न जानकर, बिना कारण क्रोध करके तुम क्यों कुमार्गगामी हो गये हो? चलो इस कुमार्ग को छोड़ो, दोनों साथ ही तपस्या करेंगे।' इस प्रकार बार-बार कहने पर भी विला वके बच्चे के शब्दसे डरे हुए पक्षी शावक की तरह मूक रहकर वह मौन का ढोंग बनाये रहा और चलनी में दूध की तरह उसके मन में धन्वन्तरि का सदुपदेश नहीं ठहर सका। तब धन्वन्तरि उसे समझाने में अपने को असमर्थ जानकर गुरु के पादमूल में लौट आये और आगमानुसार उत्कृष्ट चारित्र का पालन करते हुए शरीर त्यागकर देवांगनाओं के मंगलगान से मुखरित सोलहवें स्वर्ग में अमितप्रभ नामक देव हुए। वहाँ देव समाज ने उनके महातप की बड़ी प्रशंसा की। विश्वानुलोम भी मरकर विजय नामक व्यन्तर की गजसेना में विद्युत्प्रभ नाम से वाहन जाति का देव हुआ।

एक बार अष्टाहिका पर्व में अमितप्रभ देव इन्द्रादिक देवताओं के साथ नन्दीश्वर दीप के चैत्यालयों की पूजा करके लौट रहा था। मार्ग में विद्युत्प्रभ नाम के हाथी को देखकर उसका मन बड़ा हर्षित हुआ और अवधिज्ञान से पूर्व जन्म का सब वृत्तान्त जानकर वह बोला 'विद्युत्प्रभ ! क्या पूर्व जन्म का वृत्तान्त याद है ?'

विद्युत्प्रभ बोला- 'अमितप्रभ, हाँ, खूब याद है। किन्तु सपत्नीक चारित्र का पालन करने से मेरा कर्मोदय ऐसा हुआ और ब्रह्मचर्य के कारण कायक्लेश उठाने से तेरा कर्मोदय ऐसा हुआ। किन्तु मेरे समय के जो जमदग्नि, मतङ्ग, पिंगल, कपिञ्जल आदि महर्षि हैं वे तपस्या के प्रभाव से यहाँ आकर तुमसे भी बड़े देव होंगे। इसलिए मुझे देखकर तुम्हें आश्चर्य नहीं करना चाहिए।' अमितप्रभ बोला- 'विद्युत्प्रभ ! अब भी अपने दुराग्रह को नहीं छोड़ते हो तो आओ हम दोनों अपने-अपने धर्मात्माओं के चित्त की परीक्षा करें। इस प्रकार परस्पर में झगड़ते हुए वे दोनों देव करहाट देश की पश्चिम दिशा में पृथ्वी पर उतरे। वहाँ दण्डकारण्य वन में समिधा, कुश और कमलों से भरे हुए बदरिकाश्रम में उन्होंने बहुत काल से कठोर तपस्या करते हुए कश्यप ऋषि के शिष्य जमदग्निको देखा। वे जमदग्नि ऋषि चन्द्र और सूर्य दोनों की किरणों का पान करने में तत्पर थे। उनके दोनों हाथ ऊपर उठे हुए थे, वे एक पैर से खड़े थे। उनके चारों ओर उगी हुई घनी लता झाड़ी और वामियों ने उनके शरीर को ढक दिया था, और बहुत वृद्ध हो जाने के कारण उनके सिर और दाढ़ी मूछों के बाल चूने की तरह सफेद हो गये थे। उन्हें देखकर उन दोनों देवताओं ने पक्षियों के जोड़े का रूप बनाया और उनकी जटाओं में घोंसला बनाकर रहने लगे। एक दिन पक्षी बोला- 'प्रिये ! सुवर्णगिरि की उपत्यका में समस्त पक्षीकुल के सम्राट गरुड़राज का वातराज की सुता मदनकन्दली के साथ महान् विवाहोत्सव हो रहा है। उसमें मुझे अवश्य जाना है। तुम्हारा प्रसवकाल समीप है इसलिए तुम्हें मैं अपने साथ नहीं ले जा सकता। विवाहोत्सवके बाद तुरन्त ही मैं लौट आऊँगा। मैं अपने माता-पिता की शपथ करता हूँ कि मैं वहाँ बहुत समय तक नहीं ठहरूँगा। अधिक क्या कहूँ, यदि झूठ बोलूँ तो इस पापी तपस्वीके पापका भागी मैं होऊँ।' इस अप्रिय बातके सुनते ही जमदग्निका क्रोध भड़क उठा और उसने पक्षियोंको मारने के लिए दोनों हाथों से अपने सिर को मसला। दोनों पक्षी भी तत्काल उड़कर उसके सामने वाले वृक्षपर जा बैठे, और मीठे शब्दों में उस तापस की खूब हँसी करने लगे। यह देखकर तापस का मन भय और आश्चर्य से भर गया। वह सोचने लगा- 'ये दोनों पक्षी नहीं हैं किन्तु रूप बदले हुए शिव और पार्वती के समान कोई देवता हैं अतः इनके पास जाकर और प्रणाम करके अपने पापी होने का कारण पूछूँ।

'यह सोच उनके पास जाकर वह बोला- 'दिव्य द्विजश्रेष्ठ कुल में उत्पन्न पक्षियुगल ! मेरे पूर्व संचित पुण्य से ही आपका दर्शन हुआ है। बतलाइए। मैं कैसे पापी हूँ।'

पक्षी बोले- 'सुनो तपस्वी- स्मृतिकारों का कथन है कि बिना पुत्र के मनुष्य की गति नहीं होती और स्वर्ग तो मिलता ही नहीं है। इसलिए पुत्र का मुख देखकर पीछे भिक्षुक होना चाहिए ॥ तथा-विधिपूर्वक वेदों का अध्ययन करके, धर्मपूर्वक पुत्रों को उत्पन्न करके और शक्ति के अनुसार यज्ञ करके फिर साधु होना चाहिए ॥152-153॥

किन्तु -तुम स्मृतिकार के इस कथन को प्रमाण न मानकर तपस्या करते हो।'

'तो मेरा परलोक कैसे शुभ हो सकता है ?' '

विवाह करके और से पुत्र उत्पन्न करने से।

'यह क्या कठिन है'-ऐसा कहकर जमदग्नि ऋषि ने विजया महादेवी के पति, इन्द्रपुर के समान ऐश्वर्य के भोगी अपने मामा काशीराज के महल में जाकर उनकी लड़की रेणुका से विवाह कर लिया और तृण लता वगैरह से सुशोभित गंगा के तट पर एक बड़ा आश्रम स्थापित करके परशुराम के पिता बन गये।

ऐसे ही लोगों के लिए किसी ने कहा है

'आत्मज्ञान से शून्य मनुष्य का व्रताचरण का प्रयास व्यर्थ है। ठीक ही है जो मनुष्य स्वभाव से ही डरपोक है, शस्त्र ग्रहण करने से उसमें शौर्य नहीं आ जाता ॥154॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में जमदग्नि के तप को बतलाने वाला पाँचवाँ कल्प समाप्त हुआ।

जिनदत्त और राजा पद्मरथ के प्रतिज्ञा निर्वाह का साहस

ग्रन्थ :

इत्युपासकाध्ययने जमदग्निपःप्रत्यवसादनो नाम पञ्चमः कल्पः / पुनस्तौ त्रिदशौ मगधदेशेषु कुशाग्रनगरोपान्तापातिनि पितृवने कृष्णचतुर्दशीनिशि निशाप्रतिमाशयवशमेकाकिनं जिनदत्तनामानमुपासकमवलोक्य साक्षेपम् 'अरे दुराचाराचरणमते निराकृते अविदितपरमपद मनुष्यापसद, शीघ्रमिमामूर्ध्वशोषं शुष्कस्थाणुसमां प्रतिमां परित्यज्य पलायस्व / न श्रेयस्करं खलु तवात्रावसरं पश्यावः / यस्मादावां होतस्याः परतपुरभूर्यस्या भूमेः पिशाचपरमेश्वरौ / तदलमत्र कालव्यालावलोकनकरप्रस्थानेन / मा हि कार्षीरन्तरायोत्कर्ष भावमतुच्छस्वच्छन्दकेलिकुतूहलबहलान्तःकरणप्रसवयोरावयोः' इत्युक्तमपि प्रकामप्रणिधानोद्युक्तमवेक्ष्य न्यतः कीनाशकाशरनिकायकायाकारघोरघनघस्मराडम्बरप्रथमप्रारम्भाव हैः प्रचण्डतडिदण्डसंघहोच्छलच्छब्दसंदोहदुःस हैः निःसीमसमीरासरालसूत्कारसारप्रसरप्रबलैः करालवेतालकुलकाहलकोलाहलानुकूलैरन्यसामान्यैरन्यैश्च परिगृहीतगृहदाहबान्धवधनविध्वंसानुबन्धैः प्रत्यूहप्रबन्धैः" सबहुमानैस्तत्तद्वरप्रदानैश्च निःशेषामप्युषामध्यात्मसमाधिनिरोधनिघ्नौ विहितविघ्नावपि तमेकाग्रभावाभ्यासात्मसात्कृतान्तःकरणबहिःकरणेहितं शर्महर्म्यनिर्माणकार्मणपरमाणुप्रबन्धनाद्धर्मध्यानाज्वालयितुं न शेकतुः। संजाते च खरकिरणविरोकनिकरनिराकृतान्धकारोदये प्रभातसमये समुपहृतोपसर्गव! प्रकामप्रसन्नसर्गौ तैस्तैर्महाभोगाचितैः प्रणयोदितैराश्लाघ्य तस्मै जिनदत्ताय विहायोविहाराय पञ्चत्रिंशद्वर्णानवद्यां विद्यां वितेरंतुः / इयं हि विद्या तवास्मदनुग्रहादम्बरविहारायासंसाधितापि भविष्यति परेषां त्वस्माद्विधेरिति ॥

जिनदत्तोऽपि कुलशैलशिखण्डमण्डनजिनायतनालोकनकुतूहलिताशयः समाचरितामरानुवर्तनसमयस्ता विद्यां प्रतिपद्य हृदयदर्शनोत्सवसमानीतनिखिलनिलिम्पोचलचैत्यालयस्तदवलोकनकृतकौतुकाय धरसेनाय परमाप्तोपासनपटवे पुष्पवटवे प्रादात् । पुनरप्यमितप्रभः 'विद्युत्प्रभ, जिनदत्तोऽयमतीवार्हदभितवस्तुपरिणतचित्तः स्वभावादेव च स्थिरमतिरशेषोपसर्गसहनप्रकृतिश्च / तदत्र महदप्यपकृतं कुलिशे घुणकीटचेष्टितमिव न भवति समर्थम् / अतोऽन्यमेव कञ्चनाभिनवजिनोपासनायतनचैतन्यं निकषाव' इति विमृश्योच्चलिताभ्यामेताभ्यां मगधमण्डलमण्डनसनाथो मिथिलापुरीनाथः पद्मरथो नाम नरपतिर्निजनगरनिकटतटीधरवृत्तदेहायां कालगुहायां निवासरसमनसो दीप्ततपसो निःशेषानिषिषपरिषनिषेव्यमाणाचरणचातुर्यात्सुधर्माचार्यात्तदङ्गाद्भुतप्रभाप्रभावदर्शनोलिए पशान्ताशयः सम्यग्दर्शनमणुव्रताश्रयमादाय तदिवस एव तदुपदेशानिश्चितात्परमेश्वरशरीरनिरतिशयप्रकाशमहिमः कृतनियमः सकलभुवनपतितस्तूयमानगुणगणोदन्तं श्रीवासुपूज्यभगवन्तमुपासितुं प्रतिष्ठमानः प्रमदेनादसुन्दरदुन्दुभिरवाकारितनिरवशेषपरिजनः समासत्समस्तविष्टविशिष्टादृष्टचेष्टः । .. स च दृष्टः कदाचिदपि क्षुद्रोपद्रवाविप्रलब्धः प्रारब्धश्च "पुरप्लोषान्तःपुरविध्वंसवस्त्रुथिनीमथनप्रसभ्रभञ्जनोर्जितपर्जन्यपुरुषवर्षोपलासारादिवसतिभिर्दमशार्दूलोत्तराकृतिभिर्विकृतिभिरुपद्रोतुम् । तथाप्यविचलितचेतसमवसायं सनरवरं कुजरं मायामयप्रतिधे स्ताघे व्याप्ताखिलदिगारामसंगमे कर्दमे निमजयद्यां ताभ्यां 'नमः सुरासुरोपसर्गसंगसूदनाभिधानमात्रमन्त्रमाहात्म्यसाम्राज्याय श्रीवासुपूज्याय' इति तत्र निमजतो भूभृतो वचनमाकर्ण्य तद्धैर्योत्कर्षोन्मिपत्तोषमनीषाप्रसराभ्यां लघुपरिमुषिताशेषविघ्नव्यतिकराभ्यामाचरितसत्काराभ्याम् 'अहो नूतनस्य सम्यक्त्वरत्नस्याच्छमसनपथ पत्ररथ, नैतचित्रमत्र यत्संधासत्त्वाभ्यामखिलैरपि लोकेरसदृशेषु भवादृशेषु न प्रभवन्ति प्रसंभप्रसवाः खुद्रोपद्रवाः । यतः। एकापि समर्थेयं जिनभक्तिर्दुर्गति निवारयितुम् ।

पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः ॥155॥

इति निगीर्य, वितीर्य च जिनसमयाराधनवशे भवद्वंशे सर्वरुजापहारोऽयं हारः, सकलसपत्नसंतानोच्छेद्यमिदमातोद्यं च प्रेषणं करिष्यतीति कृतसंकेताभ्यां तवयमभिमतावस्थानं स्थान प्रास्थापि / त्रिदशेश्वरवदनजृम्भमाणगुणसंकथः पद्मरथोऽपि तत्तीर्थकृतो गणधरपदाधिकृतो भूत्वा कृत्वा चात्मानमनूनरत्नत्रयतन्त्रं मोक्षामृतपात्रमजायत / भवति चात्र श्लोक :-

उररीकृतनिर्वाहसाहसोचितचेतसाम् ।

उभौ कामदुघौ लोको कीर्तेश्चाल्यं जगत्त्रयम् ॥156॥

इत्युपासकाध्ययने जिनदत्तस्य पद्मरथपृथ्वीनाथस्य च प्रतिज्ञानिर्वाहसाहसो नाम षष्ठः कल्पः।

फिर वे दोनों देव मगध देश के कुशाग्र नगर के निकटवर्ती स्मशान में पहुँचे। कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी की रात्रि का समय था । जिनदत्त

नामका एक जैन श्रावक अकेला रात्रि में प्रतिमा योगसे स्थित था । उसे देखकर वे दोनों देव तिरस्कारपूर्वक बोले- 'अरे दुराचारी, विरूप, परम पद से अनजान, नीच मनुष्य ! शीघ्र ही इस सूखे ढूँठ के समान प्रतिमायोग को छोड़कर भाग जा। तेरा यहाँ ठहरना ठीक नहीं है क्योंकि हम दोनों इस स्मशान भूमिके पिशाचों के स्वामी हैं। हम दोनों का अन्तःकरण अति स्वच्छन्द होकर क्रीड़ा करने के लिए आतुर है। इसमें बाधा मत डालो।'

इस प्रकार कहने पर भी उसे आत्मध्यान में तल्लीन देखकर उन दोनों ने विघ्न करना प्रारम्भ किया। यमराज के समान भयंकर काले-काले मेघ उमड़ आये, बिजली का भयंकर गर्जन तर्जन होने लगा, जोर की हवा सर-सर करती हुई बहने लगी, भयानक वेतालों की आवाज के जैसी आवाजें होने लगीं, जब इससे भी वह विचलित नहीं हुआ तो उसका गृह-दाह, बन्धु-बान्धवों और धनादिक का विनाश होता हुआ उसे दिखाया गया। जब इससे भी विचलित नहीं हुआ तो बड़े आदर के साथ उसे अनेक वरदान दिये गये । इस प्रकार उसकी समाधि को भंग करने के रातभर दोनों ने विघ्न किये, किन्तु एकाग्रता के अभ्यास से अपने मन को वश में कर लेने वाले उस जिनदत्त श्रावक को वे सुख का महल बनाने वाले कर्म परमाणुओं के बन्ध में कारणभूत धर्मध्यान से विचलित नहीं कर सके ।

इतने में प्रभात हो गया, सूरज की किरणों के प्रकाश से अन्धकार दूर हो गया। तब उन्होंने अपने उपसर्गों को समेट लिया और अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए भाग्यशालियों के योग्य प्रेमभरे वचनों से जिनदत्तकी प्रशंसा करके उसे आकाशमें बिहार करनेके लिए पैतीस अक्षरों की एक निर्दोष विद्या प्रदान की । और कहा- 'यह विद्या बिना साथे ही हमारे प्रभाव से तुम्हें आकाश में विहार करा सकेगी और दूसरों को अमुक विधि से सिद्ध करने पर विहार करा सकेगी।

जिनदत्त का मन भी कुलाचलों पर स्थित जिनालयों के दर्शनके लिए आकुल था । अतः उसने देवताओं के कहे अनुसार उस विद्या को ग्रहण करके सब कुलाचलों पर स्थित चैत्यालयों का दर्शन किया और फिर वह विद्या उन चैत्यालयों के दर्शनके लिए उत्सुक, जिनेन्द्र देव के परम भक्त धरसेन को दे दी।

फिर अमितप्रभ विद्युत्प्रभ से बोला- 'विद्युत्प्रभ ! इस जिनदत्त का चित्त अर्हन्त भगवान के द्वारा कहे गये वस्तु तत्त्व के विषय में बहुत दृढ़ है तथा यह स्वभाव से ही स्थिर बुद्धि और समस्त उपसर्गों को सहन करने वाला है। इसलिए जैसे घुन के कीड़े वज्र में कुछ भी नहीं कर सकते वैसे ही कितना भी अपकार इसका कुछ भी बिगाड़ने में समर्थ नहीं है। अतः आओ जैन धर्म के किसी नये उपासक की परीक्षा करें । ' ऐसा विचार कर दोनों वहाँ से चल दिये और मगध देश के मण्डन स्वरूप मिथिलापुरी में पहुँचे । मिथिलापुरी का राजा पद्मरथ था । एक दिन वह राजा अपने नगर के निकटवर्ती पहाड़ की भयानक गुफा में रहने वाले, महातपस्वी, समस्त देवों से सेवनीय और आचरणमें प्रवीण श्रीसुधर्माचार्य के दर्शनों के लिए गया। उनके शरीर की अद्भुत प्रभा और प्रभाव देखकर उसका राग शान्त हो गया और उसने उनसे सम्यग्दर्शन पूर्वक अणुव्रत धारण कर लिये । उसी दिन उसने आचार्य के उपदेश से अर्हन्त भगवान्के अतिशय युक्त शरीर की महिमा को समझ लिया और नियम लेकर समस्त 'भुवनके स्वामी जिनके गुणोंका बखान करते हैं उन श्रीवासुपूज्य भगवान्के दर्शनों के लिए चल दिया । दुन्दुभिके मधुर शब्द को सुनकर समस्त परिजन भी साथ हो गये।

दोनों देवताओं ने उस राजा को जाता हुआ देखा जो कभी भी क्षुद्र उपद्रवों से भी सताया नहीं गया था, और परीक्षा लेने के लिए विघ्न करना प्रारम्भ कर दिया। नगर दाह, रनवास का विनाश, सेना का नाश, जोर की हवा चलाकर मेघों के द्वारा घनघोर वर्षा, उल्कापात आदिके द्वारा तथा भयंकर सिंहों की आकृतियों के द्वारा उपद्रव करने पर भी जब पद्मरथ राजा का मन विचलित नहीं किया जा सका तो उन दोनों ने चारों ओर मायामयी कीचड़ बनाकर राजा सहित हाथी को उसमें डुबा दिया। डूबते हुए राजा के मुखसे निकला- 'जिनके नाम मात्र से सुर और असुरों के द्वारा किये गये उपसर्ग दूर हो जाते हैं उन वासुपूज्य भगवान्को नमस्कार है।'

यह शब्द सुनते ही उन दोनों देवों को परम हर्ष हुआ, उन्होंने तुरन्त ही सब विघ्नों को दूर कर दिया और राजाका सत्कार करते हुए बोले- 'नये सम्यक्त्व रूपी रत्न के आश्रय रूप निष्कपट पद्मरथ ! प्रतिज्ञा और साहस में आपके समान कोई नहीं है, आप जैसे लोगों पर बलात् किये गये क्षुद्र उपद्रवों का कोई प्रभाव नहीं हो सकता। क्योंकि -

अकेली एक जिन-भक्ति ही ज्ञानी के दुर्गति का निवारण करने में, पुण्य का संचय करने में और मुक्ति रूपी लक्ष्मी को देने में समर्थ है ॥

155॥

यह कहकर उसे एक हार और वाद्य दिया तथा कहा कि यह हार जैन धर्म का पालन करने वाले तुम्हारे वंश के सब रोगों को हरेगा और यह

वाद्य समस्त वैरियों की सन्तान का नाश करेगा। ऐसा कहकर वे दोनों देव अपने अभिमत स्थान को चले गये। देवों के द्वारा प्रशंसित पद्मरथ भी वासुपूज्य स्वामी के समवशरण में जाकर जिनदीक्षा धारण करके भगवान्का गणधर बन गया और अपने को सम्पूर्ण रत्नत्रय से अलंकृत करके मोक्षरूपी अमृत का पात्र हो गया।

किसी ने ठीक ही कहा है कि -

जो अपनी प्रतिज्ञा का निर्वाह करने में उचित साहस दिखलाते हैं, इस लोक और परलोकमें वे इच्छित वस्तुको पाते हैं, तथा उनके यशसे तीनों लोक चलायमान हो जाते हैं ॥156॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में जिनदत्त और राजा पद्मरथ के प्रतिज्ञा निर्वाह के साहस को बतलाने वाला छठा कल्प समाप्त हुआ।

निःशंकित तत्त्व

कल्प - ७

ग्रन्थ :

इतश्च संगमितंसकलोपकरणसेनो धरसेनोऽप्यतुच्छभूच्छायावन्ध्ये पर्वेदिवसांसतेयीमध्ये सर्वतो यातुधानधावनप्रवर्धिनीषु स्मशानमेदिनीषु प्रवर्तिततदारार्थानुक्कूलमण्डलो न्यतासु"दितु नितितरक्षावलोऽवगणः" कृतसकलीकरणो "भागधेयीविधानसमये वटवितपाने "पतिवराकरकर्तितसूत्रसरसहस्रसंपादितमात्मासनसमानान्तरालोचितमन्तजल्पसंकल्पितमन्त्रवाक्यः सिक्कं निबध्य प्रबन्धना धस्तादूर्ध्वमुखविन्यस्तनिशिताशेषशस्त्रो यथाशास्त्रं बहिर्निवेशिताष्टविधेष्टिसिद्धिस्तद्विद्वाराधनसमृद्धबुद्धिर्बभूव ।

अत्रान्तरे निष्कारणकलिकार्याअनसुन्दर्या निशीथ'पथवर्तिवीक्षणे क्षपाक्षणे मध्यदेशे प्रसिद्धविजयपुरस्वामिनः सुन्दरीमहादेवीविलासिनः स्वकीयप्रतापबहुल वाहनाहुतीकृतारातिसमितेररिमन्थमहीपतेर्ललितो नाम सुतः समस्तव्यसनाभिभूतत्वाद्वायं

दक्रव्यादसंपादितसाम्राज्यपदापायः परमुपायमपश्यन्नृदृश्याज्जनावर्जनोर्जितप्रज्ञः प्रतीताज्जनचोरापरसंशः

किलैवमुक्तः-'कुशाग्रेपुरपरमेश्वरस्याग्रमहिण्यास्ताविष्याः सौभाग्यरत्नाकरं नाम कण्ठालंकारमिदानीमेव यदानीय प्रयच्छसि, तदा त्वं मे कान्तः, अन्यथा प्रणयान्तः' इति । . सोऽपि कियद्गहनमेतत्' इत्युदारमुदाहृत्य प्रियतमामनोरथमन्वर्थकं

चिकीर्षुनिजच्छायाशयताशीलकजलबहललोचनयगलं विधाय प्रयार्य च तन्महीश्वरगृहं

गृहीततदलंकारस्तत्प्रभाप्रसरसमुल्लक्ष्यमाणचरणसंचारः शब्दशस्त्रोत्तालाननकरैस्तलवरानुचरैरभियुक्तो निस्तरितुमशक्तः परित्यज्य तदाभरणमितस्ततो नगरबाहिरिकायां विहरमाणस्तं धरसेनं प्रदीपं दीप्तिवशादधस्तादत्रनिवेशभयावेशान्मुहुर्मुहुरारोहावरोहावहदेहदोनम लोक्योपढौक्य च तं देशमेवं निर्दिदेश-'अहो प्रलयकालान्धकाराविलायामस्यां वेलायां महासाहसिकवृष्णदुष्करकर्मकारिन् को नाम भवान् ?

धरसेनः-'कल्याणवन्धो, महाभागवृत्तस्य जिनदत्तस्य विदितपुष्पबटुनियोगसंबन्धोऽहमेतदुपदेशादाकाशविहारव्यवहारनिषद्यां विद्यां सिसाधयिषुरत्रायाशिषम्' । अज्जनचोरः-'कथमियं साध्यते।' धरसेनः-कथयामि । पूजोपचारनिषेक्ये ऽस्मिन्निःशङ्कमुपविश्य विद्यामिमामकुण्ठकण्ठं पठन्नेकैकं शरप्रवेकं स्वच्छधीश्छिन्द्यादवसाने गगनगमनेन युज्यते । यद्येवमपसरापसर । त्वं हि तलोन्मुखनिखातनिशितशस्त्रसंजातभीतमतिर्न खलु भवस्यैतत्साधने यज्ञोपवीतदर्शनेनार्थावर्जनकृतार्थः समर्थः । तत्कथय मे यथार्थवादहृद्यां विद्याम् । एनां साधयामि' । ततस्तेनात्महितकटुना पुष्पवटुना साधुसमर्पितविद्यः सम्यग्विदितवेद्यः संत्रीत्याऽऽ. सन्नशिवागारोऽनचौरः स्वप्नेऽप्यपरवज्जनाचारनिवृत्तचित्तो जिनदत्तः । स खलु महतामपि महान्प्रति पन्नदेशयतिव्रततन्त्री जन्तुमात्रस्याप्यन्यथा न चिन्तयति, किं पुनश्चिराय समाचरितोपचारस्य तनूद्भवनिर्विशेषं पोषितस्यास्य धरसेनस्यान्यथा चिन्तयेत्' इति निश्चित्य निविश्य च सौत्सुक्यं सिक्क्ये निःशङ्कशेमुषीकः स्वकीयसाहसव्यवसायसंतोषितसुरासुरानीकः सकृदेव तच्छरप्रसरं चिच्छेद, आससाद च खेचरपदम् । पुनर्यत्र जिनदत्तस्तत्र मे गमनं भूयादिति विहिताशंसनः काज्जनाचलमेखलानिलयिनि सौमनसवनोदयिनि जिनसमनि जिनदत्तस्य धर्मश्रवणकृतो गुरुदेवभगवतः समीपे तपो गृहीत्वावगाहितसमस्तैतिह्यतत्त्वो हिमवच्छेलचूलिकोन्मीलितकेवलज्ञानः कैलासकेसरकान्तारगतो मुक्तिश्रीसमागमसङ्गिभोगायतनो बभूव ।

भवति चात्र श्लोकः

क्षत्रपुत्रोऽक्षविक्षिप्तः शिक्षितादृश्यकज्जलः ।

अन्तरिक्षगति प्राप निःशङ्कोऽजनतस्करः ॥157॥

अब जिस धरसेन को जिनदत्त ने देवों के द्वारा दी गई आकाशगामिनी विद्या साधने के लिए दी थी, उसकी कथा सुनिए । समस्त साधन सामग्री को एकत्र करके धरसेन भी घने अन्धकार से पूर्ण अमावस्या की रात्रि के समय में राक्षसों के संचार से व्याप्त स्मशान भूमि में विद्या साधने के लिए गया। वहाँ उसने विद्याराधन के अनुकूल मण्डल की रचना की, सब दिशाओं में रक्षावलय स्थापित किये, फिर सकलीकरण क्रिया की, फिर बट के पेड़ के नीचे, अपने आसन से समान अन्तराल पर, कन्या के हाथसे काते गये हजार धागों से बने हुए छीके को, मन-ही-मन मंत्रोच्चारण करते हुए बाँधा। फिर छीके के नीचे सब तीक्ष्ण शस्त्रों को स्थापित किया, जिनका मुँह ऊपर की ओर था। फिर शास्त्रानुसार आठ प्रकार की इष्ट सिद्धि को स्थापित करके उस विद्या की आराधना के लिए तैयार हुआ इसी बीचमें एक घटना घटी। मध्य देश के विजयपुर नगर का स्वामी राजा अरिमन्थ बड़ा प्रतापी था। उसकी पट्टरानी का नाम सुन्दरी था। उनके ललित नाम का एक पुत्र था। वह बड़ा व्यसनी था । इसीलिए उसे अन्य बान्धवों ने उसके राज्यपद प्राप्ति में बाधाएँ डाली। तब उसने दूसरा उपाय न देखकर एक ऐसा अञ्जन सिद्ध किया जिसके लगा लेने से वह अदृश्य हो जाता था। इससे उसकी शक्ति बहुत बढ़ गई और उसका नाम अञ्जन चोर प्रसिद्ध हो गया ।जिस रात्रि में धरसेन विद्या साधने का उपाय करता था उसी रात्रि में जब अञ्जन चोर अपनी प्रियतमा के पास गया तो उसने कहा- 'कुशाग्रपुर के राजा की पट्टरानी के गले का 'सौभाग्यरत्नाकर' नाम का आभूषण यदि इसी समय लाकर मुझे दोगे तो तुम मेरे पति हो, नहीं तो हमारे तुम्हारे प्रेम का अन्त है।' यह सुनकर अञ्जनचोर बोला-'यह क्या कठिन है।' इतना कहकर अपनी प्रियतमा के मनोरथ को पूरा करने के लिए वह अपनी आँखों में अञ्जन लगाकर अदृश्य हो गया और उस राजा के महल में पहुँचा। जैसे ही वह उस आभूषण को चुराकर चला वैसे ही उसकी चमक से कोतवालके सशस्त्र सिपाहियों ने उसके पद-संचार को लक्ष्य करके हल्ला करते हुए उसका पीछा किया। निकल भागने में अपने को असमर्थ देखकर अञ्जनचोर ने उस आभूषण को वहीं छोड़ दिया और नगर के बाहर इधर-उधर भागता हुआ जलते हुए दीप को देखकर उस स्थान पर आया जहाँ धरसेन नीचे लगे हुए अस्त्रों के भय से कभी छी कैसे उतरता था और कभी चढ़ता था।

'प्रलयकाल के अन्धकार से व्याप्त इस काल में दुष्कर कर्म करने वाले महा साहसी पुरुष ! तुम कौन हो ?' अजन चोर ने पूछा धरसेन - मेरे हितैषी मित्र ! महाभाग जिनदत्त के उपदेश से आकाशविहारिणी विद्या को सिद्ध करने की इच्छासे मैं यहाँ आया हूँ । अञ्जनचोर-यह कैसे साधी जाती है ?

धरसेन - पूजा के द्वारा सिञ्चित इस छीके पर निःशङ्क बैठकर इस विद्या को मन्दस्वर से पढ़ते हुए निर्मल मन से छीके की एक-एक डोर को काटना चाहिए। ऐसा करनेसे अन्त में आकाशगामिनी विद्या सिद्ध हो जायगी।

अञ्जनचोर- हटो हटो, छीके के नीचे खड़े किये गये तीक्ष्ण शस्त्रों से तुम भयभीत हो गये हो, इसलिए जनेऊ दिखाकर ही अपना काम निकालने वाले तुम इस विद्याको सिद्ध नहीं कर सकते । अतः इस सच्ची विद्या को मुझे बतलाओ । मैं इसको साधता हूँ। यह सुनकर आत्महित के वैरी उस धरसेन ने अंजन चोर को भले प्रकार से विद्या अर्पित कर दी। सब बातों को जानकर उसी भव से मोक्ष जाने वाला अञ्जन चोर विचारने लगा-'जिनदत्त सेठ स्वप्न में भी दूसरों को ठगने का विचार नहीं कर सकता। फिर चिरकाल से अपने पुत्र की तरह जिस का लालन-पालन किया है उस धरसेन के विषय में तो वह ऐसा सोच ही कैसे सकता है ?' ऐसा निश्चित करके वह बड़ी उत्कण्ठा के साथ उस छीके पर बैठ गया और निःशंक होकर अपने साहस से सुर और असुरों के समूह को सन्तुष्ट करने वाले उस अञ्जन चोर ने एक साथ ही सब धागोंको काट दिया और विद्याधर बन गया। फिर उसने यह इच्छा की कि जहाँ जिनदत्त है वहीं मैं पहुँचूँ। यह इच्छा करते ही वह सुमेरु पर्वत पर स्थित सौमनस वन के जिनालय में, आचार्य गुरुदेव से धर्म श्रवण करते हुए जिनदत्त के पास पहुँच गया और जिनदीक्षा ग्रहण करके परम्परा से चले आये हुए समस्त तत्त्वों को जानकर हिमवान् पर्वत की चोटीपर केवलज्ञानी बन गया फिर कैलास पर्वत से मुक्ति-श्री को वरण करके मुक्त हो गया।

इस विषयमें एक श्लोक निम्न प्रकार है

अञ्जनचोर राजपुत्र था, किन्तु इन्द्रियों की विषयलालसा ने उसे पागल कर दिया था। तब उसने अदृश्य होने का अञ्जन बनाना सीख लिया। फिर वह निःशंक होकर विद्याधर बन गया । और मुक्त हो गया ॥157॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें निःशंकित तत्त्व को प्रकट करने वाला सातवाँ कल्प समाप्त हुआ।

निःकांक्षित तत्त्व

आठवाँ कल्प

ग्रन्थ :

(अब निष्कांक्षित अंग को बतलाते हैं-)

स्यो देवः स्यामहं यक्षः स्यां वा वसुमतीपतिः।

यदि सम्यक्त्वमाहात्म्यमस्तीतीच्छां परित्यजेत् ॥158॥

उदश्रितेव माणिक्यं सम्यक्त्वं भवजैः सुखैः।

विक्रीणानः पुमान्स्वस्य वञ्चकः केवलं भवेत् ॥159॥

यदि सम्यग्दर्शन में माहात्म्य है तो 'मैं देव होऊँ', 'यक्ष होऊँ', अथवा 'राजा होऊँ' इस प्रकार की इच्छा को छोड़ देना चाहिए। जो सांसारिक सुखों के बदले में सम्यक्त्व को बेच देता है वह छाछ के बदले में माणिक्य को बेच देने वाले मनुष्य के समान केवल अपने को ठगता है ॥158-159॥

चित्ते चिन्तामणिर्यस्य यस्य हस्ते सुरद्रमः ।

कामधेनुर्धने यस्य तस्य कःप्रार्थनाक्रमः ॥160॥

उचिते स्थानके यस्य चित्तवृत्तिरनाकुला ।

तं श्रियः स्वयमायान्ति स्रोतस्विन्य इवाम्बुधिम् ॥161॥

जिस सम्यग्दृष्टि के चित्त में चिन्तामणि है, हाथ में कल्पवृक्ष है, धन में कामधेनु है, उसको याचना से क्या मतलब ? जिसकी चित्तवृत्ति उचित स्थान को पाकर निराकुल हो जाती है, समुद्र में नदियों की तरह लक्ष्मी उसे स्वयं प्राप्त होती है ॥160-161॥

उपासकाध्ययन तत्कुदृष्टयन्तरोद्भूतामिहामुत्र च संभवाम् ।

सम्यग्दर्शनशुद्धिं यथ्यमाकांक्षां त्रिविधां त्यजेत् ॥162॥

अतः सम्यग्दर्शन की शुद्धि के लिए अन्य मिथ्या मतों के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाली, तथा इस लोक और परलोक सम्बन्धी तीन प्रकार की इच्छाओं को छोड़ देना चाहिए ॥162॥

(भावार्थ – सम्यग्दर्शन का दूसरा अंग है निःकांक्षित । जिसका अर्थ है- 'कांक्षा मत करो।' और कांक्षा कहते हैं भोगों की चाह को । जो विषय इन्द्रियों को नहीं रुचते, उनसे द्वेष करना ही भोगों की चाह की पहचान है, क्योंकि इन्द्रियों को रुचनेवाले विषयों की चाह के कारण ही न रुचने वाले विषयों से द्वेष होता है। देखा जाता है कि विपक्ष से द्वेष हुए बिना पक्ष में राग नहीं होता और पक्ष में राग हुए बिना उसके विपक्ष से द्वेष नहीं होता। अतः इष्ट भोगों की चाह के कारण ही अनिष्ट भोगों से द्वेष होता है और अनिष्ट भोगों से द्वेष होने से ही इष्ट भोगों की चाह होती है। जिसके इस प्रकार की चाह है वह नियम से मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि एक तो चाह करने से ही भोगों की प्राप्ति नहीं हो जाती। दूसरे, कर्मों के उदय से प्राप्त होने वाली प्रत्येक वस्तु अनिष्ट ही मानी जाती है। इसलिए ज्ञानी पुरुष कर्म और उसके फल की चाह बिल्कुल नहीं करता। तीसरे, पदार्थों में जो इष्ट और अनिष्ट बुद्धि की जाती है वह सब दृष्टि का ही दोष है, क्योंकि पदार्थ न तो स्वयं इष्ट ही होते हैं और न स्वयं अनिष्ट ही होते हैं। यदि पदार्थ स्वयं इष्ट या अनिष्ट होते तो प्रत्येक पदार्थ सभी को इष्ट या अनिष्ट होना चाहिए था, किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। एक ही पदार्थ किसी को इष्ट और किसी को अनिष्ट प्रतीत होता है। अतः पदार्थों में इष्ट अनिष्ट बुद्धि भी मिथ्यात्व के उदय से ही होती है। जिसके मिथ्यात्व का उदय नहीं होता उसकी दृष्टि वस्तु के यथार्थस्वरूप को देखती है और यथार्थ में कर्मों के द्वारा प्राप्त होनेवाला फल अनिष्ट ही होता है क्योंकि वह दुःख का कारण है । अतः सम्यग्दृष्टि कर्मों के द्वारा प्राप्त होने वाले भोगों की चाह नहीं करता।)

निष्कांक्षित अंग में प्रसिद्ध अनन्तमति की कथा

मनङ्गमतिमेवमपृच्छत्- 'वत्से, अभिनवविवाहभूषणसुभगहस्ते, वास्ते 'समुल्लिखितलाञ्छनेन्दुसुन्दरमुखी प्रियसखी तवातीवकेलिशीलप्रकृतिरनन्तमतिः।'

अनङ्गमतिः- 'तात, वणिग्वृन्दारक दारिकोद्गीयमानमङ्गला कृत्रिमपुत्रकवरव्याजेनात्मपरिणयनाचरणपरिणामपेशला

पञ्जरास्थितशुकसारिकावदनवाद्यसुन्दरे वासोवासपरिसरे समास्ते।

'समाहृत्यतामितः'। '

यथादिशति तात'। ,

प्रियदत्तश्रेष्ठी वृद्धभावात्परिहासालापनपरमेष्ठी समागतां सुतामवलोक्य 'पुत्रि, निसर्गविलासरसोत्तरङ्गापाङ्गीपहसितामृतसरणिविषये सदैव पञ्चालिकाकेलिकिलहृदये संप्रत्येव तव मन्मथपथाः परिणयनमनोरथाः। तद् गृह्यतां तावत्समस्तव्रतैश्वर्यवर्य ब्रह्मचर्यम्। अत्रैष ते सातो भगवानशेषश्रुतप्रकाशनाशयभूरिधर्मकोर्तिसूरिः॥

अनन्तमतिः-तात, नितान्तं गृहीतवत्यास्मि । न केवलमत्र मे भगवानेव साक्षी किंतु भवानम्बा च । अन्यदा तु। उद्भिन्ने स्तनकुङ्मले स्फुटरसे हासे विलासालसे किंचित्कम्पितकैतवाधरभरप्राये वचःप्रक्रमे।

अब इस विषय में एक कथा कहते हैं, उसे सुनिए अंगदेश की चम्पा नगरी में वसुवर्धन नाम का राजा राज्य करता था। उसकी पट्टरानी का नाम लक्ष्मीमति था । राज्य श्रेष्ठी प्रियदत्त था और उसकी पत्नी अंगवती थी । एक बार एकदम प्रातः अष्टहानि का पर्व का क्रिया कर्म करने के लिए प्रियदत्त सेठ स्त्रियोचित सकल गुणों से युक्त अपनी पत्नी के साथ सहकूट चैत्यालय जाने को था । उसने अपनी लड़की की सखी अंगमती से पूछा विवाहके नये भूषणों से अलंकृत पुत्री अतीव परिहास प्रिय तेरी सखी चन्द्रमुखी अनन्तमती कहाँ है ?

अंगमती बोली-'पिता जी ! स्वच्छन्द विचरण करने वाले तोता मैना के मधुर कलरव से गुंजित घर के निकट भाग में, वह गुड्डे के विवाह के बहाने से अपने विवाह का स्वप्न देख रही है और श्रेष्ठीजनों की लड़कियाँ मंगल गान कर रही हैं।'

'उसे बुलाओ ?'

'जो आज्ञा'

श्रेष्ठी प्रियदत्त वृद्ध हो जाने से परिहास करने में बड़ा पटु था। कन्या को आई हुई देखकर बोला- 'पुत्रि ! सदैव गुड्डी से खेलने के लिए विकल तुम्हारे हृदय में अभी से विवाहका मनोरथ हो चला है, अतः समस्त व्रतों में श्रेष्ठ ब्रह्मचर्य व्रत को स्वीकार करो। समस्त श्रुत के ज्ञाता भगवान् धर्मकीर्ति सूरि तुम्हारे साक्षी हैं।'

अनन्तमती बोली-पिताजी ! मैंने ब्रह्मचर्यव्रत ले लिया। और इसमें केवल भगवान् ही साक्षी नहीं हैं किन्तु आप और माताजी भी साक्षी हैं । उक्त घटना को घटे वर्षों बीत गये और अनन्तमती में यौवन का संचार हो चला। उसके अंग-प्रत्यंग विकसित हो उठे। जब वह हँसती थी तो उसकी हँसी अलसाई हुई होती थी।

कन्दाभिनवात्रवृत्तिचतुरे नेत्राश्रिते विभ्रमे

प्रादायेव च मध्यगौरवगुणं वृद्ध नितम्बे सति ॥163॥

जब बोलती थी तो उसके ओष्ठ कुछ बनावटी कम्पन को लिये हुए होते थे। और आँखों में, कामदेव के नवीन अस्त्रों के संचालन में चतुर कटाक्ष ने अपना डेरा डाल दिया था। और मध्यभाग की गुरुता को मानो लेकर नितम्ब भाग विकसित हो गया था ॥163॥

समायाते मुहुरुत्पथप्रथमानमन्मथोन्मार्थमन्थरसमस्तसत्त्वस्वान्ते सद्यः

प्रसूतसहकाराङ्कुरकवलकषायकण्ठकोकिलकामिनीकुहारावासरालितमनोजविजय

मलयाचलमेखलानिलीनकिन्नरमिथुनमोहनामोदमेदुरपरिसरन्समीरसमुदये विकसत्कोशकुर

वकप्रसवपरिमलपानलुब्धमधुकरीनिकरझङ्कारसारप्रसरे वसन्तसमयावसरे सा प्रसरत्स्मरविकारा स्मरस्खलन्मतिगतिरनगमतिः सह

सहचरीसमूहेन मदनोत्सवदिवसे दोलान्दोलनलालसमानसा

स्वकीयरूपातिशयसंपत्ति[ति]रस्कृतसकलभवनाङ्गनाङ्गविलासासुकेशीप्रियतमानुगतेन कृतकामचारप्रचारचेतसा पूर्वापराकूपारपालिन्द्री सुन्दरीसनाथोत्सङ्गधरस्य विजयार्धावनीधरस्य विद्याधरीविनोदपादपोत्पादक्षोण्यां दक्षिणश्रेण्यां किन्नरगीतनामनगरनरेन्द्रेण कुण्डलमण्डितनाम्नाम्बरचरेण निचायितां ।

शृङ्गारसारममृतधु तिमिन्दुकान्ति मिन्दीवरद्युतिमनङ्गशरांश्च सर्वान् ।

आदाय नूनमियमात्मभुवा प्रयत्ना त्सृष्टा जगत्त्रयवशीकरणाय बाला ॥164॥

यौवन के साथ ही वसन्त ऋतु भी आ टपकी । समस्त प्राणियों के मन को कामदेव ने सताना प्रारम्भ कर दिया। आमके वृक्षों पर मौर आ

गये और उसे खाकर कोयलने 'कुह' 'कुह' करके कामदेव की विजय यात्रा को सूचना कर दी। मलय वायु बहने लगी। कमलों पर भौरें गुंजार करने लगे।

एक बार मदनोत्सव के दिन रूपवती युवती अनन्तमती अपनी सखियों के साथ झूला झूलने के लिए उद्यानमें गई। विजयाध पर्वत की दक्षिण श्रेणि में स्थित किन्नर गीत नामक नगर का स्वामी कुण्डलमण्डित विद्याधर अपनी पत्नी सुकेशी के साथ आकाश में विहार करता था। उसने उसे देखा। और उसके लावण्य से मोहित होकर सोचने लगा- 'शृङ्गार से सार, अमृतसे तरलता, चन्द्रमा से कान्ति, कमल से शोभा और कामदेव से बाणों को लेकर ही स्वयंभू ब्रह्माने तीनों लोकों को वश में करने के लिए इस बाला की रचना बड़े श्रम से की है ॥

164॥

इति विचिन्त्याभिलषिता च। ततस्तामपजिहीर्षुधिषणेन"मुहुनिवृत्य निर्वर्तितनिजिनलयसुकेशीनिवेशेन प्रत्यागत्यापहृत्य च पुनर्नभश्चरपुरं प्रत्यनुसरता गगर्ने मार्गादि प्रतिनिवृत्तकुपितसुकेशीदर्शनाशङ्किताशयेन तत्कायसंक्रमितावलोकिनीपर्णलघुविद्याद्वयन शङ्खपुराभ्यर्णभागिनी भीमवननामनि कानने मुक्ता। तत्र च मृगयाप्रेशंसनमागतेन भीमनाम्ना किरातराजलक्ष्मीसीम्नावलोकिता, नीता चोपान्तप्रकोणदिफलच्छल्लि पल्लिम् । एतद्रूपदर्शनदीप्तमदेनमदेन च तेन स्वतः परतश्च तैस्तैरुपायैरात्मसंभोगसहायैः प्रार्थिताप्यसंजातकामिता हठात्कृतकठोरकामोपक्रमेण तत्परिगृहीतव्रतस्थैर्याश्चर्यितकान्तरदेवताप्रातिहार्यात्पर्याप्तपक्वणप्लोषेण मृत्युहेतुकातङ्कपावकपच्यमानशरीरेण च 'मातः, क्षमस्वैकमिममपराधम्' इत्यभिधाय वनेचरोपचारोपचीयमानसहचरीचित्तोत्कण्ठे शङ्खपुरपर्यन्तपर्वतोपकण्ठे परिहृता तत्समीपसमावासितसार्थानीकेन पुष्पकनामकेन वणिक्पतिपाकेनावलोकिता सती स्वीकृता च तेन तेन चार्थेन स्वस्य वशमानेतुमसमर्थन कोशलदेशमध्यायामयोध्यायां पुरि व्यालिकाभिधानकामपल्लवकन्दल्याः शंफल्लयाः समर्पिता। तयापि मदनमदसंपादनावसथाभिः कथाभिः क्षोभयितुमशक्या तद्राजधानीविनिवेशस्य सिंहमहीशस्योपार्यनीकृता। तेनाप्यलब्धतन्मनःप्रवेशेन विलक्षितातिप्तदुरभिसंधिना तत्कन्यापुण्यप्रभावप्रेरितपुर देवतापादितान्तःपुरपुरीपरिजनापकारविधिना साधु संबोध्य नियमसमाहितहृदयचेष्टा विसृष्टा पितृस्वसुः सुदेवीनामधेयायाः पत्युः पितुश्चाहहत्तस्य सुगृहीतनामवृत्तस्य जिनेन्द्रदत्त स्योदवसितसमीपवर्तिनं विरतिचैत्यालयमवाप्य तत्र निवसन्ती यमनियमोपवासपूर्वकैर्विधिभिः क्षपितेन्द्रियमनोवृत्तिर्भवन्ती। तस्मादङ्गदेशनगराजिनेन्द्रदत्तं चिरविरहोत्तालं श्यालं विलोकितुमागतेन प्रियदत्तश्रेष्ठिना वीक्ष्य विषयाभिलापमोषपरुषकचा सा विहितबहुशुचा पुनः प्रत्याय्य तस्मै जिनेन्द्रदत्तसुतायाहहत्ताय दातुमुपक्रान्ता-'तात, तं भदन्तं भगवन्तं पितरं मातरं च तां प्रमाणीकृत्य कृतनिरवधिचतुर्थव्रतपरिग्रहा। ततः कथमहमिदानी विवाहविधये परिकल्पनीया' इति निगीर्य कमलश्रीसकाशे बिरतिविशेषवशं रत्नत्रयकोशमभजत् ।

यह सोच उसको हरने की इच्छा से अपने घर की ओर लौटा । वहाँ अपनी पत्नी सुकेशी को छोड़कर फिर उसी उद्यान में आया और अनन्तमती को हरकर आकाश मार्ग से अपने नगर की ओर चल दिया। आधे मार्ग में लौटती हुई अपनी कुपित पत्नी को देखकर उसके भय से उसने उसे पर्णलघु नामकी दो विद्याओं को सौंप दिया और उन्होंने अनन्तमती को शंखपुर के निकटवर्ती भीमवन नाम के जंगलमें छोड़ दिया। वहाँ शिकार खेलने के लिए आये भिल्लराज भीम ने उसे देखा और वह उसे अपनी कुटिया पर ले आया, जहाँ आस-पास में इंगुदी वृक्ष के फलों की लताएँ फैली हुई थीं। भिल्लराज इसके रूप को देखकर कामान्ध हो गया। उसने स्वयं तथा दूसरे के द्वारा अनन्तमती से भोग की बारम्बार प्रार्थना की, किन्तु वह तैयार नहीं हुई। तब उसने बलात्कार करने का प्रयत्न किया ।किन्तु उसके व्रतके माहात्म्य से वन देवता ने उसकी रक्षा की और शबरालय में आग लगा दी। जब भिल्लराजका शरीर जलने लगा और उसने मृत्यु निकट देखी तो बोला-'माता ! मेरे इस एक अपराध को क्षमा करो।' इस प्रकार क्षमा माँगकर उसने अनन्तमती को शंखपुर के निकटवर्ती पर्वत के समीपमें छुड़ा दिया । वहाँ पास में व्यापारियों का एक समूह आकर ठहरा हुआ था। वणिक् पति के पुत्र पुष्पक ने अनन्तमती को देखा और जिस-तिस उपायों से उसे वशमें लाने का प्रयत्न किया। जब वह अपने प्रयत्न में सफल नहीं हो सका तो उसने उसे कौशल देशके मध्यमें बसी हुई अयोध्या नगरी में व्यालिका नाम की वेश्या को सौंप दिया ।वेश्या ने कामोन्मत्त करने वाली कथाएँ सुना-सुनाकर उसे क्षुब्ध करना चाहा किन्तु वह भी अपने प्रयत्न में असफल रही। तब उसने उसे अयोध्या के राजा सिंह महीपति को भेंट कर दिया। राजा सिंह भी जब उसके हृदय में स्थान नहीं पा सका तो उसने उसके साथ बलात्कार करना चाहा ।तब उस कन्या के पुण्य के प्रतापसे नगर देवता ने आकर उसकी रक्षा की वहाँ से निकलकर वह अपने पिता की भगिनी सुदेवी के पति तथा अर्हदत्त के पिता जिनेन्द्रदत्त के निकटवर्ती चैत्यालय में जाकर रहने लगी और यम नियम तथा उपवास के द्वारा इन्द्रियों और मन की चंचलता को दूर करने लगी। एक दिन

अनन्तमती का पिता श्रेष्ठी प्रियदत्त अंगदेश से अपने बहनोई जिनेन्द्रदत्त को देखने के लिए आया। वहाँ उसने अपनी पुत्री अनन्तमती को देख बहुत विलाप किया और बाद को उसे जिनेन्द्रदत्त के पुत्र अर्हदत्त से विवाहने का प्रस्ताव किया। तब पुत्री बोली- 'पिताजी ! भगवान् आचार्य, आप और अपनी जननी को साक्षी करके मैंने आजन्म के लिए ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण किया था। अतः अब कैसे मैं विवाह की विधिके लिए तैयार हो सकती हूँ।'

ऐसा कहकर उसने कमलश्री आर्यिका के समीप में व्रत धारण कर लिये।

इसके विषय में एक श्लोक भी है

भवति चात्र श्लोकः हासात्पितुश्चतुर्थेऽस्मिन्नतेऽनन्तमतिः स्थिता ।

कृत्वा तपश्च निष्काङ्क्षा कल्पं द्वादशमाविशत् ॥165॥

इत्युपासकाध्ययने निष्काङ्क्षिततत्त्वावेक्षणो नामाष्टमः कल्पः ।

इस प्रकार उपासकाध्ययन में निःकाङ्क्षित तत्त्व को बतलानेवाला आठवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

निर्विचिकित्सा अङ्ग

नौवाँ कल्प

ग्रन्थ :

(अब निर्विचिकित्सा अंग को बतलाते हैं-)

स्वस्यैव हि स दोषोऽयं यन्न शक्तः श्रुताश्रयम् ।

शीलमाश्रयितुं जन्तुस्तदर्थं वा निबोधितुम् ॥167॥

स्वतःशुद्धमपि व्योम वीक्षते यन्मलीमसम् ।

नासौ दोषोऽस्य किं तु स्यात्स दोषश्चक्षुराश्रयः ॥168॥

दर्शनाइहदोषस्य यस्तत्त्वाय जुगुप्सते ।

स लोहे कालिकालोकानूनं मुञ्चति काञ्चनम् ॥169॥

स्वस्यान्यस्य च कायोऽयं बहिःश्लायामनोहरः।

अन्तर्विचार्यमाणः स्यादौदुम्बरफलोपमः ॥170॥

तदैतिहहो च देहे च याथात्म्यं पश्यतां सताम् ।

उद्वेगाय कथं नाम चित्तवृत्तिःप्रवर्तताम् ॥171॥

'जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहा गया यह उग्र तप प्रशंसनीय नहीं है, उसमें अनेक दोष हैं।' इस प्रकार चित्त में सोचना विचिकित्सा कहा जाता है। शास्त्र में कहे गये शील को पालने अथवा उसका आशय समझने में जो जीव असमर्थ है सो यह उसी का दोष है। स्वतः शुद्ध आकाश भी जो मलिन दिखाई देता है सो यह आकाश का दोष नहीं है किन्तु देखने वाले की आँखों का दोष है। जो मनुष्य शरीर में दोष देखकर उसके अन्दर बसने वाली आत्मा से ग्लानि करता है, वह लोहे की कालिमा को देखकर निश्चय ही सोने को छोड़ता है। अर्थात् जैसे लोहे की कालिमा का सोने से कोई सम्बन्ध नहीं है वैसे ही शरीर की गन्दगी का आत्मा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः शरीर के गन्देपन को देखकर तपस्वी साधु की आत्मा से घृणा नहीं करनी चाहिए । अपना शरीर हो या दूसरे का, वह बाहर से ही मनोहर लगता है। उसके अन्दर की हालत का विचार करने पर तो वह उदुम्बर के फल के समान ही है । अतः इस परम्परागत उपदेश तथा इस शरीर के वास्तविक स्वरूप को जानने वाले सज्जनों की चित्तवृत्ति (शरीर की गन्दगी को देखकर) कैसे व्याकुल हो सकती है ? ॥166-171॥

(भावार्थ – रत्नकरण्ड श्रावकाचार में निर्विचिकित्सा का स्वरूप बतलाते हुए लिखा है कि यह शरीर स्वभाव से ही गन्दा है, किन्तु यदि उसमें रत्नत्रय से पवित्र आत्मा का वास है तो शरीर से ग्लानि न करके उस आत्मा के गुणों से प्रीति करने को निर्विचिकित्सा अंग कहते हैं। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि दुर्भाग्य से पीड़ित मनुष्यों को देखकर सुखी मनुष्यों के चित्त में यह भावना आ जाती है कि हम श्रीमान् हैं और यह बेचारा विपत्ति का मारा हुआ दीन-हीन प्राणी है, यह भला हमारे बराबर कैसे हो सकता है। इस प्रकार का अहंकार केवल अज्ञान मूलक है वास्तव में कर्मों के बन्धन में पड़े हुए सभी प्राणी समान हैं। अतः जो कर्मों के शुभोदय से फूलकर कों के अशुभोदय से पीड़ित

प्राणियों से घृणा करते हैं और शास्त्र में प्रतिपादित जप-तप-नियमादिक को कष्टदायक जानकर उसे वृथा समझते हैं तथा तपस्वियों के मैले शरीर को देखकर उनकी निन्दा करते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं-उनकी दृष्टि ठीक नहीं है। और जो वैसा नहीं करते, वे ही सम्यग्दृष्टि हैं ।)

(निर्विचिकित्सा अंग में प्रसिद्ध उद्वायन राजा की कथा इस सम्बन्ध में एक कथा है, उसे सुनिए -)

मिन्द्रकच्छदेशेषु मायापुरीत्यपरनामावसरस्य रौरुकपुरस्य प्रभोः प्रभावतीमहादेवीविनोदायतनादौहायनान्मेदिनीपतेः
सहर्शनशरीरगदचिकित्सायामचिकित्सायामपरः कोऽपि क्षान्तमतिप्रसरो मोक्षलक्ष्मीकटाक्षावेक्षणाक्षुण्णपात्रे मर्यक्षेत्रे नास्तीत्येतच्च
वासवसंशेशस्त्रिदशः पुरन्दरोदितासहमानप्रशस्तत्र महामुनिसमूहप्रचारप्रचरे नगरेऽवतीर्य सर्वाङ्गाधिनाऽप्रतिष्ठैकुष्ठकोष्ठकं निष्ठ
यूतद्रवोद्रेकोपद्रुतदेहमखिलदेहिसंदोहोद्वेजनधैवणेषणघ्राणगरणविनिर्गलदनर्गलदुर्गन्धपू. यप्रर्वाहमूर्धस्फुटितस्फोटस्फुटचेष्टितानिष्टमतिकाक्षि
प्ताशेषशरीरमभ्यन्तरोच्छयथुकोत्थोत्तरङ्गत्वगन्तरालप्रलीनाखिलनखनासीरमविच्छिन्नोन्मूछेदतुच्छकच्छन्नसूक्कसारिणीसरैन्सततलालासाव
मनवरतस्रोतःसंतातीसारसंभूतबीभत्सभामनेकशी विशिखाशिखोत्पतनिपताश्रिताशुचिरं शिदुर्दर्शवपुषमृषिवेषमादायाद
नायावनीपतिभवनमभजत् । भूपतिरपि सप्ततलारब्धसौधमध्यमध्यासीनस्तमसाध्यव्याधिविधुरधिषाणाधीनविष्वाणोध्येषणाय
निजनिलयमालीय मानमवलोक्य सौत्सुक्यमागत्य स्वीकृत्यच कृत्रिमातङ्कपावकपरवशास्वनिर्गतं मुहुर्मुहुर्महीतले निपतन्तमनुद्विग्नमनश्चरित्रः
प्रकामदुर्जयखर्जनार्जनजर्जरिताग्रं काश्मीरपङ्कपिञ्जरेण भुजपअरेणोदनीयानीय चाशेनवेशमोदरं
स्वयमेवसमाचारितोपकारस्तदभिलाषोन्मेषसारैराहारैरुपशान्तार्शनीयोत्कण्ठमाकण्ठं भोजयामास ।
मायामुनिः पुनरपि तन्मनोजिशासमानमानसः प्रसभमतिगम्भीरगलगुहाकुहरोजिहानघोरघोषाभिघातघनघूर्णितापघनमप्रतिघं चीवमीत् /
भूमीपतिरपि 'श्राः, कष्टमजनिष्ट, यन्मे मन्दभाग्यस्य गृहे गृहीताहारोपयोगस्यास्य मुनेमनः खेदपादपवितर्दिच्छर्दिः समभूत्'
इत्युपेकृष्टानिष्टचेष्टितवानमात्मानं

विनिन्दन्मायामयमक्षिकामण्डलितकपोलरेखादेतन्मुखादसराललालाक्लिन्नमिन्द्रीमन्दिरारविन्दोदरसौन्दर्यनिकटेनाञ्जलिपुटेनादायादाय
मेदिन्यामुदसृजत्। पुनश्चोगीर्णोदीर्णदुर्वर्णकूर निकरे 'भभ्रिमिनिर्भरारम्भपतितशरीरं सप्रयत्नकरस्थामसीमं' समुत्थाप्य
जलजनितक्षालनप्रसंगमुत्तरीयदुकूलाञ्जलविलुप्तसलिलसंगमङ्गसंवाहनेनानुकम्पनविधानोचितवचनरचनेन च साधु समाश्रासयत्। तदनु
प्रमोदामृतामन्दहृदयालवालकलोलसत्प्रीतिलतावनिः सुरचरो मुनिर्यथैवायं सहर्शनश्रवणोत्कण्ठितहृदि 'त्रिदिवोत्पादिपरिषदि
परगुणग्रहणाग्रनिधानेन विबुधप्रधानेन प्राज्यराज्यसमज्यार्जनसर्जितजगत्त्रयीनिजनामधेयप्रसिद्धिर्यथोक्तसम्यक्त्वाधिगमावधेयबुद्धि -
रुपवर्णितस्तथैवायं मया महाभागो निर्वर्णित इति विचिन्त्य

प्रकटितात्मरूपप्रसरस्तमवनीश्वरममरतरुप्रसूनवर्षानन्ददुन्दुभीनादोपघातशुचिभिः .. -

साधुकारपरव्याहारावसरशुचिभिरुदारैरुपचारैरनिमिषविषयसंभूषणुभिर्मनोभिलषितसंपादनजिष्णुभिस्तैस्तैः
पठितमात्रैविधेयविद्योपदेशगर्भैर्वस्त्रसंदर्भश्च संभाव्य सुरसेव्यं देशमाविवेश ।

एक बार, मति, श्रुत और अवधि ज्ञान से युक्त सौधमैन्द्र देवों की सभा में उनके उपकार के लिए सम्यग्दर्शन रूपी रत्न के गुणोंका उदाहरण देते हुए बोला-'इस समय, मोक्ष रूपी लक्ष्मी के कटाक्ष को देखने के लिए निर्दोष पात्र स्वरूप इस मनुष्य लोक में, इन्द्रकच्छ देश की मायापुरी नगरी के स्वामी राजा उद्वायन के समान निर्विचिकित्सा अंग का पालन करने वाला दूसरा नहीं है।'

यह बात वासव नाम के देव को सह्य नहीं हुई। वह अनेक महामुनियों के विहार से पवित्र उस नगरी में आया और उसने एक कोढ़ी मुनि का रूप धारण किया। उसके समस्त अंग कोढ़ से गल रहे थे, सारा शरीर बहते हुए पीब वगैरह से सना था, आँख, नाक, कान वगैरहके छिद्रों से अत्यन्त दुर्गन्धवाला मल बहता था, जिसे देखकर सबको ग्लानि होती थी, शरीरके ऊपरी भागमें अनेक फोड़े उठे हुए थे जिनपर मक्खियाँ भिनभिना रही थीं। समस्त शरीरमें निरन्तर खाज उठ रही थी, ओठों के दोनों ओरसे निरन्तर राल टपकती थी और अतीसार रोग के कारण निरन्तर मल, बहता था। गन्दी नालियों में गिरने उठने से उसका शरीर गन्दगी से भरा हुआ था।

ऐसे दुर्दर्शनीय साधु का वेष बनाकर भोजन करने के लिए वह देव राजभवन गया। अपने सतमंजिले महल में बैठे हुए राजा ने असाध्य रोग से व्याकुल बुद्धि वाले उस साधुको जैसे ही भोजन के लिए अपने महल की ओर आता हुआ देखा, वह बड़ी उत्सुकता के साथ उठकर आया और उसे पढ़ागाहा। बनावटी रोग से उसकी आवाज भारी हो रही थी, बार-बार वह पृथ्वीपर गिर पड़ता था तथा अत्यन्त भयानक खाज से उसका शरीर जर्जर हो चुका था। ऐसे उस साधु को वह राजा किसी उद्वेग के बिना केशर के लेप से पीली हुई अपनी भुजाओं में

उठाकर भोजनशाला में लाया । और स्वयं ही सब उचित उपचार करके उसे भरपेट रुचिकर आहार कराया।

तब उस मायावी मुनि ने राजा के मन का भाव जानने की इच्छासे, मेघ के गर्जन को भी मात कर देने वाली गलेकी आवाज के साथ जो कुछ खाया पिया था वह सब वमन कर दिया । 'यह बड़ा बुरा हुआ जो मुझ अभागे के घर भोजन करने से मुनिराज को वमन हो गया। इस प्रकार अपने को अनिष्ट चेष्टाओं से युक्त मानकर वह राजा अपनी निन्दा करते हुए, मायामयी मक्खियों के झुण्डसे आक्रान्त उस साधु के मुखसे निरन्तर बहने वाली लार से सने हुए अन्न को, लक्ष्मी के निवासस्थान कमल के समान सौन्दर्यशाली अपनी अञ्जलि से उठा-उठाकर भूमिमें फेंकने लगा। फिर वमन किये हुए दुर्गन्धित अन्न पर मूर्छा आजानेके कारण एक दम गिर पड़े साधु के शरीर को बड़े श्रमके साथ अपने हाथों में उठाकर अपने दुपट्टे के कोने को जल में भिगोकर उससे उसे धोने लगा। तथा पगचम्पी वगैरह व दयापूर्ण शब्दों के द्वारा वह साधु को ढाढस बधाने लगा। राजा के इस सेवाभाव को देखकर मुनि वेषधारी उस देव के प्रमोदरूपी जल से परिपूर्ण हृदय रूपी क्यारी में प्रीतिरूपी लता लहलहाने लगी। वह सोचने लगा - 'सम्यग्दर्शन का वर्णन सुनने के लिए उत्कण्ठित देवताओं की सभा में, दूसरों के गुणों को ग्रहण करने का आग्रह रखने वाले इन्द्र ने तीनों लोकों में अपने नाम को ख्यात करनेवाले यथोक्त सम्यक्त्व के आराधक इस राजा के सम्बन्ध में जैसा कहा था वैसा ही इस महाभाग को मैंने पाया । ऐसा सोचकर उसने अपना असली रूप प्रकट कर दिया । और अमर तरु के पुष्पों की वर्षा, दुन्दुभि के आनन्दपूर्ण नाद तथा दूसरों के आदर-सत्कार के अवसरपर किये जाने वाले अन्य महान् उपचारों के द्वारा राजाका बड़ा सम्मान किया और उसे पाठमात्र से सिद्ध होनेवाली अनेक विद्याएँ तथा वस्त्र वगैरह देकर स्वर्गलोक को चला गया।

भवति चात्र श्लोकः

बालवृद्धगदगलानाम्मुनीनौहायनः स्वयम् ।

भजनिर्विचिकित्सात्मा स्तुतिं प्रापत्पुरन्दरात् ॥172॥

इसके विषय में भी एक श्लोक है, जिसका आश्रय इस प्रकार है -

"बाल, वृद्ध और रोग से पीड़ित मुनियों की स्वयं सेवा करनेवाला, निर्विचिकित्सा अंगका पालक, राजा उद्वायन इन्द्र के द्वारा प्रशंसित हुआ।"

इत्युपासकाध्ययने निर्विचिकित्सासमुत्साहनो नाम नवमः कल्पः।

इस प्रकार उपासकाध्ययन में निर्विचिकित्सा अङ्ग का वर्णन करने वाला नौवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

भव्यसेन मुनि की दुश्चेष्टा

दसवाँ कल्प

ग्रन्थ :

(अब अमूढदृष्टि अङ्ग को बतलाते हैं-)

अन्तर्दुरन्तसंचारं बहिराकारसुन्दरम् ।

न श्रद्धयात्कुदृष्टीनां मतं किम्पाकसंनिभम् ॥173॥

जिसके अन्दर बुराइयाँ भरी हैं किन्तु जो बाह रसे सुन्दर है, किम्पाक फल के समान ऐसे मिथ्यादृष्टियों के मत पर श्रद्धा मत करो ॥173॥

श्रुतिशाक्यशिवाग्नायः क्षौद्रमांसासवाश्रयः ।

यदन्ते मखमोक्षाय विधिरत्रैतदन्वयः ॥174॥

वैदिक मत में मधु के प्रयोग का विधान है, बौद्ध मत में मांस-भक्षण का विधान है, और शैवमत में मद्य पान का विधान है। इन आम्नायों में जो यज्ञ और मोक्ष की विधियाँ हैं, उनमें भी उक्त वस्तुओं के सेवन का विधान आता है ॥174॥

भर्मिभस्मजटावोटयोगपट्टकटासनम् ।

मेखलाप्रोक्षणं मुद्रा वृषीदण्डः करण्डकः ॥175॥

शौचं मजनमाचामः पितृपूजानलार्चनम् ।

अन्तस्तत्त्वविहीनानां प्रक्रियेयं विराजते ॥176॥

को देवः किमिदं शानं किं तत्त्वं कस्तपःक्रमः ।

को बन्धः कश्च मोक्षो वा यत्तत्रेदं न विद्यते ॥177॥

नशा करना, भस्म रमाना, जटाजूट रखना, योगपट्ट, कटिसूत्र-धारण, यज्ञ के लिए पशुवध करना, मुद्रा, कुशासन, दण्ड, पुष्प रखने का पात्र, शौच, स्नान, आचमन, पितृतर्पण और अग्निपूजा, ये सब आत्मतत्त्व से विमुख साधकों की प्रक्रिया है ।।कौन देव है ? तत्त्व क्या है, तपस्या का क्रम क्या है ? बन्ध किसे कहते हैं ? मोक्षका क्या स्वरूप है ? ये सब बातें वहाँ नहीं हैं ॥175-177॥

प्राप्तागमाविशुद्धत्वे क्रिया शुद्धापि देहिषु ।

नाभिजातफलप्राप्त्यै विजातिष्विव जायते ॥178॥

तत्संस्तवं प्रशंसां वा न कुर्वीत कुदृष्टिषु ।

ज्ञानविज्ञानयोस्तेषां विपश्चिन्नं च विभ्रमेत् ॥179॥

यदि देव और शास्त्र निर्दोष न हों तो प्राणियोंकी शुद्ध क्रिया भी श्रेष्ठ फल को नहीं दे सकती। जैसे विजातियों में कुलीन सन्तान की प्राप्ति नहीं होती । इसलिए मिथ्यादृष्टियों की मन से प्रशंसा नहीं करनी चाहिए और न वचन से स्तुति करनी चाहिए । तथा समझदार मनुष्यों को उनके ज्ञानादिक को देखकर भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए ॥178-179॥

(भावार्थ – अतत्त्व को तत्त्व मानना, खोटे गुरु को गुरु मानना, कुदेव को देव मानना और अधर्म को धर्म मानना मूढ़ता है। और जो इस प्रकार की मूढ़ता नहीं करता वह अमूढ़दृष्टि अङ्ग वाला कहा जाता है । कुछ लोगों का यह भाव रहता है कि लौकिक कल्याण के लिए कुदेवों की आराधना करनी चाहिए। किन्तु यह सब लोकमूढ़ता है। इस प्रकार की मूढ़ता सम्यग्दृष्टि को शोभा नहीं देती।)

अमूढ़दृष्टि अंग में प्रसिद्ध रेवती रानी की कथा

इस विषय में एक कथा है, उसे सुनें

श्रूयतामत्रोपाख्यानम्-मुक्ताफलमञ्जरीविराजितविलासिनीकर्णकुण्डलेषु पाण्डयमण्डलेषु पौरपुण्याचारविदूरितविथुरायां दक्षिणमथुरायामशेषश्रुतपारावारपारगमवधिवोधाम्बुधिमध्यसाधितसकलभुवनभागम् ,
अष्टाङ्गमहानिमित्तसंपत्तिसमधिकधिषणाधिकरणम् , अखिलश्रमणसंघसिंहोपास्यमानचरणम्
अत्याश्चर्यतपश्चरणगोचराचारचातुरीचमत्कृतचित्तखचरेश्वरविरचितचरणार्चनोपचारं श्रीमुनिगुप्तनामव्याहारं भदन्तं भगवन्तं गगनगैमनाङ्गनापाङ्गामृतसारणीसंबन्धवीधस्य विजयार्धमेदिनीधस्य रतिकेलिविलासविगलितनिलिम्पललनामेखलामणौ दक्षिणश्रेणी मेघकूटपट्टनाधिपत्योपान्तः सुमतिसीमन्तिनीकान्तः संसारसुखपराङ्मुखप्रतिभश्चन्द्रशेखराय सुताय निजैश्वर्यं वितीर्य पर्यवसितदेशयतिरूपः सकलाम्बरचरविद्यापरिग्रहसमीपः सप्रश्रयमभिवन्द्यानवद्यविद्यामहन् भगवन् , पौराङ्गनाशृङ्गारोत्तरङ्गापाङ्गपुनरुक्तस्मरशरायामुत्तरमथुरायां जिनेन्द्रमन्दिरवन्दारहृदयदोहदवर्ती वर्तेऽहम् । अतस्तन्नगरीगमनाय तत्र भगवता भगवतानुज्ञातव्योऽस्मि । किं च कस्य तस्यां पुरि कथयितव्यमित्यपृच्छत् ।

श्रूयतामत्रोपाख्यानम्-मुक्ताफलमञ्जरीविराजितविलासिनीकर्णकुण्डलेषु पाण्डयमण्डलेषु पौरपुण्याचारविदूरितविथुरायां दक्षिणमथुरायामशेषश्रुतपारावारपारगमवधिवोधाम्बुधिमध्यसाधितसकलभुवनभागम् ,
अष्टाङ्गमहानिमित्तसंपत्तिसमधिकधिषणाधिकरणम् , अखिलश्रमणसंघसिंहोपास्यमानचरणम्
अत्याश्चर्यतपश्चरणगोचराचारचातुरीचमत्कृतचित्तखचरेश्वरविरचितचरणार्चनोपचारं श्रीमुनिगुप्तनामव्याहारं भदन्तं भगवन्तं गगनगैमनाङ्गनापाङ्गामृतसारणीसंबन्धवीधस्य विजयार्धमेदिनीधस्य रतिकेलिविलासविगलितनिलिम्पललनामेखलामणौ दक्षिणश्रेणी मेघकूटपट्टनाधिपत्योपान्तः सुमतिसीमन्तिनीकान्तः संसारसुखपराङ्मुखप्रतिभश्चन्द्रशेखराय सुताय निजैश्वर्यं वितीर्य पर्यवसितदेशयतिरूपः सकलाम्बरचरविद्यापरिग्रहसमीपः सप्रश्रयमभिवन्द्यानवद्यविद्यामहन् भगवन् , पौराङ्गनाशृङ्गारोत्तरङ्गापाङ्गपुनरुक्तस्मरशरायामुत्तरमथुरायां जिनेन्द्रमन्दिरवन्दारहृदयदोहदवर्ती वर्तेऽहम् । अतस्तन्नगरीगमनाय तत्र भगवता भगवतानुज्ञातव्योऽस्मि । किं च कस्य तस्यां पुरि कथयितव्यमित्यपृच्छत् ।

मुनिसत्तमः- 'प्रियतम, यथा ते मनोरथस्तथाभिमतपथः समस्तु । संदेष्टव्यं पुनस्तत्रतावदेव यदुत तत्पुरीपुरंदरस्य वरुणधरणीश्वरस्य शचीसदृशः सुदृशः पतिजिनपतिचित्तचरणोपचारपदव्या महादेव्या रेवतीतिगृहीतनामया मदीयाशीर्वाच्या, तथावश्यकविशेषवश्यचित्तः सुव्रतभगवतो बन्दना च ।। देशे यतिवरः-किमपरः तत्र भगवन्, जैनो जनो नास्ति । भगवान्-'देशवतिन् , अलं विकल्पेन । तत्र गतस्य

भविष्यति समस्ताप्याहतेतरशरीरिसंपंक्षा समक्षा स्थिति। खचरविद्याबीजप्ररोहमल्लकः तुल्लको 'यथादिशति दिव्यज्ञानसंगवान्भगवान्' इति निगीर्य गगनचर्ययावतीर्य चोत्तरमथुसयां परीक्षेय तावदेकादशाङ्गनिधानं भव्यसेनम् । तदनु परीक्षिष्ये सम्यक्त्वरत्नवती रेवतीमिति कृतकौतुकः कलमकणिशकिंशारुप्रकाशकेशपेशलासरालचूलमुत्तप्तकाञ्चनरुचिरुचिरशरीरगौरतानुकूलमरविन्दमकरन्दपरागपिङ्गलनयनमतिस्पष्टविकटवर्णवर्णनोदीर्णवदनमेकादशवर्षदेशीयमतिविस्मयनीयं कपटबटुवेषमाश्लिष्य तन्मुनिमतमुर्दवसितमयासीत् ।

वेषमुनिस्तमीक्षणकमनीयं द्विजात्मजसजातीयं विलोक्य किलैवं स्नेहाधिक्यमालीलपत्- 'हंहो,

निखिलद्विजवंशव्यतिरिक्तसुकृतकृतकल्याणप्रकृतितया समस्तलोकलोचनानन्दो त्पादनपटो बटो कुतः खलु समागतोऽसि ।

अभिनवजनमनोह्लादनवचनागदप्रयोगचरकभट्टारक, सकलकलाविलासावासविद्वज्जनपवित्रात्पाटलिपुत्रात्' । 'किमर्थम्' । 'अध्ययनार्थम्' ।

'क्वाधिजिगांसाधिकरणमन्तःकरणम्' । 'वाङ्मलक्षणनकरप्रकरणे व्याकरणे' । 'यद्येवं मदन्तिके स्वाध्यायध्यानसर्वस्व समास्व ।

परवादिमदविदारणवाक्प्रक्रमा से भगवन्, साधु समासे । ___ तदन्वतीतवतीषु कियतीषुचित्कालकलासु 'बटो, ललाटंतपो वर्तते मार्तण्डः ।

तद्गृहाणेनं कमण्डलुम् । पर्यटयागच्छावः' । बटुः- 'यथाज्ञापयति भगवान्' । पुनर्नगरबाहिरिकायां निर्गते सरूपसंयते स

कपटबटुर्मयामयशष्पाङ्क रनिकरनिकीर्णी बिहारावतीर्णामवनिमकार्षीत् । तदर्शनादाकृतियतिरपि मनाग्यलम्बिष्ठ । बटुः- 'भगवन्,

किमित्यकाण्डे विलम्ब्यते' । 'बटो, प्रवचने किलैते शष्पाङ्क राः स्थावराः प्राणिनः पठ्यन्ते' । 'भगवन्, श्वासादिषु मध्ये कियतिथगुणः

खल्वमीषां प्राणः। केवलं रत्नाङ्क रा इव धराविकारा ोते"शष्पाकुराः।'

वेशमुनिः 'साध्वयमभिदधाति' इति विचिन्त्य विहृत्य च निःशङ्कनिष्पादितनीहारो विरहितव्याहारः' करेण

'किमप्यभिनयन्नेवमनेनोक्तः- 'भगवन्, किमिदं मौनेनामिनीयते। जिनरूपाजीवः अभिमानस्य रक्षार्थं प्रतीक्षार्थं श्रुतस्य च ध्वनन्ति मुनयो

मौनमदनादिषु कर्मसु ॥ 180॥

इति मौनफलमविकल्प्य जातजल्पः 'द्विजात्मज, समन्विष्य समानीयतामावायत्कायो गोमयो भसितपटलमिष्टकाशकलं वा' । 'भगवन्,

अखिललोकशौचोचितप्रवृत्तिकायां मृत्तिकायां को दोषः' । 'बटो, प्रवचनलोचननिचा यिकास्तत्कायिकाः किल तत्र सन्ति जीवाः' । 'भगवन्,

ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणो जीवगणः। न च तेषु तवयमुपलभ्यते' । 'यद्येवमानीयतां मृत्ना कृत्स्नाऽसुमत्सेव्या' । बटुस्तथाचर्य कुण्डिकामर्पयति

। मुधामुनिर्जलविकलां कमण्डलु करेणाकलय्य 'वटो, रिक्तोऽयं कमण्डलुः ।

'भगवन्, इदमुदकमचिरवले तल्ले समास्ते' । 'बटो, पटापूतपानीयादाने महदादीनवं किमिति यतो जन्तवः सन्ति। तदसत्यमिह स्वच्छतया

विहायसीव पयसि तदनवलोकनादिति वचनात्तत्र बहिस्तन्त्रसंयमिनि तत्त्वाभिनवेशवशिकाशयवेशमनि तद्देशमुद्दिश्याश्रितशौचे खचरेण

चिन्तितम् अत एव भगवान्तीन्द्रियपदार्थप्रकाशनशेमुर्षीप्राप्तः श्रीमुनिगुप्त्यो[-तो]ऽस्य किमपि न वाचिकं प्राहिणोत् ।

यस्मादस्मिन्प्रदीपवर्तिवदनमिवान्तस्तत्त्वसर्गे निसर्गमलीमसं मानसं बहिः प्रकाशनसरसं च ।

पाण्ड्य देश को दक्षिण मथुरा नगरी में श्री मुनिगुप्ताचार्य विराजमान थे। वे समस्त श्रुत समुद्र के पारगामी थे, उनके अवधिज्ञान रूपी समुद्र

के मध्य में समस्त भुवन के भाग वर्तमान थे, वे अष्टांग महानिमित्त के ज्ञाता थे, समस्त मुनिसंघ उनके चरणों की उपासना करता था।

उनके आश्चर्यकारी तपश्चरण को देखकर विद्याधरों के स्वामियों के चित्त भी आश्चर्यचकित हो गये थे और वे उनके चरणों की पूजा करते

थे। विजयार्थ पर्वत की दक्षिण श्रेणि के मेघकूट नामक नगर का राजा संसार के सुख से विमुख होकर, अपने पुत्र चन्द्रशेखर को अपना

राज्य देकर विरक्त हो गया । और मुनि गुप्ताचार्य के समीप में उसने देशचारित्र धारण कर लिया । साथ ही परोपकार और वन्दना वगैरह

के लिए उसने कुछ विद्याएँ भी अपने पास रक्खीं ।

एक दिन मुनिगुप्ताचार्य के पास जाकर वह बोला- "भगवन्, मैं उत्तर मथुरा के जिनालयों की वन्दना करना चाहता हूँ अतः उस नगरी को

जाने की आज्ञा प्रदान करें। तथा उस नगरी में यदि किसी से कुछ कहना हो तो वह भी बतला दें कि किससे क्या कहूँ। आचार्य

बोले- 'प्रियवर ! अपने मनोरथ के अनुसार मथुरा नगरी को जाओ। और वहाँ के लिए मेरा इतना ही सन्देश है कि उस नगरी के स्वामी

वरुण राजा की रानी जिन भगवान्के चरणों की अनन्य उपासिका पतिव्रता महादेवी रेवती को मेरा आशीर्वाद कहना और अपने आवश्यकों

में लीन भगवान् सुव्रत मुनि से वन्दना कहना।'

'भगवन् ! क्या वहाँ अन्य जैन यति नहीं हैं ?'-देशव्रती ने पूछा ।

आचार्य— 'देशव्रती ! यह पूछने की आवश्यकता नहीं है । वहाँ जाने पर तुम्हें जैन और जैनैतर मनुष्यों की स्थिति प्रत्यक्ष हो जायेगी।'

आकाशगामिनी विद्या में पटु वह क्षुल्लक 'दिव्यज्ञानी भगवान् की जो आज्ञा' इतना कहकर आकाश मार्ग से उत्तर मथुरा में जा पहुँचा। वहाँ उसे कौतूहल हुआ कि पहले ग्यारह अङ्ग के धारी भव्यसेन की परीक्षा करनी चाहिए, फिर सम्यक्त्व रूपी रत्न से भूषित रेवती की परीक्षा करूँगा। यह सोच उसने ग्यारह वर्ष के बालक का अत्यन्त आश्चर्यकारक रूप बनाया। उसके धान्य की मञ्जरी के अग्रभाग की तरह पीले केश थे, तपाये हुए सोनेके समान शरीरका रूप था, शरीर के अनुरूप ही कमल के रस और रज के समान पीले नेत्र थे और मुख से अति स्पष्ट सुन्दर स्तुति पाठ करता था। ऐसा रूप बनाकर वह विद्याधारी क्षुल्लक भव्यसेन मुनि के वास स्थान पर गया।

उस सुन्दर ब्राह्मण बालक को देखकर वह मुनिवेषी बड़े स्नेह से इस प्रकार बोला -- 'समस्त ब्राह्मण वंश से अधिक उपार्जित पुण्य से मनोरम प्रकृति होने के कारण समस्त लोगों की आँखों को आनन्द देने वाले बालक, कहाँ से आते हो ?' 'नये मनुष्योंके मनको प्रसन्न करने वाले वचनों के प्रयोग में कुशल भगवन्, मैं समस्त कलाओं में प्रवीण, विद्वानों से पवित्र पाटलीपुत्र नगर से आता हूँ।

'क्यों आये हो ?'

'पढ़ने के लिए !'

'क्या पढ़ना चाहते हो ?'

'वचन दोषको दूर करने में समर्थ व्याकरण पढ़ना चाहता हूँ।'

'तो स्वाध्याय और ध्यान में लीन, तुम मेरे पास ही रहो'।

'हे परवादियों के मद को विदारण करने वाले वचनों में प्रवीण भगवान् ! जैसी आज्ञा। आपके पास ही ठहरता हूँ। उसके पश्चात् कुछ काल बीतने पर मुनि बोले

'बालक ! सूर्य मध्याह्न में आ गया है। अतः कमण्डलु लो, चलो घूम आये'।

बालक-'भगवन् ! जो आज्ञा'।

नगर से बाहर जाने पर उस कपटवेषी बालक ने उस विहार भूमि को मायामयी घासके अंकुरों से ढक दिया। उसे देख कर वह मुनिवेषी भी थोड़ा सकपका गया।

बालक-'भगवन् ! व्यर्थ में क्यों देर करते हैं ?'

'बालक ! शास्त्र में घास के इन अंकुरों को स्थावर जीव बतलाया है।

भगवन् ! इनके श्वासादिक में से कितने प्राण होते हैं ? घास के ये अंकुर तो रनों के समान पार्थिव हैं।'

'यह बालक ठीक कहता है' यह सोचकर उस मुनिवेषी ने निःशंक हो कर उस तृणों से व्याप्त पृथ्वी पर विहार किया और शौच से निवृत्त होने पर मौनपूर्वक हाथसे संकेत किया। तब बालक बोला-'भगवन्, मौन से आप संकेत क्यों करते हैं ?' यह सुनकर वह मुनिवेषी

'अभिमान की रक्षाके लिए तथा शास्त्र की विनय के लिए भोजन आदि करते समय मुनिगण मौन धारण करनेको कहते हैं' मौनके इस फल का विचार किये बिना बोला-'ब्राह्मणपुत्र ! कहीं से भी खोजकर सूखा गोबर, राख या इंट का टुकड़ा लाओ।'

'भगवन् ! सब लोग मिट्टी से शुद्धि करते हैं, मिट्टी में क्या दोष है ?'

'बालक ! शास्त्र में कहा है कि मिट्टीमें पृथिवीकायिक जीव रहते हैं।'

'भगवान् ! जीवका लक्षण तो ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग है, किन्तु मिट्टी में ये दोनों नहीं पाये जाते।'

'तो सब जीवधारियों से सेवनीय मिट्टी लाओ।' बालक ने मिट्टी ला दी और कमण्डलु रख दिया। हाथ से कमण्डलु को खाली जानकर मुनिवेषी बोला- 'बालक ! यह कमण्डलु, खाली है'

'भगवन् ! सामने ताल में तो पानी है।'

'बालक ! बिना छने पानी को काममें लाने में बड़ा पाप है; क्योंकि उसमें जीव रहते हैं ?'

'यह बिल्कुल झूठ है क्योंकि आकाश की तरह स्वच्छ इस पानी में जीव नहीं दिखाई देते।'

यह सुनकर उस द्रव्य लिङ्गी ने तालपर जाकर शौच क्रिया की। यह सब देखकर वह विद्याधर सोचने लगा कि इसीलिए अतीन्द्रिय पदार्थों को जानने की बुद्धि रखने वाले श्री मुनिगुप्ताचार्य ने इससे कुछ भी नहीं कहलाया। क्योंकि दीपक की बत्ती के मुख की तरह इसका मन तो स्वभाव से ही कलुषित है किन्तु बाहर में प्रकाश दिखाई देता है।

भवति चात्र श्लोकः -

जले तैलमिवैतिचं वृथा तत्र बहिर्बुति ।

रसवत्स्यान्न यत्रान्तर्बोधो वेधीय धातुषु ॥181॥

इत्युपासकाध्ययने भवसेनदुर्विलसनो नाम दशमः कल्पः ।

इस विषय में एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है -

जहाँ धातु में पारद की तरह अन्तर्बोध चित्त के अन्दर नहीं भिदता, वहाँ जल में तेल की तरह बाहर में ही प्रकाशमान शास्त्रज्ञान व्यर्थ ही होता है ॥181॥

इस प्रकार उपासकाध्ययन में भव्यसेन मुनि की दुश्चेष्टा बतलाने वाला दसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

अमूढता अंग

ग्यारहवाँ कल्प

ग्रन्थ :

परीक्षितस्तावत्प्रसभाविर्भविष्यद्भवसेनो भवसेनस्तदिदानीं भगवदाशीर्वादपादपोत्पादवसुमती रेवती परीक्षे, इत्याक्षिप्तान्तःकरणः पुरस्यं पुरंदरदिशि हसांशोत्तंसावासवेदिकान्तरालकमलकर्णिकाम्तीर्णमृगाजिनासीनपर्यङ्कपर्यायम् , अमरसरःसंजातसरोजसूत्रवर्तितोपवीतपूतकायम् , 'अमृतकरकुरङ्गकुलकृष्णसारकृत्तिकृतोत्तरासंगसंनिवेशम् , अनवरतहोमारम्भसंभूतभसितपाण्डुपुण्ड्र कोत्कटनिटले देशम् , अम्बरेचरतरङ्गिणीजलक्षालितकल्पकुजवल्कलवलितोत्तरीयप्रतानपरिवेष्टितजटावलयम् , अमृतान्धसिन्धुरोधःसंजातकुतपाङ्गराक्षमालाकमण्डलुयोगमुद्राङ्कितकरचतुष्टयम् , उपासनसमायात-मतङ्ग-भृगु - भर्ग-भरत गौतम-गर्गपिङ्गल-पुलह-पुलोम-पुलस्ति-पराशर-मरीचि-विरोचन चञ्चरीकानीकास्वाद्यमानवदनारविन्दकन्दरविनिर्गलन्निखिलवेदमकरन्दसंदोहम् , उभयपावस्थितमूर्तिमन्निखिलकलाविलासिनीसमाजसंचार्यमाणचामरप्रवाहम् , उदारनादनारदमुनिना मन्यमानप्रतीहारव्यवहारम् , अम्भोभवोद्भवाकारमासाद्य स विद्याधरः समस्तमपि नगरं क्षोभयामास ! सापि जिनेश्वरचरणप्रणयमण्डपमण्डनमाधवी वरुणधरणीश्वरमहादेवी नृपतिपुरोहितात्तमुदन्तमाकर्ण्य त्रिषष्टिशलाकोन्मेषेषु पुरुषेषु मध्ये ब्रह्मा नाम न कोऽपि श्रूयते । तथा -- भवसेनको परीक्षा हो चुकी । अब भगवान् मुनि गुप्ताचार्य के द्वारा आशीर्वाद पाने वाली रेवती रानी की परीक्षा करनी चाहिए। ऐसा सोचकर उस विद्याधर ने नगर की पूर्व दिशामें ब्रह्मा का रूप बनाया। वेदिका के मध्य में कमल की कर्णिका पर बिछे हुए मृगचर्म पर वह पर्यङ्कासन से बैठा हुआ था । मान-सरोवर में उत्पन्न हुए कमल के धागों से बना हुआ यज्ञोपवीत उसके शरीरपर पड़ा हुआ था। चन्द्रमा के हिरण के वंश के कृष्णसार मृग के चर्म का बना हुआ उसका दुपट्टा था। निरन्तर होने वाले होम की भस्म का त्रिपुण्ड उसके मस्तक पर सुशोभित था।

गंगा के जल से धोये गये कल्पवृक्ष के वल्कल से उसकी जटाएँ बाँधी हुई थीं । गंगा के किनारों पर उगे हुए दूर्वाङ्कुर, रुद्राक्ष माला, कमण्डलु और योगमुद्रा से उसके चारों हाथ युक्त थे। उसकी उपासना के लिए मतङ्ग, भृगु, भर्ग, भरत, गौतम, गर्ग, पिङ्गल, पुलह, पुलोम, पुलस्ति, पाराशर, मरीचि और विरोचन ऋषिरूपी भ्रमरों की सेना आई हुई थी, जो उसके मुखकमल रूपी गुफा से झरने वाले समस्त वेदरूपी पुष्पमधु के समूह का स्वाद ले रही थी। दोनों ओर खड़े होकर समस्त मूर्तिमान् कलाओं की तरह देवांगनाएँ चामर धारती थीं और नारद मुनि द्वारपाल का काम करते थे। इस प्रकार ब्रह्मा का रूप धारण करके उस विद्याधर ने समस्त नगरमें हलचल मचा दी।

जिनेन्द्र भगवान्के चरणों में स्नेहरूपी मण्डप को सुशोभित करने के लिए माधवीलता के समान उस वरुण राजा की पटरानी रेवती ने जब राजपुरोहित के मुख से उक्त वृत्तान्त सुना तो वह विचारने लगी कि तेरसठ शलाकापुरुषों में तो किसीका भी नाम ब्रह्मा नहीं है । तथा - आत्मनि मोक्षे ज्ञाने वृत्ते ताते च भरतराजस्य ।

ब्रह्मेति गीः प्रगीता न चापरो विद्यते ब्रह्मा ॥182॥

"आत्मा को, मोक्ष को, ज्ञान को, चारित्र को और भरत के पिता ऋषभदेव को ब्रह्मा कहते हैं । इनके सिवा और कोई ब्रह्मा नहीं है" ॥

182॥

इति चानुस्मृत्याविस्मयमतिरतिष्ठत् । पुनः कीनाशदिशि पवनाशनेश्वरशरीरशयनाश्रितापङ्घनमितस्ततः
प्रकामप्रसरत्तदङ्गोत्तरङ्गकान्तिप्रकाशपरिकल्पितामृताम्बुधिसंनिधानम्,
उल्लेखोल्लसत्फणामणिमरीचिनिचयसिचयाचरितनिरालम्बाम्बरवितानभावम्,
अमोघानप्रसूनमञ्जरीजालजटिलप्रतानवनमालामकरन्दमण्डितकौस्तुभप्रभाभावम्, असितसितरत्नकुण्डलोहयोतसंपादितोभयं
पक्षपक्षद्वयाक्षेपम्, अनेकमाणिक्याधिकाटितकिरीटकोटिविन्यस्तास्तोकस्तबकपारिजातप्रसवपरिमलपानपरिचयचटुलेचचरीकचयरच्यमाना
पेरेन्दीवरशेखरकलापमति गम्भीरनाभीनदैर्निर्गतोनालने लनिलयनिलीनहिरण्यगर्भसंभाष्यमाणनामसहस्रकलमाखण्डले
जलधिसुतासंवाह्यमानक्रमकम लमनश्चरणशङ्खसारङ्गनन्दकसंकीर्णकरम्, असुरवृन्दबन्दीकृतसुन्दरीसंपाद्यमानचामरोपचारव्यतिकरम्,
अरुणानुजविनीयमानसेवागतसुरसमाजम्, 'अधोक्षजवर्षं विशिष्य स विद्याधरः समस्तमपि नगरं क्षोभयामास । सापि
जिनसमयरहस्यावसायसरस्वती रेवती कर्णपररम्परया किंवदन्तीमेतामुपश्रुत्य 'सन्ति खल्यर्थचक्रवर्तिनो नव कौमोदकीप्रभवः । ते तु संप्रति
न विद्यन्ते । अयं पुनरपर एवं कश्चिदिन्द्रजालिको लोकविप्रलम्भनायावतीर्णः' इति निर्णीयाविचलितचित्ता समासीत् । पुनः पाशभृद्दिशि
शिशिरगिरिशिखराकारकायशाक राश्रितशरीराभोगमन्वग्भूतनगनन्दनानिबिरीशस्तनतुङ्गिस्तमितपृष्ठभागम्,
अनिमिषवनविसर्पिकर्पूरोद्भिदैर् गर्भसंभवपरागपाण्डुरितपिण्डपरिकरम्,
अचिरगोरोचनाभङ्गरागपिङ्गलाम्बकंपरिकल्पितभालसरःस्वर्णसरोजाकरम्, अबालकपालदलकलापालवालवलयविलसन्मौलिमूलव्यतिकरम्
अतिविकटजटाजूटकोटरपर्यटद्गना टनतटनीतरङ्गकरकेलिकुतूहलितवालपालेय करम्, आभरणे भङ्गिसंदर्भिताने
भक्तभुजङ्गभोगे' संगतानेकमाणिक्यविरोक निकरातिशयसारशार्दूलाजिनविराजमानम् । उडमरडमरुकाजे
कावकृपाणपरशुत्रिशूलखटवाङ्गादिसहसंकटशकोट कोटावस्ता कई कोटिविस्तारम्, स्तम्बर मासुरचर्मद्रवद्रुधिरदुर्दिनीकृतनावनीप्रतानम्,
अनलोद्भव-निकुम्भ कुम्भोदर हेरम्ब-भिगिरिति-प्रभृति-पारिषदपरिषत्परिकल्प्यमानबलिविधानम्, अहिर्बुध्नावतरनिधानमाकारमनुकृत्य स
विद्याधरः समस्तमपि नगरं क्षोभयामास । __सापि स्याद्वादसरस्वतीसुरभिसंभावनबै ल्लवी वरुणमहीशमहादेवी इमां जनश्रुति
कुतश्चित्पश्चिमप्रतोलिसृताद्विपश्चितो निश्चित्य, निशम्यन्ते खलु प्रवचने तपःप्रत्यवायवार्ताऽ भद्रा रुद्रास्ते पुनः संप्रति स्वकीयकर्मणां
विपाकात्कालिन्दीसोदरोदरगतवर्तिनः संजाताः । तदयमपर एव कश्चिनरेन्द्र विद्याविनोदाविदग्धहृदयमर्दी कपर्दीति च प्रपद्य निःसंदिग्धबोधा
समासिष्ट । पुनः स्वापतेयेशदिशि विश्वंभरातलादूर्ध्वम्, अयोमुखासनदशसहस्रार्धावकृष्टम्,
एकेन्द्रनीलशिलावर्तुलाधिष्ठानोत्कृष्टम्, अखिलंगतिगतोत्तरणमार्गेरिव सोपानसर्गश्चतुर्दिशमुपाहितावतारम्,
अनर्घद्रुघणमणिश्लाघ्योनतनवप्राकारान्तराचरितस्पष्टाष्टविधवसुंधरम्,
अनवधिनिर्माणमाणिक्यसूत्रितत्रिमेखलालंकारकण्ठीरपीठप्रतिष्ठपरमेष्ठिप्रतिममशेषतः समासीनद्वादशसभान्तरालविलसन्निलम्पाने
काशोकानोकहप्रमुखप्रातिहाय्योपशोभितम्, ईषदुन्मिषदनिमिषोद्यानप्रसूनोपहारहरिचन्दनामोदसनाथगन्धकुटीसमेतम्,
अनेकमानस्तम्भतडागतोरणस्तूपध्वजधूपं निपनिधाननिर्भरमुरगनरानिमिषनायकानीकानीतमहामहोत्सवप्रसरम् अभितो
भवसेनप्रभृत्याहंताभासप्रभावितयात्राधिकरणं समवशरणं विस्तार्य स विद्याधरः समस्तमपि नगरं क्षोभयामास । सापि
जिनसमयोपदेशरसैरावती रेवतीं व्रतान्तोपक्रमं कुतोऽपि जैनाभासप्रतिभातोऽवबुध्य सिद्धान्ते खलु चतुर्विंशतिरेव तीर्थकराः, ते चाधुना
सिद्धिवधूसौधमध्यविहाराः, तदेषोऽपर एव कोऽपि मायाचारी तद्र पथारी' इति चावधार्याविपर्यस्तमतिः पर्यात्मधामन्येव प्रवर्तितधर्मकर्मचक्रे
सुखेनासांचक्रे । पुनर्वहुकूटकपटमतिर्देशयतिस्ताभिर्विविधप्रकृतिभिराकृतिभिस्तदास्वनितमक्षुभितमवगत्योपात्तमासोपवासिवेषः
क्रियामात्रानुमेयनिखिलकरणोन्मेषो गोचराय तदालयं प्रविष्टस्तथा स्वयमेव यथाविधिप्रतिपन्नचेष्टस्तथापि विद्याबलादनल
नाशवमनादिविकारप्रबलात्कृतानेकमानसोद्वेजनवैयात्यो रेवत्याः क्वचिदपि मनोमूढतामपश्यन्, 'अम्ब,
सर्वाम्बरचरचित्तालंकारसम्यक्त्वरत्नाकरक्षोणि दक्षिणमथुरायां प्रसिद्धावसथः सकलगुणमणिनिर्माणविदूरावनिः
श्रीमुनिगुप्तमुनिर्मदर्पितरचनैर्वचनैः परिमुषिताशेषकल्मषसंवनेरखिलकल्याणपरम्पराविरोचनैर्भवतीं रेवतीमभिनन्दयति । रेवती
भक्तिरसवशोल्लसल्लपनरागाभिरामं ससंभ्रमं च सप्तप्रचारोपसदैः पदेस्तां दिशमाश्रित्य श्रुतविधानेन विहितप्रणामा प्रमोद
मानमनःपरिणामा तदर्पितान्याशोर्वचनान्यादिता ।...

ऐसा विचारकर कुछ आश्चर्य करके चकित हो वह बैठी रही।

इसके पश्चात् उस विद्याधर ने नगर की दक्षिणदिशा में विष्णुका रूप धारण किया। विष्णु भगवान् शेषनाग शैय्यापर लेटे हुए थे। इधर-उधर फैली हुई उनके शरीर की कान्ति के प्रकाश से अमृत का समुद्र-सा बन गया था। उनके शेषनाग के फण के मणि की किरणों के समूहरूपी वस्त्र से निरालम्ब आकाश में चन्दोआ-सा तना था। अनेक प्रकारके मणि-मुक्ताओं से बने हुए उसके मुकुट की चोटी पर पारिजात वृक्ष के फूलों के बड़े-बड़े गुच्छे रखे थे। उनकी सुगन्ध का पान करने के लिए उन पर बहुत से भौरे एकत्र हो गये थे। वे ऐसे मालूम होते थे मानो नीले कमलों का बना यह दूसरा शिरोभूषण है। विष्णु की गहरी नाभि से एक ऊँची नाल निकली हुई थी उसपर ब्रह्मा विराजमान थे और वे सहस्रनाम का पाठ करते थे। लक्ष्मी उनके चरण-कमलों की सेवा कर रही थी। उनके हाथों में शंख, चक्र, कमल और खड्ग थे। बन्दिनी बनाई गई दैत्यों की सुन्दरी स्त्रियाँ चमर ढारती थीं और सेवा के लिए आये हुए देवताओं को अन्दर ले जाने के लिए गरुड़ राजद्वार पर खड़े हुए थे।

इस प्रकार विष्णु का रूप धारण करके उस विद्याधर ने समस्त नगरमें हलचल मचा दी। जिन-शासन के रहस्य को जानने में सरस्वती के तुल्य रेवती रानी ने भी परम्परा से इस बात को सुना। सुनकर वह विचारने लगी कि विष्णु नौ होते हैं किन्तु वे आजकल नहीं हैं। लोगों को ठगनेके लिए यह कोई इन्द्रजालिया आया हुआ है। ऐसा निर्णय करके वह नहीं गई। इसके पश्चात् उसने पश्चिम दिशा में रुद्र का रूप धारण किया। वह हिमालय पर्वत के शिखर के आकार शरीरवाले वृषभपर बैठे हुए थे। उनके वाम भागमें पार्वती बैठी थी। गोरोचता और भाँग के राग से पीले हुए नयन ऐसे मालूम होते थे मानो मस्तक रूपी सरोवर में स्वर्ण-कमल खिले हुए हैं। गलेमें नरमुण्डों की माला पड़ी हुई थी। जटाओं के अन्दर विहार करती हुई गंगा नदी की लहरों में बाल-चन्द्रमा खेलता था। भूषण की तरह धारण किये गये बृहत्काय सर्प की फणके रत्नों की किरणों से चितकबरा हुआ सिंह चर्म धारण किये हुए थे। डमरू त्रिशूल खट्वांग आदि लिये हुए थे। गजासुर के चर्म से टपकने वाले रक्त ने नृत्यभूमि में वर्षा ऋतु का समय उपस्थित कर दिया था। कार्तिकेय, कुम्भ, निकुम्भ, गणेश आदि उनकी पूजा करते थे। इस प्रकार रुद्र का रूप धारण करके उस विद्याधर ने समस्त नगर को क्षोभित कर दिया। स्याद्वादवाणी रूपी कामधेनु को दुहने वाली रेवती महारानी ने भी पश्चिम दिशा के मार्ग से आनेवाले किसी ब्राह्मण से उक्त समाचार सुना। वह सोचने लगी कि शास्त्र में तपोभ्रष्ट ऋषियों से रुद्रों की उत्पत्ति सुनी जाती है। किन्तु इस समय तो वे सब अपने-अपने कर्मों के उदयसे यमराज के उदर में चले गये। इस लिए यह कोई इन्द्रजाल विद्या के द्वारा मूर्ख मनुष्यों के हृदयों को फुसलानेवाला दूसरा ही रुद्र है ऐसा निर्णय करके वह रह गई।

इसके बाद उस विद्याधर ने उत्तर दिशामें जिनेन्द्र देव के समवशरण की रचना की। धरातल से पाँच हजार धनुष की ऊँचाई पर एक इन्द्र नीलमणि की गोलाकार उसकी भूमि थी। उस तक पहुँचने के लिए चारों दिशाओं में सीढ़ियाँ बनी हुई थीं जो ऐसी प्रतीत होती थीं कि मानो चारों गति रूपी गड्ढों से निकलने के ये मार्ग हैं। बहुमूल्य मणि से निर्मित नौ ऊँचे प्राकार बने थे जिनके मध्य में आठ भूमियाँ थीं। माणिक्य से बनी हुई तीन कटनियों से सुशोभित सिंहासन पर वह परमेष्ठी की तरह विराजमान था। चारों ओर बारह सभाएँ लगी थी और उनके बीच में अशोक वृक्ष आदि प्रातिहार्य थे। अनेक गन्धकुटी थीं, जो देवोद्यान के अधखिले हुए पुष्पों से और हरिचन्दन की सुगन्धसे युक्त थीं। अनेक मानस्तम्भ, तालाब, तोरण, स्तूप, ध्वजा, धूपघट और निधियाँ वहाँ विराजमान थीं। तिर्यञ्च मनुष्य और देवों के स्वामियों की सेना के द्वारा वहाँ महामहोत्सव हो रहा था। उससे प्रभावित होकर भवसेन आदि जैनाभास वहाँ यात्रा के लिए आ रहे थे। ऐसे समवशरण की रचना करके उस विद्याधर ने समस्त नगर में हलचल मचा दी। जिनागम के उपदेशरूपी जल की नदी के तुल्य रेवती रानी किसी जैनाभास से इस समाचार को जानकर विचारने लगी कि आगम में चौबीस ही तीर्थङ्कर बतलाये हैं और वे सब इस समय मुक्तिरूपी वधू के महल में विहार करते हैं। इसलिए यह कोई मायाचारी है जो उनका रूप धारण किये हुए है। ऐसा निर्णय करके वह अपने घर में ही धर्म कर्म करती हुई सुखपूर्वक बैठी रही।

इसके बाद अनेक रूप धरने में चतुर वह क्षुल्लक अनेक रूपों के द्वारा भी रेवती रानी को चञ्चल हुआ न देखकर, एक मास का उपवास करने वाले साधु का वेष बनाकर अत्यन्त शिथिल इन्द्रियों के साथ आहार के लिए रेवती रानी के घर पर आया। रेवती ने स्वयं ही विधि के अनुसार सब काम किया, किन्तु उस क्षुल्लक ने विद्या के बलसे कभी अग्नि को बुझाकर और कभी वमन आदि करके उसके मन को उद्विग्न करने का बहुत प्रयास किया, फिर भी वह उद्विग्न नहीं हुई। यह देखकर वह बोला—'माता ! दक्षिण मथुरा में विराजमान सकल गुणों से भूषित श्री मुनिगुप्त मुनि मेरे द्वारा समस्त पाप से रहित कल्याणकारक वचनों से आपका अभिनन्दन करते हैं।'

यह सुनते ही रेवती रानीका मुख भक्तिरसके राग से रंजित हो उठा। उसने तत्काल ही दक्षिण दिशा में सात पग चलकर शास्त्रानुसार

प्रणाम किया और हर्ष से गद्गद होकर मुनि के द्वारा दिये गये आशीर्वादको स्वीकार किया। इस विषयमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है -

भवति चात्र श्लोकः

कादम्बा_गोसिंहपीठाधिपतिषु स्वयम् ।

आगतेष्वप्यभून्नैषा रेवती मृढतावती ॥183॥

'ब्रह्मा, विष्णु, शिव और जिनके स्वयं पधारने पर भी रेवती रानी मूर्ख नहीं बनी ॥183॥

इत्युपासकाध्ययनेऽमूढतापौढिपरिवृढो नामैकादशः कल्पः ।

इस प्रकार उपासकाध्ययन में अमूढता अंग का वर्णन करने वाला कल्प समाप्त हुआ।

बारहवाँ कल्प

ग्रन्थ :

अब उपगूहन अंग को बतलाते हैं

उपगूहस्थितीकारी यथाशक्तिप्रभावनाम् ।

वात्सल्यं च भवन्त्येते गुणाः सम्यक्त्वसंपदे ॥184॥

उपगूहन, स्थितिकरण, शक्ति के अनुसार प्रभावना और वात्सल्य ये गुण सम्यक्त्व रूपी सम्पदा के लिए होते हैं ॥184॥

तत्र-क्षान्त्या सत्येन शौचेन मार्दवेनार्जवेन च ।

तपोभिः संयमैर्दानैः कुर्यात्समयबृंहणम् ॥185॥

सवित्रीव तनूजानामपराधं सधर्मसु ।

दैवप्रमादसंपन्नं निगृहेद् गुणसंपदा ॥186॥

अशक्तस्यापराधेन किं धर्मो मलिनो भवेत् ।

न हि भेके मृते याति पयोधिः पूतिगन्धिताम् ॥187॥

दोषं गृहति नो जातं यस्तु धर्म न हयेत् ।

दुष्करं तत्र सम्यक्त्वं जिनागमबहिस्थिते ॥188॥

क्षमा, सत्य, शौच, मार्दव, आर्जव, तप, संयम और दान के द्वारा धर्म की वृद्धि करनी चाहिए। तथा जैसे माता अपने पुत्रों के अपराध को छिपाती है वैसे ही यदि साधर्मियों में से किसी से दैववश या प्रमाद वश कोई अपराध बन गया हो तो उसे गुण सम्पदा से छिपाना चाहिए। क्या असमर्थ मनुष्य के द्वारा की गई गलती से धर्म मलिन हो सकता है ? मेढ़क के मर जाने से समुद्र दुर्गन्धित नहीं हो जाता ॥जो न तो दोष को ढाँकता है और न धर्म की वृद्धि करता है, वह जिनागम का पालक नहीं है और उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति होना भी दुष्कर है ॥

185-188॥

(भावार्थ – इस गुण के दो नाम हैं एक उपबृंहण और दूसरा उपगूहन। अपनी आत्मा की शक्ति को बढ़ाना या उसे दुर्बल न होने देना उपबृंहण कहलाता है। जनता में धर्मका उत्कर्ष करना भी उपबृंहण गुण कहलाता है। तथा यदि किसी साधर्मी बन्धु से कभी कोई गलती बन गई हो तो उसे प्रकट न होने देना उपगूहन है। ये दोनों एक ही गुण के दो नाम दो कार्यों की अपेक्षासे रख दिये गये हैं, वास्तवमें ये दोनों एक ही हैं, क्योंकि उपगूहन के बिना उपबृंहण नहीं होता। यदि छोटी मोटी भूलों के लिए भी साधर्मी भाइयों के साथ कड़ाई बरती जायेगी और उन्हें जाति और धर्म से वंचित कर दिया जायेगा तो उस से धर्म की हानि ही होगी, क्योंकि धार्मिक पुरुषों के विना धर्म कैसे ठहर सकता है। अतः सम्यग्दृष्टि को समझदार माता के समान साधर्मी भाइयों से व्यवहार करना चाहिए। जैसे समझदार माता एक ओर इस बातका भी ध्यान रखती है कि उसकी सन्तान कुमार्गगामी न हो जाये और दूसरी ओर उसकी गलतियों को ढाँककर उसकी बदनामी भी नहीं होने देती तथा एकान्त में उसे समझा बुझाकर उसे क्षमा कर देती है, वैसा ही भाव अपराधी भाइयों के प्रति भी होना चाहिए। जो पुरुष इस तरह का व्यवहार करते हैं उनमें ही सम्यक्त्व गुण प्रकट होता है। किन्तु दोषों का उपगूहन करनेका यह आशय नहीं है कि दोषी दोष करता रहे और धर्म प्रेमवश दूसरे उस दोषको ढाँकते ही रहें। दैव या प्रमादवश हो गये किसी दोष के कारण किसी धर्मात्मा की अवज्ञा

और निन्दा न करके उस दोष को छिपाना तो उचित ही है। किन्तु यदि धर्म का वेष धारण करके कोई ढोंगी जानबूझकर अनाचार करता हो और समझानेपर भी न मानता हो तो ऐसे ढोंगियों के दोषों को छिपाना उपगूहन अंग नहीं है।)

उपगहन अंग में प्रसिद्ध जिनेन्द्र भक्त की कथा

श्रूयतामत्रोपाख्यानम्-सुराष्ट्रदेशेषु मृगेक्षणापदमलमूलावलोकितापहसितानङ्गास्त्रतन्त्रे पाटलिपुत्र सुसीमाकामिनीमकरध्वजस्य यशोध्वजस्य भूभुजः पराक्रमाक्रमाक्रान्तसकलप्रवीरः सुवीरो नाम सूनुरनासादितविद्यावृद्धसंयोगसमयत्वाद्विद्विदूषकदूषितहृदयत्वाच्च प्रायेण परद्रविणदारादानोदारक्रियः क्रीडार्थमेकदा क्रीडावने गतः कितवकिरातपेश्यतोहरवीरपरिषदमिदमवादीत्-'अहो, विक्रमैकरसिकेषु महासाहसिकेषु भवत्सु मध्ये किं कोऽपि मे प्रार्थनातिथिमनोरथसारथिरस्ति, यः खलु पूर्वदेशनिवेशावाप्तकीर्तने तामलिप्तिपत्तने पुण्यपुरुषकाराभ्यामात्मसात्कृतरत्नाकरसारस्य जिनेन्द्रभक्तनामावतारस्य वणिक्पतेः सप्ततलागाराग्रिमभूमिभागिनि जिनसमनि छत्रत्रयशिखण्डमण्डनीभूतमद्भुतद्योतसेनोडं वैडूर्यमणिमानयति, तदानेतुः पुनरभिलाषविषयनिषेकमेव पारितोषिकम्। तत्र च सदर्पः सूर्पो नाम समस्तमलिम्लुचाग्रेसरो वीरः किलैवमलापीत्-'देव, कियद्गहनमेतद्यतो योऽहं देवप्रसादाद्विदवसानविरचितामरावतीपुरस्य पुरंदरस्यापि चूडालंकारनूतनं रत्नं पातालमूलनिनीलभोगवतीनगरस्योरगेश्वरस्यापि फणगुम्फनाधिक्यं माणिक्यमपहरामि, तस्य मे मनुष्यमात्रपरित्राणधरणिमणि लोचनगोचरागारविहारमपहरतः कियन्मात्रं महासाहसम् इति शौर्यं गर्जित्वा निर्गत्यागत्य च गौडमण्डलमपरमुपायमप श्यन्मणिमोषीयातिप्ततुल्लकवेषश्चान्द्रायणाचरणैः पक्षपारणाकरणैर्मसोपवासप्रारम्भैरपरैरपि तपःसंरम्भैः क्षोभितनगनगरपामग्रामणीगणः क्रमेण जिनेन्द्रभक्तभावाधिकरणतामभजत्। एकान्तभक्तिशक्तः स जिनेन्द्रभक्तस्तं मायात्मसात्कृतप्रियतमाकारमपरमार्थाचारमजाननार्यवर्यावश्यमनेकानयंरत्नरचितजिनदेहसंदोहेऽस्मद्देवगृहे त्वया तावदासितव्यं यावदहं बहित्रयात्रां विधाय समायामि' इत्ययाचत। अप्रकटकूटकपटक्रमः प्रियतमः 'श्रेष्ठिन्, मैवं भाषिष्ठाः, यदङ्गनाजनसंकीर्णेषु द्रविणोदीर्णेषु देशेषु विहितोकसां प्रायेणामलिनमनसामपि सुलभोदाहाराः खलु खलजनतिरस्काराः'। श्रेष्ठी-'देशयतीश, न सत्यमेतत्। अपरिज्ञातपरलोकव्यवहारस्यावशेन्द्रियव्यापारस्य हि पुरुषस्य बहिःसङ्गे स्वान्तं विकुरुतां नाम, न पुनर्यथार्थदृशामनन्यसामान्यसंयमस्पृशां यमस्पृशां भवादृशां यतीशाम्' इति बह्वाग्रहं देवगृहपरिग्रहाय तमयथार्थमुनिमभ्यर्थ्य कलत्रपुत्रमित्रबान्धवेष्वकृतविश्वासो मनःपरिजनदिनशकुनपवनानुकूलतया नगरबाहिरिकायां प्रस्थानमकार्षीत्। मायामुनिस्तस्मिन्नेवावसरे तदगारमाकुलपरिवारमवबुध्दार्थवशेषायां निशि कृतरत्नापहारस्तन्मरीचिप्रचारादारक्षिकैरनुद्रुतशरीरः पलायितुमशक्तस्तस्यैव धर्महयंनिर्माणपरमेष्ठिनः श्रेष्ठिनः प्रस्थानावासनिवेशमाविवेश। श्रेष्ठयपि दुरालापबहलात्तत्कोलाहला 'वाग्विद्राणनिद्रस्तदैव मृषामुनिमुद्रमवसाय स्वभावतः शुद्धाप्तागमपदार्थसमाचारनयस्य निशेषान्यदर्शनव्यतिरिक्तान्वयस्य समयस्याविदितपरमार्थजनापेक्षया दुरपवादो माभूदिति चः विचिन्त्य समस्तमप्यारतिकलोकमेवमभणीत्-'अहो दुर्वाणीकाः, किमित्येनं संयमिनमभैल्लेन संभावयन्ति भवन्तः, यदेष खलु महातपस्विनामपि महातपस्वी परमंनिःस्पृहाणामपि परमनिःस्पृहः प्रकृत्यैव महापुरुषो मायामोषरहितचित्तवृत्तिरस्मदभिमतेन मणिमेनमान यत्कथं नाम स्तेनभावेन भवद्भिः संभावनीयः। तत्प्रतूर्णमभ्यर्णीभूय प्रसन्नवपुषः सदाचारकैरवार्जुनज्योतिषमेनं क्षमयत स्तुत नमस्यत वरिवस्यत च। ... भवति चात्र श्लोकः

इस अंग के विषय में एक कथा है उसे सुनें -

सुराष्ट्र देश के पाटलीपुत्र नगर का राजा यशोध्वज था। उसके बड़ा पराक्रमी सुवीर नाम का पुत्र था। विद्यावृद्ध सज्जनों का समागम न मिलने तथा विलासी और बदमाशों की संगति में पड़ जाने से वह परधन और परस्त्री का लम्पट हो गया था।

एक बार क्रीड़ा करने के लिए वह क्रीडावन में गया। वहाँ एकत्र हुए ठग, चोर और भीलों की परिषद से वह बोला-'आप लोग बड़े पराक्रमी और बड़े साहसी हैं। आप में से जो कोई तामलिप्ति नगरमें अपने पुण्य और पौरुष से समुद्र की सारभूत सम्पत्ति को उपार्जित करनेवाले जिनेन्द्र भक्त सेठके सत मंजिले महल के ऊपर बने हुए जिनालय में से तीन छत्रों की चोटी में जड़ी हुई अद्भुत कान्ति वाली वैडूर्यमणि को चुरा लायेगा उसे उसकी इच्छानुसार पारितोषिक दिया जायेगा।

यह सुनकर समस्त चोरों का मुखिया सूर्प बड़े गर्व से बोला-'स्वामी यह क्या कठिन है ? जो मैं आपकी कृपा से आकाश के अन्तमें बनी हुई अमरावती नगरी के स्वामी इन्द्र के मुकुटमें लगे हुए रत्नको और पातालके अन्दर छिपी हुई भोगवती नगरी के स्वामी शेषनाग के फण में लगे हुए माणिक्य को हर सकता हूँ, उसके लिए आँखों से दिखाई देने वाले महल के ऊपर स्थित और मनुष्य मात्र के लिए शरणभूत

मन्दिर से मणि चुराना कौन साहस का काम है ?" इस प्रकार अपने शौर्य की गर्जना करके सूर्य नाम का चोर वहाँ से निकलकर गौड़ देश में आया। दूसरा उपाय न देख उसने मणि चुराने के लिए क्षुल्लक का वेष बना लिया। कभी वह चान्द्रायण व्रत करता था, कभी एक पक्ष में पारणा करता था और कभी एक मास का उपवास करता था। इस प्रकार की तपस्या से नगर, गाँव वगैरह में सर्वत्र हलचल मच गई। फैलते-फैलते यह चर्चा जिनेन्द्र भक्त के कानों तक भी पहुँची। वह परमभक्त उस मायावी के कपट वेष को न जानकर उससे प्रार्थना करनेके लिए गया कि- 'आर्य श्रेष्ठ ! जब तक मैं देश की यात्रा करके न लौटूँ, तब तक आप अनेक अमूल्य रत्नों से रचित मेरे जिनालयमें ही ठहरें।'।

अपने कपट जाल को छिपाने के लिए वह बोला- 'सेठ जी! ऐसा मत कहिए; क्योंकि स्त्रियों से व्याप्त और धन से परिपूर्ण स्थान पर ठहरने वाले निर्मल चित्त व्यक्तियों का भी दुष्टजनों के द्वारा तिरस्कार किये जाने के उदाहरण पाये जाते हैं।'।

सेठ- 'क्षुल्लक महाराज ! यह बात सत्य नहीं है। जिसने परलोक को नहीं जाना और जिसकी इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं, बाह्य निमित्त के मिलने पर उसका मन भले ही खराब हो जाये, किन्तु यथार्थदर्शी और असाधारण संयम के पालक आप जैसे यतिपतियों के विषय में यह बात लागू नहीं हो सकती।' इस प्रकार स्त्री, पुत्र, मित्र तथा बन्धु-बान्धवों का विश्वास न करके वह सेठ आग्रह पूर्वक उस कपटवेषी को लिवा लाया। तथा मन, कुटुम्बीजन, दिन, शकुन और वायु को अनुकूल पाकर परदेश यात्रा के लिए नगरके बाहर जाकर ठहर गया। उसी दिन वह कपटी मुनि उस मकान को आदमियों से भरपूर जानकर आधी रात के बीतने पर रत्न को चुराकर जैसे ही चला वैसे ही उस रत्न की चमकसे द्वारपालों ने उसे जाते देख लिया और वे उसके पीछे दौड़े। अपने को भागने में असमर्थ देख वह चोर उसी मकान में घुस गया जिसमें प्रस्थान के लिए सेठ ठहरा हुआ था। कोलाहल सुनकर सेठ की नींद खुल गई और उसने उस कपटी मुनि को पहचानकर सब मामला समझ लिया। किन्तु अनजान आदमी के कारण सच्चे देव, सच्चे शास्त्र और सत्य पदार्थों के अनुगामी जिन-शासनकी बदनामी न हो इस विचारसे वह सब रक्षकों से बोला- 'अरे बकवादियो ! इस साधु का क्यों तिरस्कार करते हो ? यह महातपस्वियों में भी महातपस्वी और अत्यन्त निस्पृहों में भी अत्यन्त निस्पृह है। इसका चित्त माया और मोहसे रहित है। तथा यह प्रकृतिसे ही महापुरुष है। यह मेरे कहनेसे ही मणि लाया है। तुम्हें इसके साथ चोरका-सा बर्ताव नहीं करना चाहिए। अतः शीघ्र पास जाकर प्रसन्न मन से सदाचार रूपी कुमुद के लिए चन्द्रमा के तुल्य उस साधु से क्षमा माँगो, उसकी स्तुति करो, और उसे नमस्कार करो।'।

इस विषय में एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है

मायासंयमनोत्सू सूर्प रत्नापहारिणि ।

दोषं निषूदयामास जिनेन्द्रो भक्तवाक्पराः ॥189॥

'माया के नियंत्रण में प्रवीण रत्न को चुरानेवाले सूर्प के दोष को जिनेन्द्र भक्त सेठ ने छिपाया' ॥189॥

इत्युपासकाध्ययने धर्मोपहणार्हणो नाम द्वादशः कल्पः ।

इस प्रकार उपासकाध्ययन में उपबृंहण गुण का वर्णन करने वाला बारहवाँ कल्प समाप्त हुआ।

वारिषेणकुमार का प्रव्रज्याव्रजन

तेरहवाँ कल्प

ग्रन्थ :

अब स्थितिकरण अंगको कहते हैं-

परीषह व्रतोद्विग्नमजातागमसङ्गमम् ।

स्थापयेद्भस्यदात्मानं समयी समयस्थितम् ॥190॥

तपसः प्रत्यवस्यन्तं यो न रक्षति संयतम् ।

नूनं स दर्शनाद्वाह्यः समयस्थितिलङ्घनात् ॥191॥

परीषह और व्रत से घबराया हुआ तथा आगम के ज्ञान से शून्य कोई साधर्मी भाई यदि धर्म से भ्रष्ट होता हो तो सम्यग्दृष्टी को उसका स्थितिकरण करना चाहिए। जो तप से भ्रष्ट होते हुए मुनि की रक्षा नहीं करता है, आगम की मर्यादा का उल्लंघन करने के कारण वह मनुष्य नियम से सम्यग्दर्शन से रहित है ॥190-191॥

नवैः संदिग्धनिर्वा हैविदध्याद्गणवर्धनम् ।

एकदोषकृते त्याज्यः प्राप्ततत्त्वः कथं नरः ॥192॥

यतः समयकार्यार्थी नानापञ्चजनाश्रयः ।

अतः संबोध्य यो यत्र योग्यस्तं तत्र योजयेत् ॥193॥

उपेक्षायां तु जायेत तत्त्वाद् दूरतरो नरः ।

ततस्तस्य भवो दीर्घः समयोऽपि च हीयते ॥194॥

जिनके निर्वाह में सन्देह है ऐसे नये मनुष्यों से भी संघ को बढ़ाना चाहिए। केवल एक दोष के कारण तत्त्वज्ञ मनुष्य को छोड़ा नहीं जा सकता। क्योंकि धर्म का काम अनेक मनुष्यों के आश्रयसे चलता है। इसलिए समझा-बुझाकर जो जिसके योग्य हो उसे उसमें लगा देना चाहिए। उपेक्षा करने से मनुष्य धर्म से दूर होता जाता है और ऐसा होने से उस मनुष्य का संसार सुदीर्घ होता है और धर्म की भी हानि होती है ॥192-194॥

(भावार्थ – ऊपर स्थितिकरण अंग का वर्णन करते हुए पं० सोमदेव सूरिने बहुत ही उपयोगी बातें कही हैं। धर्म से डिगते हुए मनुष्यों को धर्म के प्रेमवश धर्म में स्थिर करना स्थितिकरण अंग कहलाता है। धर्म के दो रूप व्यावहारिक कहे जाते हैं, एक श्रद्धान और दूसरा आचरण। यदि किन्हीं कारणों से किसी साधर्मी का श्रद्धान शिथिल हो रहा हो या वह अपने आचरण से भ्रष्ट होता हो तो धर्मप्रेमी का यह कर्तव्य है कि वह उन कारणों को यथाशक्ति दूर करके उस भाई को अपने धर्म में स्थिर रखने की भरसक चेष्टा करे। डिगते हुए को स्थिर करने के बदले भला-बुरा कहकर या उसकी उपेक्षा करके उसे यदि धर्मसे च्युत होने दिया जाये तो इससे लाभ तो कुछ नहीं होता उल्टे हानि ही होती है। क्योंकि एक तो धर्म से भ्रष्ट होकर वह मनुष्य पाप-पंक में और लिप्त होता जाता है और इस तरह उसका भयंकर पतन हो जाता है और दूसरी ओर संघमें से एक व्यक्तिके निकल जाने से धर्म की भी हानि होती है। क्योंकि कहा है कि धर्म का पालन करने वालोंके विना धर्म नहीं रह सकता। यदि हमें अपने धर्म को जीवित रखना है और उसकी उन्नति करना है तो हमें अपने साधर्मी भाइयों के सुख-दुःख का तथा मानापमान का ध्यान रखकर ही उनके साथ सदा सद्ब्यवहार करते रहना चाहिए तथा अपनी ओर से कोई भी ऐसा दुर्व्यवहार नहीं करना चाहिए जिससे उनके हृदय को चोट पहुँचे। क्योंकि प्रायः ऐसा देखा जाता है कि झगड़ा तो परस्पर में होता है और उसका गुस्सा निकाला जाता है मन्दिरपर। लड़-झगड़कर लोग मन्दिर में आना छोड़ देते हैं। पूजन करते समय कहा-सुनी हो जाये तो पूजन करना छोड़ देते हैं। इस तरह की बातों से कषाय बढ़ जाने के कारण मनुष्य हिताहित को भूल जाता है और उससे अपना और दूसरोंका अनिष्ट कर बैठता है, अतः ऐसे प्रसंगों पर शान्ति से काम लेना चाहिए। इसी तरह जो पंच होते हैं उनका उत्तरदायित्व बहुत बड़ा होता है, जरा जरा-सी बातों पर किसी को जातिच्युत कर देना, किसी का मन्दिर बन्द कर देना धर्म की हानि का ही कारण होता है। ऐसे समयमें जब लोग धर्म से विमुख होनेके लिए तैयार बैठे हों तब तो इस प्रकार के दण्डों का उल्टा ही परिणाम होता है। दण्ड का प्रयोग औषध की तरह करना चाहिए। जैसे वैद्य रोगी के रोग के अनुकूल दवा देकर उसे रोगमुक्त करने की ही चेष्टा करता है वैसे ही पञ्चों को भी अपराधी के अपराध और उसके निदान को देख-भाल करके ही उसे ऐसा दण्ड देना चाहिए जिससे उसका सुधार हो और आगे वह वैसा अपराध न कर सके। जाति और धर्म से बहिष्कार तो अत्यन्त गुरुतर अपराधों के लिए ही किया जाना चाहिए। इस तरह एक ओर तो मौजूदा साधर्मी भाइयों को बनाये रखने की चेष्टा करनी चाहिए और दूसरी ओर ऐसे नये मनुष्यों को भी धर्म में दीक्षित करके धर्म की वृद्धि करनी चाहिए जिनसे हमें थोड़ी-सी भी आशा हो कि ये इसमें खप सकेंगे। इस प्रकार पुराने और नये साधर्मी भाइयों का स्थितिकरण करते रहने से धर्म के नष्ट हो जानेका भय नहीं रहता। इस सम्बन्धमें एक कथा है, उसे सुनें -)

स्थितिकरण अंग में प्रसिद्ध वारिषेण की कथा

श्रूयतामत्रोपाख्यानम्-मगधदेशेषु राजगृहापरनामावसरे पञ्चशैलपुरे चेलिनीमहादेवीप्रणयक्रेणिकस्य श्रेणिकस्य गोत्राकलत्रस्य पुत्रः सकलवैरिपुराभिषेणो वारिषेणो नाम । स किल कुमारकाल एव संसारसुखसमागमविमुखमानसः परमवैराग्योद्गुणः पूर्णनिर्णयरसः श्रावकधर्माधनधन्यधिषणतया गुरूपासनसंवीणतया च सम्यगवसितोपासकाध्य यनविधिराश्रयशौर्यनिधिरेकदा प्रेतभूमिषु भूतवासरविभावर्या रात्रिप्रतिमास्थितो बभूव । अत्रावसरे क्षपायाः परिणताभोगे खलु मध्यभागे मगधसुन्दरीनामया पण्याङ्गनयात्मन्यतीवासक्तचित्तवृत्तिप्रसारो मुगवेगनामा वीरः शयनतलमापन्नः सन्नेवमुक्तः--'राजश्रेष्ठिनो धनदत्तनामनिष्ठस्य

कीर्तिमतीनामायाः प्रियतमायाः स्तनमण्डनोदारमलङ्कारसारं हारमिदानीमेवानीय यदि विश्रीणयसि, तदा त्वं मे रतिरामः, अन्यथा प्रणयविरामः' इति । सोऽप्यवशानङ्गवेगो मृगवेगस्तद्वचनादेव तदायतनानिःसृत्याभिसृत्य च निजकलाबला- , तस्य धनदत्तस्यागारमाचरितहारापहारस्तत्किरणनिकरनिश्चितचरणचारस्तलारानुचरैस्नुसृतो मृगायितुमसमर्थस्तस्य व्युत्सर्गविषमुपेयुषो वारिषेणस्य पुरतो हारमपहाय तिरोदधे । "तदनुचरास्तत्प्रकाशविशेषवशात् 'वारिषेणोऽयं ननु राजकुमारः पलायितुमशक्तः पित्रोः श्रावकत्वादिमामहत्प्रतिमासमानाकृति प्रतिपद्य पुरो निहितहारः समास्ते' इत्यवमृश्य प्रविश्य च विश्वम्भराधीशवेश्मनिवेशमेतत्पितुः प्रतिपादितवृत्तान्ताः।

मगध देश में पञ्चशैलपुर नाम का नगर है, जिसे राजगृही भी कहते हैं। उसमें राजा श्रेणिक राज्य करते थे, उनकी पट्टरानी चेलिनी थी। राजा श्रेणिक के समस्त वैरियों के नगरों को जीतनेवाला वारिषेण नामका पुत्र था। कुमार अवस्था से ही वह सांसारिक सुखों से विमुख होकर श्रावक धर्म का पालन करता था और ऐसा करने से तथा गुरुओं की उपासना में संलग्न होने से उसे श्रावकाचार का अच्छा परिज्ञान हो गया था। रात्रि के समय एक दिन वह शूर-बीर स्मशान भूमि में ध्यानमग्न था। उसी रात के मध्यमें मृगवेग नाम का एक वीर जब मगध सुन्दरी नाम की वेश्याके शयन-कक्षमें पहुँचा तो वेश्या ने कहा-'राजश्रेष्ठी धनदत्त की पत्नी कीर्तिमती के गले का हार इसी समय लाकर यदि मुझे दोगे तो तुम मेरे प्रेम के स्वामी हो, अन्यथा हमारे तुम्हारे प्रेम का आज अन्त है।

यह सुनते ही कामुक मृगवेग वेश्या के घर से निकलकर धनदत्त के घर पहुँचा और अपनी चतुराई से उसके घर में घुस हार को चुरा जैसे ही चला वैसे ही उस हार की किरणों के प्रकाश से नगर के सिपाहियों ने उसे देख लिया और वे उसके पीछे दौड़े। अपने को दौड़ने में असमर्थ जानकर मृगवेग ने वह हार कायोत्सर्ग से स्थित वारिषेण के आगे डाल दिया और स्वयं छिप गया।

जब सिपाही वहाँ पहुँचे तो उन्होंने हार के प्रकाशमें वारिषेण को पहचाना। उन्होंने सोचा कि राजकुमार के माता-पिता श्रावक हैं अतः भागने में असमर्थता देख राजकुमार ने अपने आगे हार रखकर जिनेन्द्र की प्रतिमाके समान अपना रूप बना लिया है। यह सोच वे सब राजमहल में आये और राजा श्रेणिक से सब समाचार निवेदन कर दिया।

दण्डो हि केवलो लोकं परं चेमं च रक्षति ।

राज्ञा शत्रौ च पुत्रे च यथादोषं समं धृतः ॥195॥

नीति में कहा है कि - राजा के द्वारा शत्रु और पुत्र को अपराध के अनुसार समान रूप से दिया गया दण्ड इस लोक की और परलोक की भी रक्षा करता है ॥195॥

इति वचनात् 'नहि महीभुजां गुणदोषाभ्यामन्यत्र मित्रामित्रव्यवस्थितिः, तदस्य रत्नापहारोपहतचरित्रस्य पुत्रशत्रोर्न प्राणप्रयाणादपरश्चण्डो दण्डः समस्ति' इति न्यायनिष्ठुरतावेशात्तज्जनकादेशादागत्य तं सदाचारमहान्तं प्रहरन्तः शरविशरान्प्रसूनशेखरतां भ्रमिल मण्डलानि कर्णकुण्डलतां कृपाणनिकरान्मुक्ताहारतामेवमपराण्यप्यस्त्राणि भूषणतामनुसरन्ति, निबुध्य तद्भयानधैर्यप्रवृद्धप्रमोदतया स्वयमेव पुरदेवताकरविकीर्यमाणामरतरुप्रसवोपहारमम्बरचरकुमारास्फाल्यमानाननिकरमनिमिषनिकायकीर्यमानानेकस्तुतिव्यतिकरमि - तस्ततो महामहोत्सवावतारं च निचौष्य सत्वरमतिभीतविस्मितान्तःकरणाः श्रेणिकधरणोश्चरायेदं निवेदयामासुः । नरवरः सपरिवारः सोत्तालं तत्रागतः सन्कुमाराचारानुरागरसोत्सारितमृतिभीतिसंगान्मृगवेगादवगतामूलवृत्तान्तः साधुं तं कुमारं क्षमयामास । नृपनन्दनोऽपि प्रतिज्ञातसमयावसाने 'प्राणिनां सुलभसंपाताः खलु संसारे व्यसनविनिपाताः तदलमत्र कालकवलनावलम्बेन विलम्बेन ।

एषोऽहमिदानीमवाप्तयथार्थमनीषोन्मेषस्तावदात्महितस्योपस्करिष्ये' इति निश्चयमुपश्लिष्याभाष्य पितरमापिष्य च

बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहाग्रहमाचार्यस्य सुरदेवस्यान्तिके तपो जग्राह । भवति चात्र श्लोकः -

अतः राजाओं के लिए जो गुणी है वह मित्र है और जो दोषी है वह शत्रु है। इसलिए रत्नहार को चुराने वाला मेरा पुत्र भी मेरा शत्रु है और मृत्यु के सिवा दूसरा कोई भयानक दण्ड है नहीं। यह विचारकर राजा श्रेणिक ने कठोर बनकर अपने पुत्र की मृत्यु की आज्ञा दे दी। राजा की आज्ञा पाकर वे सिपाही स्मशान भूमि में आये और उस महान् सदाचारी वारिषेण के ऊपर शस्त्र-प्रहार करने लगे। शस्त्र प्रहार करते ही बाण तो फूलों का मुकुट बन गये। चक्र कानों के कुण्डल बन गये, तलवारें मोतियों का हार बन गई। इस तरह अन्य भी अस्त्र भूषणरूप हो गये। यह समाचार जानकर और वारिषेण के ध्यान और धैर्य से प्रसन्न होकर नगर देवता ने स्वयं ही पुष्पों की वर्षा की, विद्याधर कुमारों ने दुन्दुभि बाजे बजाये और देवताओं ने वारिषेणकी बहुत स्तुति की। जब सिपाहियों ने यह सब महामहोत्सव देखा तो वे बड़े डरे और राजा

श्रेणिक से जाकर उन्होंने सब समाचार कहा राजा जल्दीसे परिवार के साथ वहाँ आया। वारिषेण के चारित्र का चमत्कार देखकर मृगवेग चोर को भी उससे बड़ा स्नेह उत्पन्न हुआ और वह मृत्यु का भय छोड़कर वहाँ आया तथा उसने हार की चोरीका सब हाल राजा श्रेणिक से कहा। राजा श्रेणिक ने कुमार को क्षमा कर दिया।

वारिषेण ने यह सोचकर 'संसार में प्राणियों पर संकट आना सुलभ है अतः मृत्यु की प्रतीक्षा करने से क्या लाभ।' यह निश्चय कर लिया था कि चूंकि मुझे अब सच्चे ज्ञान की प्राप्ति हुई है इसलिए अब मैं आत्मा का कल्याण करूँगा। अतः उसने अपने पिता पर अपना निश्चय प्रकट कर दिया और बाह्य तथा आभ्यन्तर परिग्रह को छोड़कर आचार्य सुरदेव के समीप में जिन-दीक्षा ले ली।

इस विषयमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है -

विशुद्धमनसां पुंसां परिच्छेदपरात्मनाम् ।

किं कुर्वन्ति कृता विघ्नाः सदाचारखिलैः खलैः ॥196॥

सदाचार को बिगाड़ने वाले दुष्ट मनुष्यों के द्वारा किये गये विघ्न, विचार में तत्पर विशुद्धमन वाले मनुष्यों का क्या कर सकते हैं ? ॥196॥

इत्युपासकाध्ययने वारिषेणकुमारप्रव्रज्याव्रजनो नाम त्रयोदशः कल्पः ।

इस प्रकार उपासकाध्ययन में वारिषेणकुमार का प्रव्रज्याव्रजन नामक तेरहवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

स्थितिकरण

चौदहवाँ कल्प

ग्रन्थ :

पुनः 'इष्टं धर्मे नियोजयेत्, तथा आतुरस्यागदकारोपयोग इवानिच्छतोऽपि जन्तोर्धर्मयोगः कशलैः क्रियमाणो भवत्यायत्यामवश्यं निःश्रेयसाय'

इति जातमतिस्तपःपरिग्रहेऽपि सहपांसुक्रीडितत्वाच्चिरपरिचयरूढप्रणयत्वाश्चात्मनः प्रियसुहृदं पुष्पवतीभट्टिनीभर्तुरमात्यस्य

शाण्डिल्यायनस्य नन्दनमभिनवविवाहविहितकङ्कणबन्धनं पुष्पदन्ताभिधानमेतदाय तनानुगमनेन

स्वामिपुत्रत्वात्प्रतिपन्नमहामुनिरूपत्वाच्चाचरिताभ्युत्थानं हस्तेनावलम्ब्य पुनः 'अतोऽतश्च प्रदेशान्मां व्यावर्तयिष्यत्ययं भगवान्' इति

सहानुसरन्तमवाप्तवन्तं च गुरूपान्तम्, 'भदन्त, एष खलु महानुभावतालतालम्बनतरुः स्वभावेनैव भवभीरुभोगानुभवने विरक्तचित्तः

सर्वसंयतवृत्तार्थी भगवत्पादमूलमायातः' इति सूचयित्वा भगवतोऽभ्युत्थाने कामकरिकदलिकावहीभारमिव मूर्धजनिकरमपनाय्य दीक्षां

ग्राहयामास । सोऽपि तदुपरोधानेपाहीक्षामादाय हृदयस्याविदितवेदितव्यत्वादनङ्गप्रहसितत्वाश्च पञ्जरपात्रः पैतत्रीव

मन्त्रशक्तिकीलितप्रतापः पृदाकुरिव गाढबन्धनालानितो व्यालशुण्डाल इव चाहर्निशं वारिषेणऋषिणा रक्ष्यमाणोऽपि।

राजा श्रेणिक का मन्त्री शाण्डिल्यायन था और उसकी पत्नी पुष्पवती थी। उनके पुष्पदन्त नामका पुत्र था। उसका नया विवाह हुआ था। वह

वारिषेण का अत्यन्त प्रिय मित्र था, बचपन में दोनों साथ खेले थे और चिरपरिचित होने से दोनों में गाढ़ स्नेह था। जब वारिषेण मुनि हो गये

तो उनका विचार अपने मित्र पुष्पदन्त को भी मुनि बनाने का हुआ। वे सोचने लगे कि शास्त्रकारों का कहना है कि 'अपने प्रियजन को धर्म

में लगाना चाहिए' तथा जैसे रोगी का वैद्यसे इलाज कराना आगे लाभदायक होता है वैसे ही न चाहने वाले जीव को भी समझदार मनुष्य

यदि धर्म में लगा दें तो उत्तरकाल में वह अवश्य ही मोक्ष की प्राप्ति का कारण होता है। यह सोचकर वारिषेण मुनि अपने मित्र के घर गये

और स्वामी के पुत्र होने के कारण तथा महामुनि का रूप होने के कारण पुष्पदन्त उन्हें देखकर खड़ा हो गया और उनके साथ यह सोचता

हुआ चला कि वह मुझे अमुक स्थान से लौटा देंगे।

उसे साथ लेकर वारिषेण मुनि अपने गुरु के पास आये और बोले-'भगवन् ! यह महानुभाव स्वभाव से ही संसारभीरु है तथा भोगों के भोग

से इसका चित्त विरक्त हो गया है। महाव्रत धारण करने की इच्छा से यह आपके चरणों में आया है।

वारिषेण ने इतना निवेदन करने के बाद पुष्पदन्त को गुरु के सम्मुख केशलौच कर के जिनदीक्षा धारण करा दी। किन्तु उसका हृदय तो

काम से पीड़ित था अतः पिंजरे में बन्द पक्षी की तरह, मंत्र की शक्ति से जिसका प्रताप कीलित कर दिया गया है उस सर्प की तरह तथा

मजबूत बन्धन से बँधे हुए दुष्ट हाथी की तरह वारिषेण मुनि के द्वारा रात-दिन देखरेख रखने पर भी कभी वह अपनी स्त्री के मुख का

विचार करता था।

अलकवलयरम्यं भ्रलतानर्तकान्तं

नवनयनविलासं चारुगण्डस्थलं च ।

मधुरवचनगर्भं स्मेरबिम्बाधरायाः

पुरत इव समास्ते तन्मुखं मे प्रियायाः ॥197॥

वह केशों से कैसा सुन्दर लगता है और उसकी भुकुटियाँ तो क्या गजब की हैं, आँखें कैसी मनोहारिणी हैं, कपोल कितने सुन्दर हैं, कैसी मीठी-मीठी बात करती है । मेरी प्यारी का मुख - तो मुझे ऐसा दीखता है मानो वह मेरे सामने ही मौजूद है' ॥197॥

कर्णावतंसमुखमण्डनकण्ठभूषा

वक्षोजपत्रजघनाभरणानि रागात् ।

पादेष्वलक्तकरसेन च चर्चनानि

कुर्वन्ति ये प्रणयिनीषु त एव धन्याः ॥198॥

कभी वह सोचता 'जो अपनी प्रियतमाओं के कानों को कर्ण फूल से सजाते हैं, मुख को अलंकारों से भूषित करते हैं, कण्ठ में कण्ठमाल पहिनाते हैं, उरोजों पर पत्र बाँधते हैं, जघन भाग में करधौनी धारण कराते हैं तथा पैरों में महावर लगाते हैं, वे ही धन्य हैं ॥198॥

लीलाविलासविलसन्नयनोत्पलायाः

स्फारस्मरोत्तरलिताधरपल्लवाया ।

उत्तुङ्गपीवरपयोधरमण्डलाया

स्तस्या मया सह कदा ननु संगमः स्यात् ॥199॥

कभी वह सोचता 'जिसके नेत्रकमल लीला के विलास से शोभित हैं, अधरपल्लव काम के वेग से काँपते हैं, उरोज उन्नत और स्थूल हैं, उसका मेरे साथ समागम कब होगा' ॥199॥

किं च

चित्रालेखनकर्मभिर्मनसिजन्यापारसारामृतै

पुढाभ्यासपुरःस्थितप्रियतमापादप्रणामक्रमैः।

स्वप्ने 'संगमविप्रयोगविषयप्रीत्यप्रमोदागमै

रित्थं वेषमुनिर्दिनानि गमयत्युत्कण्ठितः कानने ॥200॥

कभी वह चित्र बनाता, कभी अत्यन्त अभ्यास के कारण यह अनुभव करता कि उसकी प्रियतमा सामने खड़ी है और वह उसके चरणों में प्रणाम कर रहा है। कभी स्वप्न में संगमका सुख भोगता तो कभी वियोग का कष्ट उठाता। इस प्रकार वह मुनिवेषी बड़ी उत्कण्ठा के साथ जंगल में दिन बिताता था ॥200॥

इति निर्बन्धेन ध्यायन् द्वादश समाः समानशीत् शुरदेवभट्टारकोऽप्याभ्यां सह तेषु-तेषु विषयेषु तीर्थकृतां पञ्चकल्याणमङ्गलानि स्थानानि वन्दित्वा पुनर्विहारवशात्तत्रैव जिनायतनोत्तसितोपान्तशैलचूले पञ्चशैलपुरे समागत्यात्मनो वारिषेण ऋषेश्च तदिवसे पर्युपासितोपवासत्वात्तं पुष्पदन्तमेकाकिनमेव प्रत्यवसानायादिदेश। तदर्थमादिष्टेन च तेन चिन्तितं चिरात्कालात्खल्वेकस्मादपमृत्योर्जीवनवद्भरितो ऽस्मि । संप्रति हि मे नूनमनूनानि पुण्यान्यवेक्ष्य दीक्षां मुमुक्षुणा मञ्ज पाशपरिक्षेपक्षरितेनेव पक्षिणा पलायितुमारब्धम् । वारिषेणस्तस्य तथा प्रस्थानात्कृतोदकं वितर्त्य 'अवश्यमयं जिनरूपं जिहासुरिव सौत्सुक्यं विक्रमते, तदेष कषायमुष्यमाणधिषणः समयप्रतिपालनाधिकरणैर्न भवत्युपेक्षणीयः' इत्यनुध्यायावा तमनुरुध्यैतत्स्थापनाय जनकनिकेतनं जगाम। चेलिनीमहादेवी पुत्रं मित्रेण सत्रमुपढौकमानमवेक्ष्य तदभिप्रायपरीक्षार्थं सरागं वीतरागं चासनमयच्छत् । वारिषेणस्तेन समं चरमोपचारं विष्टरमलंकृत्य 'अम्ब, समाहूयतां समस्ता अप्यात्मीयाः स्नुषाः। तदनु वनदेवता इव प्रसूनोत्तंसोत्तरङ्गितकुन्तलारामाः, कल्पलता इव मणिभूषणरमणीयाङ्गनिर्गमाः, प्रावृष इव समुन्नद्धपयोधराविद्धमध्यभागाः, सकलजगल्लावण्यलवलिपिलिखिता इव सुभगभोगायतनाभोगाः, कङ्कल्लिकाननक्षितय इव पादपल्लवोल्लासितविहारविषयाः, कमलिन्य इव मणिमञ्जीरमणितोन्मदमरालमण्डलस्खलितचलेनजलेशयाः, स्वकीयरूपसंपत्तिरस्कृतत्रिभुवनरामारामणीयकाः

सलीलमहमहमिकोत्सुकाः समागत्य समन्तात्परिबवः पुण्यदेवता इव ताः स्ववासिन्यः । 'अम्ब, मद्भातृजाया सुदत्यप्याकार्यताम्। ततः

सन्ध्येव धातुरक्ताम्बरचराटोपा, तपःश्रीरिव विलुप्तकुन्तलकलापा, भव्यजनमतिरिव विभ्रमभ्रांशिदर्शना, हिमोन्मथिता कमलिनीव

क्षामच्छायापघना, शरदिव दीनपयोधरभरा, स्वष्वाङ्गकरङ्गा कृतिरिव प्रकटकीर्कसनिकरा सकलसंसारसुखव्यावृत्तिनीतिमूर्तिमती वैराग्य. स्थितिरिव विवेश। पुष्पदन्तहृदयकन्दलोल्लासवसुमती सुदती वारिषेणोऽवधार्य 'मित्र, सेयं तव प्रणयिनी यन्निमित्तमद्यापि न संपद्यसे मनोमुनिरिति। एताश्चैवंविधकायास्तव भ्रातृजायाः, तथैते च वयं तव समक्षोदयं समाचरिताभिजातजनोचितचरिताः'। पुष्पदन्तः ऐसा करते-करते बारह वर्ष बीत गये। एक बार शूरदेव गुरु अपने शिष्य वारिषेण और पुष्पदन्त के साथ तीर्थकरों के पञ्चकल्याणकों के स्थानों की वन्दना करके वूमते-घूमते जिनमन्दिरों से सुशोभित उसी पञ्चशैलपुर में आकर ठहरे। उस दिन वारिषेण मुनि का प्रोषधोपवास था। अतः उन्होंने पुष्पदन्त को अकेले ही जाकर भोजन कर आनेकी आज्ञा दी। आज्ञा पाकर पुष्पदन्त ने सोचा कि बहुत काल के पश्चात् इस अपमृत्यु से जीवन का उद्धार हुआ है। आज मेरे बहुत पुण्य का उदय है।' यह सोच दीक्षा को छोड़ने की इच्छा से, बन्धनमुक्त हुए पक्षी की तरह वह वहाँ से भागा। वारिषेण ने उसे इस तरहसे भागते हुए देखकर विचार किया कि 'यह अवश्य ही जिन दीक्षा छोड़ देने के लिए उत्सुक जान पड़ता है। इसकी बुद्धि मोह से भ्रष्ट हो गई है, अतः जिनागम के पालकों को इसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।' ऐसा सोचकर भागते हुए मित्र को रोककर उसको स्थिर करने के लिए वे अपने पिता के घर गये। चेलनी रानी ने मित्र के साथ अपने पुत्र को आता हुआ देखकर उसके मन की परीक्षा करने के लिए दो आसन बिछा दिये। उनमें एक आसन रागियों के योग्य था और दूसरा विरागियोंके योग्य। वारिषेण अपने मित्र के साथ विरागियों के योग्य आसन पर बैठ गया और बोला 'माता ! अपनी सब बहुओं को बुलाओ।'

अपनी रूप-सम्पदा से तीनों लोकों की सुन्दर स्त्रियों को तिरस्कृत करने वाली सभी बहुएँ बड़ी उत्सुकता के साथ आकर चारों ओर बैठ गईं। केशपाश में गूँथे गये फूलों से वे वन देवताके समान प्रतीत होती थीं, उनके अंग मणियों के भूषणों से शोभित थे अतः वे कल्पलता के तुल्य प्रतीत होती थीं, उन्नत पयोधरों (स्तनों) से उनका मध्यभाग पराजित हो गया था अर्थात् मध्यभाग कृश था, अतः वे वर्षाऋतुके तुल्य प्रतीत होती थी क्योंकि वर्षाऋतु में भी आकाश में पयोधर (मेघ) उमड़े रहते हैं। उसके बाद वारिषेण बोले- 'माता ! मेरी भ्रातृवधू सुदती को भी बुलाओ।' -

आज्ञा पाते ही सुदती भी आ गई। उसके केशकलाप अस्त-व्यस्त थे, हिमपात से कुमुलाई हुई कमलिनी की तरह उसकी मुखश्री म्लान हो गई थी। शरीर में हड्डियाँ ही दिखाई देती थीं। वह ऐसी मालूम देती थी मानो संसार के समस्त सुखों से उदासीन मूर्तिमती वैराग्यविभूति ही है।

पुष्पदन्त के हृदयरूपी नवांकुर के उल्लास के लिए पृथ्वी के तुल्य सुदती को जानकर वारिषेण बोले-'मित्र ! यही तुम्हारी वह प्रियतमा है जिसके कारण अब तक भी तुम मनसे साधु नहीं बन सके हो। और ये सब तुम्हारी भ्रातृवधू हैं। हम सब तुम्हारी सेवाके लिए तैयार हैं।

पुष्पदन्त सोचने लगा-

स्नानानुलेपवसनाभरणप्रसून

ताम्बूलवासविधिना क्षणमात्रमेतत् ।

आधेयभावसुभगं वपुरङ्गनानां

नैसर्गिकी तु किमिव स्थितिरस्य वाच्या ॥201॥

स्त्रियों का शरीर स्नान, लेप, वस्त्र, आभूषण, फूल, पान, सुगन्ध आदिके द्वारा क्षणमात्र के लिए सुन्दर हो जाता है। यदि वह अपनी स्वाभाविक स्थितिमें रहे तब तो उसकी दशा का कहना ही क्या है ॥201॥

इत्यसंशयमाशय्य स्त्रैणेषु सुखकरणेषु विचिकित्सासज्जा लज्जामभिनीय 'हंहो निकोमनिरुद्धमकरध्वजोद्धवविधुरबान्धव संसारसुखसरोजोत्सारनीहारायमाणचरण वारिषेण, पर्याप्तमत्रावस्थानेन । प्रकामं शेकलितकुसुमात्रसररहस्य वयस्य, इदानी यथार्थनिर्वेदावनिर्मनोमुनिरस्मीति चाधाय विशुद्धहृदयौ द्वावपि तौ चेलिनीमहादेवीमभिनन्द्योपसय च गुरुपादोपसल्यं निःशल्याशयौ साधु तपश्चक्रतुः । भवति चात्र श्लोकः -

ऐसा निःसन्देह विचारकर तथा स्त्रियों के विषयमें ग्लानि पूर्ण लज्जा का अभिनय करता हुआ वह बोला-'हे कामजेता और संसार के सुखरूपी कमलों के लिए बर्फ के समान वारिषेण ! यहाँ ठहरना वृथा है। कामरस के रहस्य को खण्ड-खण्ड कर डालनेवाले मेरे मित्र ! इस समय मुझे सच्चा वैराग्य हुआ है और मैं मनसे मुनि हूँ। दोनों विशुद्ध हृदय मित्रों ने रानी चेलनी का अभिनन्दन किया और गुरु के चरणों में

आकर निशल्य होकर तपस्या में लीन हो गये। इस विषयमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है -

सुदतीसंगमासक्तं पुष्पदन्तं तपस्विनम् ।

वारिणः कृतत्राणः स्थापयामास संयमे ॥202॥

वारिषेण ने सुदती में आसक्त तपस्वी पुष्पदन्त की रक्षा की और उसे संयम में लगाया ॥202॥

इत्युपासकाध्ययने स्थितिकारकीर्तनो नाम चतुर्दशः कल्पः ।

इस प्रकार उपासकाध्ययन में स्थितिकरण का वर्णन करने वाला चौदहवाँ कल्प समाप्त हुआ।

वज्रकुमार का विद्याधर से समागम

पन्द्रहवाँ कल्प

ग्रन्थ :

(अब प्रभावना अंग को बतलाते हैं-)

चैत्यैश्चैत्यालयानैस्तपोभिर्विविधात्मकैः ।

पूजामहाध्वजाद्यैश्च कुर्यान्मार्गप्रभावनम् ॥203॥

जिनबिम्ब और जिनालयों की स्थापना के द्वारा, ज्ञान के द्वारा, तप के द्वारा तथा अनेक प्रकार की महाध्वज आदि पूजाओं के द्वारा जैन धर्म की प्रभावना करना चाहिये ॥203॥

ज्ञाने तपसि पूजायां यतीनां यस्त्वसूयते ।

स्वर्गापवर्गभूर्लक्ष्मीनं तस्याप्यसूयते ॥204॥

जो मुनियों के ज्ञान, तप और पूजा की निन्दा करता है, उनमें झूठा दोष लगाता है, स्वर्ग और मोक्ष लक्ष्मी भी नियम से उससे द्वेष करती है।

अर्थात् उसे न स्वर्ग के सुखोंकी प्राप्ति होती है, और न मोक्ष ही मिलता है ॥204॥

समर्थश्चित्तवित्ताभ्यामिहाशासनभासकः ।

समर्थश्चित्तवित्ताभ्यां स्वैस्यामुत्र न भासकः ॥205॥

तहानज्ञानविज्ञानमहामहमहोत्सवैः ।

दर्शनद्योतनं कुर्यादैहिकापेक्षयोज्झितः ॥206॥

इस लोक से बुद्धि और धन में समर्थ होने पर भी जो जिनशासन की प्रभावना नहीं करता, वह बुद्धि और धन से समर्थ होने पर भी परलोक में अपना कल्याण नहीं करता। अतः ऐहिक सुख की इच्छा न करके दान, ज्ञान, विज्ञान और महापूजा आदि महोत्सवों के द्वारा सम्यग्दर्शनका प्रकाश करना चाहिए ॥205-206॥

(भावार्थ – सम्यग्दर्शन का एक अंग प्रभावना है। जैन धर्म के महत्त्व को प्रकट करना, ऐसे कार्य करना जिससे लोगों में जैन धर्म की जानकारी हो, जैन धर्म के विषय में फैला हुआ अज्ञान दूर हो और जनता की रुचि जैन धर्म की ओर आकृष्ट हो, प्रभावना कहलाता है। पहले जैन धर्म में बड़े-बड़े तपस्वी मुनि, ज्ञानी, आचार्य और धर्मात्मा सेठ होते थे। तपस्वी मुनि अपनी तपस्या के द्वारा जनता पर ऐसा प्रभाव डालते थे जिससे स्वयं जनता उनकी ओर आकृष्ट होती थी और उनसे संयम की शिक्षा लेकर अपने इस जन्म और परजन्म को सुखी बनाती थी। ज्ञानी, आचार्य जगह-जगह विहार करके जैन धर्म का उपदेश देते थे। यदि कहीं जैन धर्म पर आक्षेप होते थे तो उनको दूर करते थे, यदि कोई शास्त्रार्थ करना चाहता था तो राजसभाओं में उपस्थित होकर शास्त्रार्थ करते थे और यदि कहीं किसी प्रतिद्वन्द्वी के द्वारा जैन धर्म के कार्यों में रुकावट डाली जाती थी तो अपनी वाम्मिता का प्रभाव डालकर उन रुकावटोंको दूर करते थे। तथा बड़े-बड़े ग्रन्थराज रचकर जिनवाणी के भण्डार को भरते थे। आचार्य कुन्दकुन्द, स्वामी समन्तभद्र, भट्टाकलंक, स्वामी वीरसेन, स्वामी जिनसेन आदि महान् आचार्यों के पुण्य श्रम का ही यह फल है जो जैनधर्म आज भी जीवित है। इसी प्रकार राजा, सेठ, साहूकार तरह-तरहका महोत्सव करके जैन धर्म का प्रकाश करते थे। आज न वैसे तपस्वी मुनि हैं, न ज्ञानी आचार्य हैं और न वैसे धर्मात्मा सेठ हैं। फिर भी आज जैनधर्म के प्रकाश को फैलाने की बहुत आवश्यकता है। जैन बालक, बालिकाएँ दिन-पर-दिन धर्म से अनजान बनते जाते हैं, उन्हें शिक्षा देने के लिए पाठशालाएँ खोलनी चाहिए। विद्वानों को पैदा करने का तथा उनकी परम्परा बनाये रखने का प्रयत्न करते रहना चाहिए;

क्योंकि उनके विना शिक्षा उपदेश और शास्त्राथों का आयोजन नहीं हो सकता। इसी तरह जनता में प्रचार के लिए विविध भाषाओं ट्रेक्ट पुस्तकें वगैरह प्रकाशित करके वितरण करते रहना चाहिए। तथा साधु त्यागियों को गुणवान् और विद्वान् बनाने का भी प्रयत्न करते रहना चाहिए। यदि साधु और त्यागीगण विद्वान् हों तो उनसे जैनधर्म की प्रभावना को बहुत साहाय्य मिल सकता है। इसके सिवा पूजा-प्रतिष्ठा कराकर भी जनता में जैन धर्म का प्रचार कराते रहना चाहिए। आजकल कुछ भाई इसे व्यर्थ व्यय समझते हैं क्योंकि एक तो आज नये मन्दिरों की उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी जीर्णोद्धार की आवश्यकता है। दूसरे इस तरहके कार्यों में धर्म-प्रेम की भावना कम रहती है और नाम की भावना व पद की इच्छा ज्यादा रहती है। अतः इन बुराइयों को दूर करके आवश्यक स्थानों में महोत्सवों का आयोजन करते रहना चाहिए और उनमें उपदेश सभाओं का सुन्दर आयोजन रहना चाहिए। ऐसा करने से महोत्सवों का आयोजन विशेष लाभदायक सिद्ध होगा और उनसे जैन धर्म की भी विशेष प्रभावना हो सकेगी।)

प्रभावना अंग में प्रसिद्ध वज्रकुमार मुनि की कथा

श्रूयतामत्रोपाख्यानम्-पञ्चालदेशेषु श्रीमत्पार्श्वनाथपरमेश्वरयशःप्रकाशनामंत्रे अहिच्छत्रे चन्द्राननागनारतिकुसुमचापस्य द्विषतपस्य भूपतेरुदितोदितकुलशीलः षडङ्गे वेदे दैवे निमित्ते दण्डनीत्यां चाभिविनीतमतिरापदां दैवीनां मानुषीणां च प्रतिकर्ता यज्ञदत्ताभट्टिनीभर्ता सोमदत्तो नाम पुरोहितोऽभूत् । एकदा तु सा किल यज्ञदत्तान्तर्वली सती माकन्दमञ्जरीकर्णपूरेषु तत्परिणतफलाहारेषु च समासादितदोहला व्यतिक्रान्तरसालवल्लीरीफलकालतया कामितमनवाप्नुवती शिफासु व्यथमाना "प्रतानिनोव 'तनुतानवमुपेयुषी तेन पुरोहितेन शातिजनेन च प्रबन्धेन पृष्टा हृदयेष्टमभाषिष्ट। भट्टस्तनिशम्य 'कथमेतन्मनोरथमयथार्थपथमस्मन्मनोमर्थ 'मव्यर्थप्रार्थनं करिष्यामि' इत्याकुलमनः परिच्छदच्छात्रतन्त्रानुपदः सात "पत्रपदत्राणस्तद्वेषणधिषणापरायणः सन्नितस्ततो व्रजन् जलवाहिनीनामनदीतटनिकटनिविष्टप्रतनने महति कालिदासकानने परमतपश्चरणाचरणशुचिशरीरेण निःशेषश्रुतश्रवणप्रसृत मनस्कारेण समस्तसत्त्वस्वरूपनिरूपणस्वाध्यायध्वनिसिद्धौषधिसविधसाधितवनदेवतानिकरण मूर्तिमतेव धर्मेण विनयेदधिकेयमित्रेण सुमित्रेण मुनिनालंकृतालवालवलयमेतद्ब्रह्मवर्चसमाहात्यादामूलमाचूलं चैकं चूतमुल्लसल्लवलीफलगुलुच्छस्फीतमवलोक्य च्छेकच्छात्रहस्ते कलत्रस्य पिकप्रियप्रसवफलप्रतौली प्रहृत्य ततो

भगवतोऽवधिबोधपयोधिमध्यसंनिधीयमानसकलकलाकलापरत्नाद्धर्मश्रवणावसरप्रयत्नात्समायातं सहस्रारकल्पे सूर्यविमानसंभूतं सूर्यचराभिधानानुगतमत्यल्पविभवपरिप्लुतमात्मगोचरं भवान्तरमाकर्ष्योदीर्णजातिस्मरभावः

स्वप्नसमासादितसाम्राज्यसमानसारात्संसारद्विरज्य मनोजविजयप्राज्यां प्रव्रज्यामासज्य प्रबुद्धसिद्धान्तहृदयो मगधविषये सोपारपुरपर्यन्तधाम्नि नाभिगिरिनाम्नि महीधरे सम्यग्योगातापनयोगधरो बभूव । . तदनु सा तद्वियोगातकोवृत्तचित्ता यज्ञदत्ता तदन्तेवासिभ्यः सोमदत्तव्रतव्यतिफरमात्मखेदकरमनुभूय प्रसूय च समये स्तनन्धयं पुनस्तमादाय प्रयाय च तं भूमिभृतम् 'अहो कूटकपटपिटक मन्मनोवनदाहदावपाबकनिःस्निग्ध दुर्विदग्ध, यदीमं दिग्म्बरप्रतिच्छन्दमवच्छिद्य स्वच्छं येच्छयागच्छसि तदाऽऽगच्छ । नो चेद् गृहाणेनमात्मनो नन्दनम्' इति व्याहृत्यास्योर्ध्वशो" भगवतः पुरतः शिलातले बालकमुत्सृज्य विजहार निजं निवासम् । भगवानपि तेन सुतेन दृषदः प्लोषोत्कर्षकलुषत्वाद्विष्टरी कृतचरणवर्गः सोपसर्गस्तथैवावतस्थे ।

अत्रान्तरे सहचरानुचरसंचरत्वेचरीचरणालक्तकरक्तरन्ध्रस्य विजयातिटीघ्रस्य

दयिताविदूरविद्याधरीविनोदविहारपरिमलितकान्तारधरण्यामुत्तरश्रेण्याममरावतीपुरीपरमे - श्वरः सुमङ्गलाबलावरः

प्रकामनिखातारातिकान्ताशयशोकशङ्कस्त्रिशङ्कुर्नाम नृपतिः समरावसराभिसरत्सपत्नसंतानावसानसारशिलीमुखश्चिराय राज्यसुखमनुभूय जिनागमादवगतसंसारशरीरभोगवैराग्यस्थितियतिषू भूषु गोचरसंचाराय हेमपुरेश्वराय समस्तमहीशमान्यशासनाय वलवाहनाय सुतां सुदेवीं राज्यं च ज्येष्ठाय पुत्राय भास्करदेवाय प्रदाय सुप्रभसूरिसमीपे संयमी समजनि। ततो गतेषु कतिपयेषुचिदिवसेषु समुत्साहितात्मीयसहायसमूहेन स्वदोर्दविद्यावलव्यूहेन दुर्विनीतवरिष्ठेन कनिष्ठेनानुजेन पुरंदरदेवेन विहितराज्यापहारः परिजनेन समं स भास्करदेवस्तत्र बलवाहनपुरे शिबिरमधिनिवेश्य मणिमालया महिष्यानुगस्तं सोमदत्तभगवन्तमुपासितुमागतस्तत्पादमूले स्थलकमलमिव तं बालकमवलोक्य 'अहो महदाश्चर्यम्, यतः कथमिदमरत्नाकरमपि रत्नम्, अजलाशयमपि कुशेशयम्, अनिन्धनमपि तेजःपुञ्जम्, अचण्डकरमप्युग्रत्विषम्, अनिला मातुलमपि कमनीयम्, अपि च कथमयं वालपल्लव इव पाणिस्पर्शनापि म्लायल्लावण्यः, कठोरोमणि ग्रावणि वज्रघटित इव रिरंसमानमानसः, मातुरुत्सङ्गत इव सुखेन समास्ते' इति कृतमतिः प्रियतमे 'कामं स्तनंधयधृतमनोरथायास्तवायं

भगवत्प्रसादसंपन्नः सर्वलक्षणोपपन्नो वज्रकुमारो नामास्मदीयवंशविशालताविधा यिधामपात्रम् पुत्र इत्यभिधाय विधाय च यथावत्तस्य

भगवतः पर्युपासनं पुनरत एव महतोऽधिगतैतेदपत्यवृत्तान्तो भावपुरमनुससार । भवति चात्र श्लोकः -

अब इस विषयमें कथा कहते हैं, उसे सुनें पञ्चाल देश में श्रीमान् भगवान् पार्श्वनाथ के यश से प्रकाशित अहिछत्र नामका नगर है। उसमें द्विषंतप राजा राज्य करता था। उसकी पत्नी का नाम चन्द्रानना था। राजा द्विषंतप के सोमदेव नाम का पुरोहित था। वह बड़ा कुलीन और शीलवान् था। षडङ्ग वेद, ज्योतिष शास्त्र, निमित्त शास्त्र और दण्डनीति का पण्डित था तथा दैवी और मानवी विपत्तियों का प्रतिकार करने में चतुर था। एक बार उसकी पत्नी यज्ञदत्ता गर्भवती हुई। उसे आम के बौर को कानोंमें पहिरने का तथा आम के फलों को खानेका दोहला हुआ। किन्तु आम का मौसम बीत चुका था इस लिये दोहला पूरा न होने से वह बहुत दुबली हो गई। पुरोहित तथा कुटुम्बीजनों के पूछने पर उसने अपने मन की बात उनसे कही। सुनकर पुरोहित का मन बड़ा व्याकुल हुआ। वह सोचने लगा कि हमारे मन को पीड़ा देने वाले इसके असामयिक मनोरथ को कैसे पूर्ण करूं। उसने जूते पहने, छाता हाथ में लिया तथा शिष्यों को साथ लेकर आम की खोज में निकल पड़ा। इधर-उधर घूमते हुए उसने जलवाहिनी नाम की नदी के तट के निकट फैले हुए कालिदास नाम के बड़े भारी जंगल में सुमित्र नाम के मुनिको देखा। उत्कृष्ट तप के करने से उनका शरीर पवित्र हो गया था, समस्त शास्त्रों के सुनने से उनका मनोबल बढ़ गया था। वे ऐसे प्रतीत होते थे मानो मूर्तिमान् धर्म है। उनके ब्रह्मचर्य के तेज के प्रताप से एक आम का वृक्ष जड़से लेकर चोटी तक सुन्दर फलों से लदा हुआ था। पुरोहित ने एक छात्र के द्वारा अपनी पत्नी के लिए आम्रफल भेज दिया और आप धर्म श्रवण करने के लिए अवधिज्ञानी मुनि के समीप बैठ गया। मुनि ने बतलाया कि वह पहले जन्म में सहस्रार स्वर्ग के सूर्य विमानमें बहुत थोड़े वैभव का स्वामी सूर्यचर नाम का देव था। पूर्वजन्म का वृत्तान्त सुनकर उसे जातिस्मरण हो आया। स्वप्न में प्राप्त हुए साम्राज्य के तुल्य इस संसार से विरक्त होकर उसने काम को जीतने में समर्थ जिन-दीक्षा ले ली, और शास्त्रों के रहस्य को जानकर मगध देश के सोपारपुर के निकटवर्ती नाभिगिरि पर्वत पर आतापन योग से स्थित हो गया। उधर यज्ञदत्ता को जब छात्रों से सोमदत्त के दीक्षा ग्रहण करने का समाचार मिला तो उसे बड़ा खेद हुआ। उसके वियोग से उसका चित्त उखड़ गया। समय पर उसने एक पुत्र को जन्म दिया और उसे लेकर उसी पर्वत पर आई जहाँ सोमदत्त आतापन योग से स्थित था। उसे देखकर बोली- 'अरे मेरे मन रूपी वन को जलाने के लिए वन की आगके समान, निःस्नेही, मूर्ख कपटी ! यदि इस दिगम्बर वेष को छोड़कर स्वेच्छा से चलता हो तो चल, नहीं तो इस अपने पुत्र को ले ' ऐसा कहकर उस आतापनयोग से स्थित मुनि के सामने शिला पर बालक को छोड़कर अपने घर चली गई। शिला तप रही थी अतः बच्चा उनके चरणों पर लिटा हुआ था और मुनि इस उपसर्ग के साथ ज्यों-के-त्यों निश्चल खड़े थे।

इसी बीच में एक घटना घटी। विजयार्थ पर्वत की उत्तरश्रेणि में अमरावती नगरी का राजा त्रिशङ्क चिरकाल तक राज्यसुखको भोगकर संसार से विरक्त हो गया। मुनि होने की इच्छा से उसने अपनी कन्या तो हेमपुर के स्वामी भूमिगोचरी वलवाहन राजा को दे दी और राज्य ज्येष्ठ पुत्र भास्कर देव को दे दिया। फिर सुप्रभ सूरि के निकट जिनदीक्षा धारण कर ली। कुछ दिन बीतने पर उसके छोटे पुत्र पुरन्दर ने आत्मीय जनों के द्वारा उत्साहित किये जाने पर अपनी भुजाओं के और सैन्यबल के घमण्ड में आकर अपने बड़े भाई भास्कर देव का राज्य छीन लिया। तब भास्कर देव ने अपने परिजनों के साथ आकर बलवाहनपुर में अपना लश्कर डाला और स्वयं अपनी पटरानी मणिमाला के साथ सोमदत्त मुनि की वन्दना करने के लिए आया। मुनि के चरणों में पृथ्वी के कमल के समान उस बालक को देखकर वह बोला- 'अरे ! बड़ा आश्चर्य है। विना रत्नाकर के रत्न, विना जलाशय के कमल, विना ईधन के तेज का पुंज, विना सूर्य के उग्रकान्तिकारक और विना चन्द्रमा के मनोहर यह बालक यहाँ कहाँ से आया ? नव पल्लव के समान इसका लावण्य हाथ के स्पर्श से भी म्लान होने वाला है। किन्तु इस अत्यन्त गर्म पहाड़ पर वज्रसे बने हुए के समान क्रीड़ा करता हुआ सुख से ऐसा लेटा है मानो माता की गोदमें ही है। 'प्रियतमे ! तुम्हें पुत्र की वांछा थी। भगवान्के प्रसाद से तुम्हें यह सर्व लक्षणों से पूर्ण पुत्र प्राप्त हुआ है। इसका नाम वज्रकुमार रखते हैं। यह हमारे वंशको समुन्नत करेगा।' ऐसा कहकर उसने मुनि की उपासना की और उनसे बच्चे का सब वृत्तान्त जानकर नगर को लौट आया। किसी ने ठीक कहा है -

अन्तःसारशरीरेषु हितायैवाहितेहितम् ।

किं न स्यादग्निसंयोगः स्वर्णत्वाय तदैश्वर्यम् ॥207॥

जिनके अन्तरंग में कुछ सार है उनका अहित चाहना भी हित के लिए होता है। देखो, स्वर्णपाषाण को आग में तपाने से क्या वह सोना

नहीं हो जाता ॥207॥

इत्युपासकाध्ययने वज्रकुमारस्य विद्याधरसमागमो नाम पञ्चदशः कल्पः ।

इस प्रकार उपासकाध्ययन में वज्रकुमार का विद्याधर से समागम का वर्णन करने वाला पन्द्रहवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

वज्रकुमार द्वारा तप ग्रहण

सोलहवाँ कल्प

ग्रन्थ :

पुनर्बालभावाच्छोणच्छायकायः कोलिपल्लव इव धातकीप्रसवस्तबक इवारुणमणिकन्दुक इव च

बन्धूनामानन्दनिरीक्षितामृतपीथमन्थरितमुखः सखेलं करपरम्परया संचार्यमाणः

क्रमेणोत्तानशयदरहसितजानुचक्रमणगद्वालापस्पष्टक्रियापञ्चकस्थामवस्थामनुभूय मरुमार्ग इव छायापादपेन, छायापादप इव जलाशयेन, जलाशय इव कमलाकरेण, कमलाकर इव कलहंसनिवहेन, कलहंसनिवह इव रामासमागमेन, रामासमागम इव च स्मरलीलायितेन, तरुणीजनमनोमृगप्रमदवनेन यौवनेनालंचके। तदनु वाढं प्ररूढप्रौढयौवनावतारसारो वज्रकुमारः पितुर्मातुश्च वंशनिवेशानवद्याभिर्विद्याभिः प्रवलितप्रतापगुप्तः प्राप्तस्त्रचरलोकाधिक्यः सुवाक्यमूर्तिनामधामस्य मामस्य

मदनमदपण्यतारुण्यलावण्यारण्यवनदेवतावतरवसुमतीमिन्दुमती दुहितरं परिणीय मणिकुण्डल-रत्नशेखर-माणिक्य-शिखण्ड-किरीट

कीर्तन-कौस्तुभ-कर्णपूरपुरःसरैर्नभश्चरकुमारैरनुसृतस्तं पूर्वापरावारपारतरङ्गदन्तुरकन्दराधरं क्रीडारसवर्धनोद्धरं विजयाधुमहीधरम ध्यास्य विरविहायश्चरीपरिमलनम्लानमृणालजलेजमशोकदलशय्यादयितासाद्यविद्याधरीसुरतपरिमलवहलमिदमपवनलतास्थानं

कन्दकविनोदपरिणताम्बरचरीचरणालतकोडितमंद स्तमालमलालवालालयमेवमिदं रमणीयमेतन्मनोहरमदश्च सुन्दरमटनीध्रतटमिति

निध्यायन् समाचरितस्वैरविहारः पुनः प्राप्तहिमवगिरिप्राग्भारः खेचरीलोचनचन्द्रस्य पुरेन्द्रस्याङ्गवतयुवतिप्रीतिधाम्नो गरुडवेगनाम्नो

विद्याधरपतेरतिशयरूपनिरूपणपात्री प्रियपुत्र पवनवेगानामसङ्गां प्रालेयाचलमेखलाखलतिकलतालयनिलीनाङ्गां बहुरूपिणों नाम निपद्यां

विद्यामाराधयन्तीमनयैवं विघ्नविघ्नया जाताजगररूपया-विद्यया निगीर्णवदनामुपलक्ष्य परोपकारविक्षणस्तार्यविद्यया

तमेतल्लपनाविलतालुं मायाशयालुं वित्रासयामास । पवनवेगा तत्प्रत्यूहाभोगापगमानन्तरमेव विद्यायाः सिद्धिं प्रपद्य 'अवश्यमिह

जन्मन्ययमेव मे कृतप्राणत्राणावेशः प्राणेशः' इति चेतस्यभिनिविश्य पुनरस्यैव नीहारमहीधरस्य नितम्बतीरिणीपर्यन्ते सूर्यप्रतिमां

समाश्रितवतो भगवतस्तपःप्रभावसंपादितसमस्तसत्त्वव्यापदन्तस्य संयतस्य पादपीठोपकण्ठे पठतस्तवेयं सेत्स्यतीत्युपदेशावेशाभिनवमाराय

वज्रकुमाराय गगनगम नाङ्गनाजीवितभूतामभिमतार्थसाधनपर्याप्तिं प्राप्तिं विद्यां वितीर्य निजनगर्या पर्यटत् । वज्रकुमारस्तथैव तत्सूरिसमक्षं

फेनमालिनीकूले विद्यां प्रसाध्यासाध्यसाधनप्रवृद्धपराक्रमस्तमक्रमविक्रमाल्पीभूतदेवं पुरन्दरदेवं पितृव्यमव्याजमुच्छिद्य सद्यस्तां

विजयोत्सवपरम्परावतीममरावतीं पुरमात्मपितरमखिलखचराचरितचरणसेवं भास्करदेवं निवेश्य वश्येन्द्रियः स्वयंवरव्याजेन

विहिताभिलषितकान्तसंगामनङ्गसंगतङ्गारसुभगां पवनवेगामपराश्चाम्बरचरपतिवरा विवाह्य महाभागगृहो

विहायश्चरचित्तिचिन्तामात्रायासैस्तैस्तैर्विलासैः कालमतिवाहयामास ।

अन्यदा पुनरिष्टदुष्टशातिप्रभावक्षाभ्यामात्मनः पैरैधितत्वमवबुध्य निजान्वयनिश्चये सति शारीरेषुपैचारेषु प्रवृत्तिरन्यथा

निवृत्तिरित्याचरितसंगरस्ताभ्यां महामुनिमाहात्म्यमन्त्रवित्रासितदुरितनिशैचरायां मथुरायां तपस्यतः सोमदत्तस्य भगवतः सनीडे

नीतस्तदङ्गमुद्राप्रायमात्मकायमसाय संजातानन्दनिकायस्तावुभावप्युपनेतारौ मातापितरौ सादरमुक्तियुक्तिभ्यां प्रतिबोध्यावधीरितोभयग्रन्थो

निर्ग्रन्थश्चरणवृद्धिः समपादि । भवति चात्रा तृणकल्पः --

बचपन के कारण वज्रकुमार के शरीर की कान्ति अशोक वृक्षके नये पत्तों की तरह या धतूरे के अथवा लालमणि की गेंद की तरह प्रतीत होती थी। घर के आदमी उसे बड़े प्यारसे पुष्प गुच्छ की तरह देखते थे और वह हाथों हाथ घूमता था। पहले वह ऊपर को मुख किये लेटा

रहता था, कुछ बड़ा होने पर उसने मुसकराना शुरू किया। फिर घुटनों के बल चलने लगा। फिर तुतुलाते हुए बोलना शुरू किया। फिर

स्पष्ट बोलने लगा। इस तरह क्रम से पाँच अवस्थाओं को बिताकर वह बड़ा हुआ। और जैसे मरु भूमि का मार्ग छाया देने वाले वृक्ष से

शोभित होता है, छाया वृक्ष सरोवर से शोभित होता है, सरोवर कमलों से शोभित होता है, कमल समूह राजहंसों से शोभित होता है,

राजहंसों का समूह स्त्रीके समागम से शोभित होता है और स्त्री समागम काम विलास से शोभित होता है वैसे ही वज्रकुमारका शरीर यौवन

से सुशोभित हो गया। उसके बाद यौवन के भर उठने पर पितृवंश और मातृवंश से प्राप्त हुई निर्दोष विद्याओं के प्राप्त होने से उसका प्रताप और भी बढ़ गया और उसने अपने मामा की लड़की इन्दुमती से विवाह किया। एक बार वज्रकुमार अनेक विद्याधर कुमारों के साथ विजयार्थ पर्वत की शोभा देखता हुआ घूम रहा था। घूमते-घूमते वह हिमवान पर्वत पर जा पहुँचा। वहाँ विद्याधरों के स्वामी गरुड वेग की अतिशय रूपवती कन्या पवनवेगा बहुरूपिणी विद्या साधती थी। वज्रकुमार ने देखा कि विघ्न डालने की भावना से वह विद्या अजगर का रूप बनाकर उस कन्या को निगला ही चाहती है। उस परोपकारी ने तुरन्त ही गरुड विद्या के द्वारा उस के मुख को चीर दिया। इस विघ्न के दूर होते ही पवनवेगा को विद्या सिद्ध हो गई। उसने संकल्प किया कि इस जन्ममें मेरे प्राणोंकी रक्षा करने वाला यही युवक मेरा स्वामी है। यह संकल्प करके उसने वज्रकुमार को इष्ट वस्तु की सिद्धि करने वाली प्रज्ञप्ति नाम की विद्या प्रदान की और कहा कि इसी पहाड़के किनारे से बहने वाली नदी के पास आतापनयोग से स्थित, मुनि महाराजके चरणों के समीपमें बैठकर पढ़ने मात्र से तुम्हें यह विद्या सिद्ध हो जायेगी। यह कह कर वह अपने नगरको लौट गई। वज्र कुमार ने उसके कहे अनुसार फेनमालिनी नदी के किनारे आचार्य के समक्ष विद्या सिद्ध की। इस विद्या के प्रभाव से उसमें असाध्य काम को भी साधने की शक्ति आ गई और इससे उसका पराक्रम और भी बढ़ गया। तब उसने अपने चाचा पुरन्दरदेव को मारकर अमरावती नगरी के राज्यासन पर अपने पिता भास्करदेव को बैठाया और स्वयंवर में पवनवेगा के साथ अन्य विद्याधर कुमारियों से विवाह करके आनन्दपूर्वक दिन बिताने लगा।

एक बार इष्ट बन्धु-बान्धवों के कहने से और दुष्ट जनों के अनादरसे उसे पता चला कि मैं भास्कर देव का पुत्र नहीं हूँ, बल्कि उन्होंने मेरा पालन किया है, तो उसने प्रतिज्ञा की कि अपने वंश का निश्चय हो जाने पर ही मैं अन्न-जल ग्रहण करूँगा अन्यथा मेरे सबका त्याग है। तब उसके पालक माता-पिता उसे मथुरा नगरी में तपस्या करते हुए सोमदत्त मुनि के पास ले गये। मुनि की शारीरिक आकृति के तुल्य ही अपनी आकृति को देखकर उसे बड़ा आनन्द हुआ। और उसने उन दोनों माता-पिताको समझा-बुझाकर अन्तरंग और बहिरंग परिग्रहका त्याग कर दिया और निम्नन्ध साधु बनकर चारणऋद्धिका स्वामी हो गया।

श्रीकल्पः कान्तालोकश्चितो चितालोकः ।

पुण्यर्जनश्च स्वजनः कामविदूरे नरे भवति ॥208॥

किसी ने ठीक कहा है कि 'जो मनुष्य काम-विकार से दूर है उसके लिए लक्ष्मी तृण के समान है, एकत्र हुआ स्त्री-समुदाय चिता के आलोक समान हैं और कुटुम्बीजन राक्षसों के समान हैं ॥208॥

इत्युपासकाध्ययने वज्रकुमारस्य तपोग्रहणो नाम षोडशः कल्पः ।

इस प्रकार उपासकाध्ययन में वज्रकुमार के तप ग्रहण करने का वर्णन करने वाला सोलहवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

बुद्धदासी द्वारा पूतिकवाहन का वरण

सत्रहवाँ कल्प

ग्रन्थ :

पुनर्महामहोत्सवोत्साहितातोद्यवादानादमेदुरप्रासादकन्दरायामेतस्यामेव मथुरायां किल गोचराय चारणऋद्धियुगलं नगरमार्गे संगतगतिसर्ग सत् तत्र दित्रिरिवत्सर एवावस्थावसरे बालिकामेकां चिल्लचिकिन लोचनसनाथामनाथामापणाङ्गणचारिणों स्खलदमनविहारिणी निरीक्ष्य प्रतीक्ष्य पश्चाश्चरः सुनन्दनाभिधानगोचरो भगवानेवमवादीत्- 'अहो, दुरालोकः खलु प्राणिनां कर्मविपाकः, यदस्यामेव दशायां क्लेशाय प्रभवति' इति । पुरश्चारीभगवानभिनन्दननामधारी- 'तपःकल्पद्रुमोत्पादनन्दन सुनन्दनमुने, मैवं वादीः। यद्यपीयं गर्भसंभूता सती राजभेष्टिपदप्रवृत्तं समुद्रदत्तं पितरं जातमात्रा तद्वियोगदुःखोपसदां धनदां मातरं प्रवर्धमाना च बन्धुजनमकाण्ड एव दर्शमी दशामानीय इदमवस्थान्तरमनुभवन्ती तिष्ठति, तथाप्यनया प्रौढयौवनयास्य मथुरानाथस्यैर्विलादेवीविनोदावसथस्य पूतिकवाहनस्य महीनस्याप्रमहिण्या भवितव्यम्' इत्यवोचत् । पतञ्ज तत्रैव प्रस्तावे पिण्डपाताय हिण्डमानः शाक्यभिक्षुरुपश्रुत्यै 'नान्यथा मुनिभाषितम्' इति निर्विकल्पं संकल्प्य, स्वीकृत्य चैनामर्मिकामाहितविहारवसतिकामभिलषितानुहारैराहारैरवीवृधत् । जुहाव च बुद्धदासीति परिजनपरिहासतन्त्रेण गोत्रण । . ततो गतेषु केषुचिद्वर्षेषु भ्रमरकभङ्गाभिनयनभरते ध्रुविभ्रमारम्भोपाध्यायस्थानिनि लोचनविचारचातुर्याचार्यं चतुरोक्तिचातुरीप्रचारगुरुणि बिम्बाधरविकारसौन्दर्यकादम्बरीयोगे निम्नोन्नतप्रदेशप्रकाशनशिल्पिनि मनसिजगजमदोद्दीपनपिण्डिपण्डित शृङ्गारगर्भगतिरहस्योपदेशिनि समस्तभुवनमनोमोहनसिद्धौषधे प्रतिदिनप्रादुर्भावसविधे सति यौवने सा रूपसंपन्नमहीयसी बुद्धदासी

सोत्तालमुत्तुङ्गतमङ्गटङ्गोत्सङ्गसंगता तं भ्रमणिकया कृतविहारोपान्तागमनं पूतिकवाहनं राजानमदर्शत् । राजा च ताम् । राजा --

एक बार मथुरा नगरी में चारणऋद्धि के धारी दो मुनि मार्ग में चले जाते थे। उसी मार्ग में दो-तीन वर्ष की एक अनाथ बालिका जिसकी आँखें मैल से भरी थीं, इधर-उधर भटकती माँगती खाती डोलती थी। उसे देखकर पीछे चलने वाले सुनन्दन नाम के मुनि बोले- 'जीवों के कर्म का विपाक कोई नहीं जानता, देखो तो बेचारी यह बालिका इतनी-सी उम्र में ही कष्ट भोगती है।'

यह सुनकर आगे चलने वाले अभिनन्दन मुनि बोले- 'सुनन्दन मुनि ! ऐसा मत कहो, यद्यपि जब यह बालिका गर्भ में आई तो राजश्रेष्ठी के पद पर प्रतिष्ठित इसका पिता समुद्रदत्त मर गया, जब यह जन्मी। तो पति के वियोग में इसकी माता धनदा चल बसी, बड़ी हुई तो असमय में ही बन्धुबान्धव मर गये और अब यह इस हालतमें है। तथापि युवती होने पर यह इसी मथुरा नगरी के राजा पूतिकवाहनकी पटरानी होगी।' वहीं पर भोजनके लिए घूमते हुए बौद्ध भिक्षु ने इस बातचीतको सुना। उसने सोचा कि मुनि झूठ नहीं बोलते। अतः वह उस बालिका को अपने विहार में ले गया और उसको रुचि के अनुसार खान-पान देकर उसे बड़ा किया। सब लोग हँसी में उसे बुद्धदासी कहते थे। धीरे-धीरे उसमें यौवनका प्रादुर्भाव हो चला। उसकी भृकुटियों में विलास आ चला, लोचनोंमें कुछ अजीब चंचलता दृष्टिगोचर होने लगी, उसकी बातों में भी चातुर्य झलकने लगा, ओष्ठों पर अपूर्व मादकता छा गई, अंग-प्रत्यङ्ग में यौवनकी शिल्पकला का चातुर्य दिखाई पड़ने लगा, चालमें मादकता आगई। कुछ वर्ष बीतनेपर एक दिन वह रूपवती बुद्धदासी विहार के एक ऊँचे शिखर पर चढ़ी हुई थी। घूमते-घूमते राजा पूतिकवाहन उस विहार के करीब आ गया। दोनोंने एक दूसरेको देखा। . देखते ही राजा काम मोहित हो गया और विचारने लगा- 'इस स्त्री रूपी नदी में प्रायः मेरी मति इस प्रकार की हो रही है --

अलकवलयावर्तभ्रान्ता विलोचनवीचिका

प्रसरविधुरा मन्दोद्योगा स्तनद्वयसैकते ।

त्रिवलिवलनश्रान्ता नाभौ पुनश्च निमज्जना-

दिह हि सरिति प्रायेणैवं मतिर्मम वर्तते ॥209॥

प्रथम तो वह उसके कुटिल केश पाश के गोलाकार जूड़ेरूपी भँवर में पड़कर भ्रान्त हो गई, फिर नेत्ररूपी लहरों के तूफान में पड़कर पीड़ित हुई, उसके बाद दोनों स्तन रूपी बालुका मय किनारों पर पहुँचकर उसकी दौड़धूप शिथिल पड़ गई, पुनः उदर की तीन रेखाओं में भ्रमण करने से थक गई और पुनः नाभि में डूब जाने से क्लान्त हो गई ॥209॥

इति विचिन्त्य, चेतोभूविजम्भप्रारम्भनिवार्यावधार्य च, किमियं विहितविवाहोपचारा, किं वाद्यापि पतिवेरा' इति भिनापृच्छय तत्र 'द्वितीयपक्षे सर्वथास्मत्पने कर्तव्या' इति समर्पिताभिलाषमातपुरुषं प्रेष्य रणरणकजडान्तःकरणः शरणमगात् । आप्तपुरुषोऽप्यप्रमहिषीपदपणेबन्धने साध्यसिद्धि विधाय स्वामिनं तत्समागमिनमकरोत् । भवति चात्रार्या --

फिर उसने अपने चित्तमें उठते हुए बवण्डरको जिस किसी तरह रोककर आगे का मार्ग निर्धारित किया। एक विश्वस्त पुरुष को बुलाकर उससे अपने मन की अभिलाषा बतलाकर वह बोला- 'तुम भिक्षु के पास जाकर यह पूछो कि यह कन्या विवाहित है या अविवाहित ? यदि अविवाहित हो तो उसे हमारे लिए तैयार करो।' उस विश्वस्त पुरुषने राजमहिषी का पद प्रदान करने की प्रतिज्ञा करके उसका राजा के साथ विवाह करा दिया।

किसी ने ठीक कहा है --

पुण्यं वा पापं वा यत्काले जन्तुना पुराचरितम् ।

तत्तत्समये तस्य हि सुखं च दुःखं च योजयति ॥210॥

'जीव ने पूर्वजन्म में जो पुण्य या पाप किया है, समय आने पर वह उसे अवश्य सुख या दुःख देता है' ॥210॥

इत्युपासकाध्ययने बुद्धदास्याः पूतिकवाहनवरणो नाम सप्तदशः कल्पः।

इस प्रकार उपासकाध्ययन में बुद्धदासी द्वारा पूतिकवाहन के वरण का वर्णन करने वाला सत्रहवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

प्रभावना अंग

अठारहवाँ कल्प

ग्रन्थ :

अथ समायाते भन्यजनानन्दसंपादितकर्मणि नन्दीश्वरपर्वणि तया पतिप्रणयप्रेयस्या बुद्धदास्या प्रतिचातुर्मास्यमौर्विलादेव्याः स्यन्दनविनिर्गमेण भगवतः सकलभुवनोद्धरणस्थितेर्जिनपतेर्महामहोत्सवकरणमुत्से तुमिच्छन्त्या शुद्धोदनतनयस्येष्टार्थमष्टाहा सकलपरिवारानुगतमेतदुचितमुपकरणजातमवनिपतिर्याचितस्तथैव प्रत्यपद्यत । ऊर्विलादेव्यपि सुभगभावात्सपत्नीप्रभवं दौर्जन्यमनन्यसामान्यमप्रतीकारमाकलय्य सोमदत्ताचार्यमुपसद्य 'भदन्त, यद्यतस्मिन्त्रिदिनभाविन्यष्टाहामहे पूर्वक्रमेण जिनपूजार्थं मथुरायां मदीयो रथो भ्रमिष्यति, तदा मे देहस्थितिहेतुषु वस्तुषु साभिलाषं मनः, अन्यथा निरभिलाषम्' इति प्रतिजिज्ञासमाना तेन सोमदत्तेन भगवता तन्मनोरथसमर्थनार्थमवलोकितवक्रण वज्रकुमारेण साधुना साधु संबोधिता 'मातः, सम्यग्दृशामेणीदृशामवाप्तप्रथमकथे, अलमलमावेगेन । यतो न खलु मयि तव समयेसविण्याश्चित्तके पुत्रके सति भविताहतामहणीयाः प्रत्यवायः । तत्स्वस्थं पूर्वस्थित्यात्मस्थाने स्थातव्यम्' इति हृद्यमनवद्यममृषोष्ठं च निगद्य, आसाद्य च धूर्गतिविद्याधरपुरं महामुनितया बान्धवधिषणतया च निखिलेन भास्करदेवमुख्येनाम्बरचरचक्रेण क्रमशः कृताभ्युत्थानादिक्रियः सप्रश्रयमागमनायतनमापृष्टः स्पष्टमाचष्ट ।

तदनन्तरमानन्ददुन्दुभिनादोत्तालक्ष्वेलितमुखरमुखमण्डलैः, सामयिकालंकारसारसजितगजवाजिविमानगमनप्रचलत्कर्णकुण्डलैः, अनेकानणुमणिकिङ्किणीजालजटिलदुकूलकल्पितपालिध्वंजराजिविराजितभुजपञ्जरैः, करिमकरसिंहशार्दूलशरभकुम्भीरशफर शकुन्तेश्वरपुरःसराकारपताकासन्तानस्तिमितकरैः, मानस्तम्भस्तूपतोरणमणिवितानदर्पणसितातपत्रचामरविरोचनचन्द्रभद्र कुम्भसंभृतशयः, अतुच्छदेवच्छन्दाविच्छिन्नकोरथै स्यन्दनद्विपतुरगनरनिकीर्णसैन्यनिचयः,

सजयघण्टापटुपटहकरटामृदङ्गशङ्खाहलत्रिविलतालझल्लरीभेरिभम्भादिवाद्यानुगतगीतसंगतानाभोग सुभगसंचारैः, कुब्जवामनकिरातकितवनटनर्तकबन्दिवाग्जीवनविनोदानन्दितदिविजमनस्कारैः, से खेलखेचरसहचरीहस्तविन्यस्तस्वस्तिकप्रदीपधूपनि प्रभृतिविचित्रार्चनोपकरणरमणीयप्रसरैः, पिष्टातकपटवासप्रसूनोपहाराभिरामरमणीनिकरैः, अपरैश्च

तैस्तैर्विधृतपूजापर्यायपरिवारैर्विहायोविहारैः सह तं वज्रकुमारभगवन्तम्बरादवतरन्तमुत्प्रेक्ष्य 'भिक्षुदीक्षापटीयसी पुण्यभूयसी खलु बुद्धदासी, यस्याः सुगतसंपर्यायसमये समायातं सकलमेतत्सुरसैन्यम्' इति धृतधिषणे पौरजनान्तःकरणे सति स भगवानागनगमनानीकैः साकमौर्विलानिलये निलीये सावष्टम्भमेष्टाहीमथुरायां चक्रचरणं परिभ्रमय्याहत्प्रतिबिम्बाङ्कितमेकं स्तूपं तत्रातिष्ठिपत् । अत एवाद्यापि तत्तीर्थं देवनिर्मिताख्यया प्रथते । बुद्धदासी दासीवासीद्वमनोरथा । भवति चात्र श्लोकः -

इसके बाद भव्यजनों को आनन्द देनेवाला नन्दीश्वर पर्व आया । इस पर्वमें पूतिकवाहन राजा की रानी ऊर्विला देवी बड़ा भारी महोत्सव करके जिनेन्द्रदेवका रथ निकालती थी । बुद्धदासी ने उसके महोत्सव को नष्ट-भ्रष्ट करने के लिए बुद्धदेव की पूजाका आयोजन किया और उसके योग्य सब सामग्री राजा से माँगी । राजा ने सब सामान दे दिया । जब ऊर्विलाको अपनी सौत की इस असाधारण दुर्जनता का पता चला तो उसे इसका कोई प्रतीकार न सूझा । तब वह सोमदत्त आचार्य के पास गई और बोली-भगवन्, यदि इस दो-तीन दिन में आनेवाले अष्टाहिका पर्व में पुराने क्रमके अनुसार जिन भगवान्की पूजाके निमित्त से मेरा रथ मथुरा में निकलेगा तो मैं अन्न-जल ग्रहण करूँगी, नहीं तो मेरा त्याग है । यह सुनकर सोमदत्तने उसके मनोरथको पूर्ण करनेकी भावनासे मुनि वज्रकुमार की ओर देखा । वज्रकुमारने उसे समझाते हुए कहा- 'सम्यग्दृष्टि ललनाओं में अग्रणी माता ! इतनी क्यों घबराती हो ? अपनी धर्ममाता की चिन्ता करने वाले मुझ पुत्र के होते हुए जिनभगवान्की पूजा में विघ्न नहीं हो सकता । अतः निश्चिन्त होकर अपने महलों में जाकर बैठो ।

इस प्रकार अपने हृदय की सच्ची बात को कहकर वज्रकुमार मुनि विद्याधर भास्कर देव के नगर में पहुँचे । एक तो महामुनि होने से दूसरे बन्धुभाव होने से भास्करदेव वगैरह सभी विद्याधरों ने उनका सत्कार किया और विनयपूर्वक उनके आनेका कारण पूछा । वज्रकुमारने सब समाचार कहा । सुनते ही सब विद्याधर उनके साथ मथुरा चलने को तैयार हो गये । खूब जोर-जोरसे बाजे बजने लगे । हाथी, घोड़े और विमान सामयिक अलंकारों से सजा दिये गये । विद्याधरोंने बड़ी-बड़ी मणियोंकी घंटियोंसे सुशोभित ध्वजाएँ अपने हाथों में ले ली । कुछके हाथों में हाथी, मगर, सिंह आदि के आकारों से चित्रित पताकाएँ थीं । कुछ के हाथों में मानस्तम्भ, स्तूप, तोरण, दर्पण, छत्र, चमर, शृङ्गार आदि थे । जय-जयकार के साथ घण्टा, नगारा, मृदंग, शंख, वीणा, झाँझ आदि बाजे बजने लगे और उनके स्वर के साथ स्त्रियाँ गाने लगीं । नट लोग कुबड़े, बौने आदि का रूप बनाकर नाचने लगे, भाटों ने स्तुति-गान करना प्रारम्भ कर दिया । विनोद की लहरें उठ पड़ी । विद्याधरों ने अपनी-अपनी स्त्रियों के साथ हाथों में स्वस्तिक, दीप, धूपघट आदि पूजनकी सामग्री ले ली । स्त्रियों के हाथ केशर का चूर्ण, पुष्प आदि उपहारों से अलंकृत थे । इस प्रकार पूजन की विविध सामग्री लेकर सब विद्याधर बड़े उत्सव के साथ वज्रकुमार मुनि के पीछे-पीछे चल

दिये।

मथुरा नगरी में आकाश से नीचे उतरते हुए इन विद्याधरों को देखकर पुरवासी जनों ने समझा कि 'बुद्धदासी बड़ी पुण्यात्मा है उसी की बुद्धपूजा में सम्मिलित होने के लिए यह सब देवगण आये हैं। किन्तु वज्रकुमार मुनि विद्याधरों की इस सेना के साथ ऊर्विला रानी के महल में उतरे और उन्होंने अष्टाहिका-पर्व में मथुरा में रथयात्रा कराकर जिन-बिम्ब से सुशोभित एक स्तूप की वहाँ स्थापना की। इसी से आज भी वह तीर्थ 'देवनिर्मित' कहा जाता है। यह सब देखकर बुद्धदासी का मनोरथ भग्न हो गया।

इस विषय में एक श्लोक है। जिसका भाव इस प्रकार है

ऊर्विलाया महादेव्याः पूतिकस्य महीभुजः।

स्यन्दनं भ्रमयामास मुनिर्वज्रकुमारकः ॥211॥

वज्रकुमार मुनि ने राजा पूतिक की रानी महादेवी ऊर्विला के रथ का विहार कराया ॥211॥

इत्युपासकाध्ययने प्रभावनिविभावनी नामाष्टादशः कल्पः।

इस प्रकार उपासकाध्ययन में प्रभावना अंगका वर्णन करनेवाला अठारहवाँ कल्प समाप्त हुआ।

बलि को देशनिर्वासन

उन्नीसवाँ कल्प

ग्रन्थ :

(अब वात्सल्य अंगको कहते हैं-)

अर्थित्वं भक्तिसंपत्तिः प्रयुक्तिः (प्रियोक्तिः) सत्क्रियाविधिः।

सधर्मसु च सौचित्यकृतिर्वत्सलता मता ॥212॥

धर्मात्मा पुरुषों के प्रति उदार होना, उनकी भक्ति करना, मिष्ट वचन बोलना, आदर सत्कार तथा अन्य उचित क्रियाएँ करना वात्सल्य है ॥ 212॥

स्वाध्याये संयमे सङ्के गुरौ सब्रह्मचारिणि ।

यथौचित्यं कृतात्मानो विनयं प्राहुरादरम् ॥213॥

स्वाध्याय, संयम, संघ, गुरु और सहाध्यायीका यथायोग्य आदर-सत्कार करने को कृती पुरुष विनय कहते हैं ॥213॥

आधिव्याधिनिरुद्धस्य निरवद्येन कर्मणा ।

सौचित्यकरणं प्रोक्तं वैयावृत्यं विमुक्तये ॥214॥

जो मानसिक या शारीरिक पीड़ा से पीड़ित हैं, निर्दोष विधि से उनकी सेवा-शुश्रूषा करना वैयावृत्य कहा जाता है। यह वैयावृत्य मुक्तिका कारण है ॥214॥

जिने जिनागमे सूरौ तपःश्रुतपरायणे ।

सद्भावशुद्धिसंपन्नोऽनुरागो भक्तिरुच्यते ॥215॥

जिन-भगवान् में, जिन-भगवान् के द्वारा कहे हुए शास्त्र में, आचार्य में और तप और स्वाध्याय में लीन मुनि आदि में विशुद्ध भावपूर्वक जो अनुराग होता है उसे भक्ति कहते हैं ॥215॥

चातुर्वर्ण्यस्य संघस्य यथायोग्यं प्रमोदवान् ।

वात्सल्यं यस्तु नो कुर्यात्स भवेत्समयी कथम् ॥216॥

जो हर्षित होकर चार प्रकार के संघ में यथायोग्य वात्सल्य नहीं करता वह धर्मात्मा कैसे हो सकता है ॥216॥

तेद्वैतैर्विद्यया वित्तैः शारीरैः श्रीमदोश्रयैः ।

त्रिविधातङ्कसंप्राप्तानुपकुर्वन्तु संयतान् ॥217॥

इसलिए व्रतों के द्वारा, विद्या के द्वारा, धन के द्वारा, शरीर के द्वारा और सम्पन्न साधनों के द्वारा शारीरिक मानसिक और आगन्तुक रोगों से पीड़ित संयमीजनों का उपकार करना चाहिए ॥217॥

(भावार्थ – जिस प्रकार एक सच्चा हितैषी भृत्य अपने स्वामी के कार्य के लिए सदा तैयार रहता है वैसे ही धर्म के कार्यों को करने में सदा तैयार रहना, धर्म के अंगों की रक्षा के लिए अपनी जान तक लगा देना वात्सल्य है। सम्यग्दृष्टि को वात्सल्य से परिपूर्ण होना चाहिए। किसी भी धर्मायतन पर विपत्ति आने पर उसे तन, मन और धन लगाकर दूर करना चाहिए। हम धर्म से तो प्रेम करें और धर्म के जो अंग हैं- जिनबिम्ब, जिनमन्दिर, जिनागम, जैन साधु, गृहस्थ वगैरह, उनके प्रति उदासीन बने रहें, तो हमारा वह धर्म-प्रेम आखिर है क्या वस्तु ? जब धर्म के अंग ही नहीं रहेंगे तो धर्म ही कैसे रह सकता है ? जैसे शरीर की स्थिति उसके अंगों और उपांगों की स्थिति पर निर्भर है वैसे ही धर्म की स्थिति उसके उक्त अंगों के आश्रित है। अतः धर्म-प्रेमी का यह कर्तव्य है कि वह धर्म के अंगों से प्रेम करे-उनके ऊपर कोई विपत्ति आई हो तो उसे प्राणपण से दूर करने की चेष्टा करे। इसी से वात्सल्य अंग का वर्णन करते हुए श्री पञ्चाध्यायी के कर्ताने लिखा है कि जिनबिम्ब जिनालय वगैरह में से किसी के उपर भी घोर संकट आने पर बुद्धिमान् सम्यग्दृष्टि सदा उसे दूर करने के लिए तत्पर रहता है और जब तक उनमें आत्मबल रहता है, मन्त्र, तलवार और धनका बल रहता है तब तक उस संकट को न वह सुन ही सकता है और न देख ही सकता है। ' आज इस प्रकार का वात्सल्य देखने में नहीं आता। साधर्म्य भाई मुसीबत में पड़े रहते हैं और हम देखकर भी अनदेखा कर देते हैं। साधु त्यागियोंके कष्टों की ओर हमारा कोई ध्यान नहीं है। अपने ही भाइयों की कन्या के विवाह के अवसर पर हम उससे हजारों का दहेज माँगते हैं। कोई गरीब निराश्रय हो तो उसकी सहायता करने की भावना हम में नहीं होती। उनका दुःख देखकर हमारा हृदय द्रवित हो भी जाये तो भी हम उनकी सहायता नहीं करते। मौखिक सहानुभूति मात्र प्रकट करके चुप हो जाते हैं। इस तरह की बेरुखाई से धर्म की स्थिति कभी भी नहीं रह सकती। अतः जो सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा है वह सबकी यथायोग्य सेवा-शुश्रूषा करके, अपने हृदय की भक्ति को प्रकट करता है और इस तरह वात्सल्य अंग का पालन करके अपना और दूसरों का महान् उपकार करता है।)

वात्सल्य अंग में प्रसिद्ध विष्णुकुमार मुनि की कथा

श्रूयतामत्रोपाख्यानम्-अवन्तिविषयेषु सुधान्धःसौधस्पर्द्धिशालायां विशालायां पुरि प्रभावतीमहादेवोश्रितशर्मसीमा जयवर्मनामा काश्यपीश्वरः शाक्यवाक्यवारिधिविक्रान्तिनश्रेण शुक्रण चार्वाकलोकदिवस्पतिना बृहस्पतिना रुद्रमुद्रानुद्रितविवेकेन प्रह्लादकेन चानुजेनानुगतेन वेदविद्याबलिना बलिना सचिवेन चिन्त्यमानराज्यस्थितिरैकदा

समस्तशास्त्राभ्यासवर्षविस्फारितसरस्वतीतरङ्गपरम्पराप्लावनपवित्रितविनेयजनमनोनलिननिकुरुम्बस्य

परमतपश्चरणगणग्रहणाजिह्वब्रह्मस्तम्बस्य महामुनिपञ्चशतीवर्यस्य भगवतोऽकम्पनाचार्यस्य महर्द्धिजुषः सर्वजनानन्दनं नाम

नगरोपवनमधितस्थुषश्चरणार्चनोपचाराय राजमार्गेषु महोत्सवोत्साहो सेकिपरिजनं पौरजनमभ्रलिहगेहाप्रभागावसरे दिग्विलोकानन्दमन्दिरे

स्थितः समवलोक्य 'कोऽयमकाण्डे प्रचण्डः पौराणामुद्यावद्योगे' इति वितर्कयन्,

सकलसमयसंभविप्रसूनस्तिमितहस्तपल्लवान्तरालाद्वनपालात् 'देव, भवदर्शनोत्सुकवनदेवतालोचने

भगवत्तपःप्रभावप्रवृत्तसमस्ततूनादितमेदिनीनन्दने निजलक्ष्मीविलक्ष्मीकृतगन्धमादने पुरोपवने सद्गुणश्रीसंपादितसमूहेन" महता

मुनिसमूहेन सर्वसत्त्वानन्दप्रदानोदाराभिधासुधाप्रबन्धावधीरितामृतमरीचिमण्डलो

निखिलदिक्पालमौलिमणिनायकमुकुरेन्दीभवत्पादनखमण्डलः पुण्यद्विपयूथबन्धनवारिरकम्पनसूरिः समायातः । तदुपासनाय

चास्योजयिनीजनस्य महामहावहश्चित्तोत्साहः' इत्याकर्ण्य प्रतूर्णमेतत्पादवन्दनोद्यतहृदयस्तत्र गमनाय तं मिथ्यात्वप्रबलतालताश्रयं लिं

बलिमपृच्छत् । सधर्मधुरोधरणगंलिबलिः-

इसके विषयमें एक कथा है उसे सुनें -

अवन्ति देश की विशाला नगरी में जयवर्म नामक राजा राज्य करता था। उसके चार मंत्री थे शुक्र, बृहस्पति, प्रह्लाद और बलि। शुक्र बौद्ध शास्त्र में निष्णात था, बृहस्पति चार्वाक दर्शन में बृहस्पति के तुल्य था, प्रह्लाद शैव था और बलि वेदविद्यामें पारंगत था। एक बार समस्त शास्त्रों में पारंगत और परम तपस्वी अकम्पनाचार्य पाँच सौ मुनियों के संघ के साथ सर्वजनानन्दन नाम के उपवनमें आकर ठहरे। अपने आकाशचुम्बी महल के ऊपर से आचार्य की चरण पूजा के लिए बड़े उत्साह के साथ राजमार्ग से जाते हुए पुरवासियों को देखकर राजा विचारने लगा-असमयमें ये पुरवासी उद्यानकी ओर क्यों जाते हैं ?

इतने में ही सब ऋतुओं के फल-फूल हाथ में लेकर वनपाल उपस्थित हुआ और बोला 'स्वामी ! नगर के उपवन में बड़े भारी मुनि-संघ के साथ सब जीवों को आनन्द देने वाले, अपने अमृत मय वचनों की वर्षा से चन्द्रमा को भी तिरस्कृत करने वाले अकम्पनाचार्य गुरु पधारे हैं।

उनके तप के प्रभाव से आई हुई समस्त ऋतुओं ने उपवन को पृथिवी का नन्दनवन बना दिया है। उनकी उपासना के लिए उज्जैनी वासियों का उत्साह उमड़ पड़ा है।'

यह सुनकर राजाका मन उनके चरणों की वन्दना करने के लिए आतुर हो उठा। राजा ने मुनियों के पास चलने के लिए बलि मंत्री से पूछा। सच्चे धर्म की धुरा को उखाड़ फेंकने में पटु बलि बोला -

देव, न वेदादपरं तत्त्वं न श्रद्धादपरो विधिः।

न यज्ञादपरो धर्मो न द्विजादपरो यतिः ॥218॥

राजन्, वेद से उत्कृष्ट कोई तत्त्व नहीं है। श्रद्धा से बढ़कर कोई दूसरी विधि नहीं है। यज्ञ से बड़ा कोई दूसरा धर्म नहीं है और ब्राह्मण से बढ़कर दूसरा कोई यति नहीं है' ॥218॥

सन्मार्गसौच्छेदकः प्रहादकः

सन्मार्ग का नाशक प्रह्लाद मंत्री बोला --

अद्वैतान्न परं तत्त्वं न देवः शङ्करात्परः।

शेवशास्त्रात्परं नास्ति भुक्तिमुक्तिप्रदं वचः ॥219॥

अद्वैत से उत्कृष्ट दूसरा कोई तत्त्व नहीं है, शंकर से बड़ा दूसरा कोई देवता नहीं है। और शैव शास्त्र से बढ़कर दूसरा कोई मुक्ति और मुक्ति को देनेवाला शास्त्र नहीं है' ॥219॥

तथा नास्तिक्याधिक्यवाक्यवाचस्पती शुक्रबृहस्पती अपि राक्षे स्वप्रज्ञां विज्ञापयामासतुः। मनागन्तःक्षुभितमतिः क्षितिपतिः- 'अहो दुजेनतालतालम्बनकुजा द्विजाः, किं ममैव पुरतो भवतां भारती प्रगल्भते, किं वा बुधप्रवेकस्य लोकस्यापि ?

सन्नीतिवसुमतीविदारणहेलिबलिः- 'इलापाल, यदि तवास्मन्मनीषोत्कर्षविषये सेयं मनः, तदास्तां तावदभ्यस्तशास्त्रप्रवीणप्रसः परः प्राज्ञः। किं तु सर्वस्यापि वादेवदि पुरस्तात्परिगृहीतविद्यानवद्या एवं'। स्थिरप्रकृतिः क्षोणीपतिः- 'यद्येवं शूराणां कातराणां च रणे व्यक्तिर्भविष्यति'

इत्यभिधायानन्ददुन्दुभिरवोपार्जितपरिजनपूजोपकरणो विजयशेखरं नाम करिणमारुह्यान्तःपुरानुगमग्राह्योऽतिवाय

नगरमार्गमुपगतारामसीमसंसर्गः, ततः करिणोऽवतीर्य गृहीतार्यवेषपरिकरः कतिपयाप्तपरिवारपुरःसरस्तं व्रतविद्यानवयं भगवन्तं यथावदभिवन्द्य समाचरितनीचासनपरिग्रहः सविनयाग्रहं स्वर्गपवर्गमार्गस्वरूपनिरूपणपरायणः सद्धर्मसनाथां कथां प्रथयामास।

सत्कर्मवंशप्रभिलिर्बलिः- 'स्वामिन्, कोऽयं स्वर्गपवर्गास्तित्वसंग्रहे देवस्य दुराग्रहः, यतो द्वादशवर्षा स्त्री षोडशवर्षः पुरुषः।

तयोरन्योन्यमनन्यसामान्यस्नेहसोत्सेकप्रादु, भूतिः प्रीतिः प्रत्यक्षसमधिसर्गः स्वर्गो न पुनरदृष्टः कोऽपीष्टः स्वर्गः समस्ति'।

गुणभूरिः सूरिः- 'सकले प्रमाणबले बले, किं प्रत्यक्षताधिकरणमेकमेव प्रमाणं समस्ति'।

नास्तिकेन्द्रमनोरथरथमातलिर्बलिः- 'अखिलश्रुतधरोद्भारादिपुरुषविदुष, एकमेव'। भगवान् - 'कथं तर्हि भवतः पित्रोर्विवाहाद्यस्तित्वतन्त्रम्,

कथं वा तवादृश्यानां वंश्यानामवस्थितिः, स्वयमप्रत्यक्षप्रमेयत्वादाप्तपुरुषोपदेशाश्रितौ स्वपक्षपरिक्षतिः परमतोत्सवकृतिश्च। बलिभट्टो भट्ट इवेतस्तटमितो मदोत्कटः करटीति संकटप्रघट्टकमापतितः परं सभाजनसभाजनकरमुत्तरमपश्यन्नश्लीलमसभ्यसर्ग निरर्गलमार्ग किमपि तं

भगवन्तं प्रत्युवाच। तित्तिपतिरतीव मन्दाक्षविक्षिप्तवीक्षणो मुमुक्षुसमक्षमासन्नाशिवताशानिसंघट्ट बलिभट्ट प्रतिष्ठाभङ्गभयात्किमप्यनभिलष्य

'भगवन्, संपन्नतत्त्वसंबन्धस्थ निजस्खलितप्रवृत्तचित्तमहामोहान्धस्य सद्धर्मध्वंसहेतोर्जन्तोनिर्गस्थैर्यमेरुषु गुणगुरुषु न खलु

दुरपवादकरणात्परमवसाने प्रहरणमस्ति' इति वचनपुरःसरं कथान्तरमनुबध्य साधु समाराध्य च प्रशान्तिं हैमवतीप्रभवगिरिमकस्पनसूरि

विनेयजनसंभावनौचित्यशया तदनुहयात्मसदनमासाद्यापरेदयुरपरदोषमिषेण सनिकारकरणमनुजैः सह कर्मस्कन्धबन्धवार्द्धं लिं बलि

निजदेशानिर्वासयामास। भवतश्चात्र श्लोको --

नास्तिक शिरोमणि शुक्र और बृहस्पति ने भी राजासे अपना अभिप्राय कहा। थोड़ा क्षुब्ध होकर राजा बोला- 'अहो दुर्जन रूपी लता के आधारभूत द्विज वृक्षो, क्या मेरे ही सामने आपकी जबान चलती है या विद्वानों के सामने भी कुछ बोल सकते हैं ?

'बलि बोला- 'राजन् ! यदि हमारी बुद्धि के वैशिष्ट्य के विषय में आपके मन में ईर्ष्या है तो समस्त शास्त्रोंमें प्रवीण विद्वान्की तो बात ही क्या, सर्वज्ञ भी यदि वादी हो तो उसके सामने भी हमारी विद्या निर्दोष उतरेगी।'

'यदि ऐसा है तो शूर-वीर और कायर की पहचान रण में ही होगी।' ऐसा कहकर उस स्थिरस्वभाव राजा ने आनन्द सूचक भेरी बजवायी।

उसे सुनकर उसके परिवार के लोग पूजा की सामग्री ले-लेकर आ गये । तब राजा विजयशेखर नाम के हाथीपर चढ़कर चल दिया और नगर के बाहर उद्यान की सीमा में पहुँचते ही हाथी से उतर पड़ा। तथा अपने परिवार के कुछ आप्त पुरुषों के साथ आचार्य के पास जाकर और उनके चरणों की वन्दना करके एक नीचे आसन पर बैठ गया और विनय पूर्वक स्वर्ग और मोक्ष का स्वरूप बतलाने की प्रार्थना करके चुप हो गया। आचार्य ने स्वर्ग और मोक्ष का निरूपण करते हुए धर्म चर्चा की। तब बलि बोला 'स्वामी ! स्वर्ग और मोक्ष का अस्तित्व मानने का दुराग्रह आप क्यों करते हैं ? बारह वर्ष की स्त्री और सोलह वर्ष के पुरुष का परस्पर में जो असाधारण प्रेम रस उत्पन्न होता है, उसे प्रीति कहते हैं यह प्रीति ही साक्षात् स्वर्ग है, उससे भिन्न कोई दूसरा अदृश्य स्वर्ग नहीं है।' आचार्य- बलि ! क्या एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही है ? बलि - 'हाँ, समस्त श्रुतरूपी पृथिवी का उद्धार करने वाले आदि पुरुष के तुल्य विद्वन् महात्मन् , एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है।' आचार्य - तो फिर तुम्हारे माता पिता ने विवाह किया था इत्यादि में क्या प्रमाण है ? और तुम्हारे पूर्व पुरुष थे इसमें भी क्या प्रमाण है ? यदि कहोगे कि जो वस्तुएँ हमारे प्रत्यक्ष में नहीं हैं उन्हें हम प्रामाणिक पुरुषों के कथन से मानते हैं तो ऐसा मानने में तुम्हारे पक्ष की हानि होती है और हमारे मत की पुष्टि होती है।

इस उत्तर को सुनकर बलि संकट में पड़ गया और सदस्यों के लिए प्रीतिकर उत्तर न सूझने पर असभ्य वचन बकने लगा। यह देखकर राजाकी आँखें शर्म से गढ़ गई। किन्तु प्रतिष्ठा के भङ्ग होने के भय से उसने मुनिजनों के सामने बलि से कुछ भी नहीं कहा और बोला- 'भगवन् ! जिसका चित्त महामोह से अन्धा हो रहा है और जो समीचीन धर्म को ध्वंस करने पर तत्पर है तथा वर्तमान तत्त्वों से ही सम्बन्ध रखता है उस मनुष्य के पास मेरु के समान स्थिर आप सरीखे गुरुओं का अपवाद करने के सिवा दूसरा हथियार नहीं है।' इस प्रकार चर्चा का प्रसङ्ग बदलकर, और परम शान्तिरूपी गंगा नदी के उद्गमके लिये हिमवान् पर्वत के तुल्य अकम्पनाचार्य की शिष्यजनों के योग्य आराधना करके तथा आज्ञा लेकर राजा अपने महलों में लौट आया ।और दूसरे दिन अन्य अपराध के बहाने से बलिको उसके साथी मंत्रियों के साथ तिरस्कारपूर्वक देश से निर्वासित कर दिया।

इस विषय में दो श्लोक हैं जिसका भाव इस प्रकार है -

सन्नसंश्च समावेव यदि चित्तं मलीमसम् ।

यात्यान्तः क्षयं पूर्वः परंश्चाशुभचेष्टितात् ॥220॥

स्वमेव हन्तुमीहेतुर्दुर्जनः सजनं द्विषन् ।

योऽधितिष्ठेत्तुलामेकः किमसौ न ब्रजेदधः ॥221॥

'यदि चित्त मलीन है तो सज्जन और दुर्जन दोनों समान हैं। उनमें से सज्जन तो अशान्ति के कारण नष्ट हो जाता है और दुर्जन बुरे कार्यों के करने से नष्ट हो जाता है। क्योंकि सज्जन से द्वेष करने वाला दुर्जन स्वयं अपने ही घात की चेष्टा करता है। ठीक ही है जो अकेला ही तराजू में बैठ जाता है वह नीचे क्यों नहीं जायेगा' ॥220-221॥

इत्युपासकाध्ययने बलिनिर्वासनो नामैकोनविंशः कल्पः ।

इस प्रकार उपासकाध्ययन में बलि के देशनिर्वासन का वर्णन करनेवाला उन्नीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

वात्सल्य अंग

बीसवाँ कल्प

ग्रन्थ :

बलिद्विजः सानुजस्तथा सकलजनसमक्षमसूक्ष्मसूक्ष्मणपूर्वकं निर्वासितः सन्मुनिविषयरोषोन्मेषकलुषितः कुरुजाङ्गलमण्डलेषु तहिलासिनीजलकेलिविगलितकालेयपाटलकल्लोलाधरसुरसरित्सीमन्तिनीचुम्बितपर्यन्तप्रसरे हस्तिनागपुरे साम्राज्यलक्ष्मीमिव लक्ष्मीमती महादेवीमवहाय सरस्वतीरसावगाहसागरस्य श्रुतसागरस्य भगवतोऽभ्यणे पित विनयविष्णुना "विष्णुना लघुजन्मना सूनुना सार्धं प्रवर्धितदीक्षाप स्य महापनस्य महीपतेर्महान्तं पमनामनिलयं तनयमशिश्रियत् । पनोऽपि चारसंचाराद्विदितवंशविद्याप्रभावाय तस्मै वलिसचिवाय सर्वाधिकारिकं स्थानमदात् । . बलिः- 'देव, गृहीतोऽयमनन्यसामान्यसंभावनाह्लादः प्रसादः किंतु कर्णेजपवृत्तीनां लज्जलुचनोचितचेतःप्रवृत्तीनां च प्रायेण पुरुषाणां नियोगिपदं हृदयास्पदं न शौर्योर्जितचित्तस्योदारवृत्तस्य च तदसाध्यसाधनेन नन्वयं जना निदेशदानेनागृहीतव्यः' । पद्मः- 'सत्यमिदम्' किं तु स्वामिसमीहितसमर्थनसंवीणेषु भवद्विधेषु सचिवेषु सत्सु किं नामासाध्यं समस्ति।

अन्यदा तु कुम्भपराधिकृतमूर्तिः सिंहकीर्तिं म नृपतिरनेकायोधनलब्धयशःप्रसाधनः संनद्धसारसाधनो हस्तिनागपुरावस्कन्दप्रदानायागच्छन्, एतनगरच्छन्नावसर्पनिवेदितागमनः पद्मनिदेशादभ्यमित्रीणप्रयाणपरायणेन कूटप्रकामकदनकोविदधिषणेन बलिनामध्ये प्रबन्धेन युद्धयमानः, नामनिर्गमविधानः प्रधानैयुद्धसिद्धान्तोपान्तैः सामन्तैश्च सार्धं प्रवध्य तस्मै हृदयशल्योन्मूलनप्रमदमतये क्षितिपतये प्राभृतीकृतः । क्षितिपतिः- शस्त्रशास्त्रविद्याधिकरणव्याकरणपतञ्जले बले, निखिलेऽपि बले चिरकालमनेकशः कृतकृष्ण वदनच्छायस्यास्य द्विष्टस्य विजयानितान्तं तुष्टोऽस्मि । तद्याच्यतां मनोभिलाषधरो वरः' । बलिः- 'अलक' यदाहं याचे तदार्य प्रसादोर्कतव्यः' इत्युदारमुदार्य पुनश्चतुरङ्गबलःप्रबलः प्रतिकूलभूपालविनयनाय पन्नमवनोपतिमादेशं याचित्वा सत्त्वरमशेषाशावशनिवेशानीकसत्रितसकलमहीतलो दिग्विजयया त्रार्थमुच्चचाल । अत्रान्तरे विहारवशाद्भगवानकम्पनाचार्यस्तेन महता मुनिनिकायेन साकं हास्तिनपुरमनुसृत्योत्तरदिग्विलासिन्यवतंसकुसुमतारौ हेमगिरौ महावगाहायां गुहायां चातुर्मासीनिमित्तं स्थिति बबन्ध । बलिरपि निखिलजलधिरोधः सविधवनविनोदितवीरवधूहृदयो दिग्विजयं विधायागतस्तं भगवन्तमवबुध्य चिरकालव्यवधानेऽप्यलेकविषनिषेक इव जातप्रकोपोद्रेकस्तदपराधविधानाय धराधीश्वरं पुरावितीर्णवरव्याजेन समाशाखार्द्धमात्मैकशासनप्राज्यं राज्यमन्तःपुरप्रचारैश्चर्यमात्रसमतः पनतोऽभ्यर्थ्य मखमिषेण मुनिसैन्यौजन्योत्कर्ष चिकीर्षुमदनद्रव्याधिकरणैरुपकरणैरग्निहोत्रमारेभे । अत्रावसरे निजनिवासपवित्रितमिथिलापुरे जिष्णुसूरैरन्तेवासी भ्राजिष्णुर्नाम तमीमध्यसमये बहिर्विहितं विहारः समीरमार्गे नक्षत्रवीथीं लोचनालोकनसनाथां विदधानश्चमरुसंचारचकितगात्रं कुरङ्गकलत्रमिव, तरलतारकाश्रयणं श्रवणमवेक्ष्यान्तरिक्षे लक्ष्यं यध्वा किलैवमुच्चैरवोचत्- 'अहो, न जाने क्वचिन्महामुनीनां महानुपसर्गो वर्तते' इति । एतच्च श्रमणशैरेणगणी समाकर्ण्य प्रयुक्तावधिबोधस्तनगरगिरिगुहायामकम्पनाचार्यस्य बलिदुर्विलसितमवधार्याकार्यं च गगनगमनप्रभावं पुष्पकदेवं देशव्रतसेवम् 'हंहो पुष्पकदेव, तव विक्रयद्धेवैधुर्यान्न तदुपसर्गविसर्गे सामर्थ्यमस्ति । ततस्तथाविधद्धिर्वृद्धिरोचिष्णवे विष्णवे ताम दृष्टविशिष्टतामिवात्मस्थितामप्यविदुषे निवेद्य तदुपसर्गपवर्गायास्मत्सर्गानियोजयितव्यः' । पुष्पकदेवत्रिदशोचितचरणसेवस्य तस्य महर्षेर्भाषितात्तं देशमासाद्य विष्णुमुनये तथाविधद्धिर्वृत्तिं गुरुनिदेशप्रवृत्तिं च प्रतिपादयामास । विष्णुमुनिः प्रदीप इव स्फाटिकभित्तिमध्यलब्धप्रसरेण किरणनिकरण वारिधिवज्रवेदिकानिर्भेदनेन मानुषोत्तरगिरिपर्यन्तसंवेदनेन मनुष्यक्षेत्रसूत्रपातविडम्बनकरण करेणोर्णनाभ इव तन्तुनिकाये काये स्ववशाश्रयया व्याससमासक्रियया च तामवगम्योपगम्य च हास्तिनपुरं 'न खल्वनिवेद्य निखिलवर्णिवर्णाश्रमपालाय मध्यमलोकपालायामर्षप्रवृत्ततन्त्रण हुंकारमात्रेणाप्याकम्पितजगत्त्रयाः प्रसंख्यानवनविध्वंसदावे तपःप्रभावे दुर्जनविनयनार्थमभिनिविशन्ते यतीशाः' इति च परामृश्य, प्रविश्य च पुरैव चिरपरिचितकञ्चुकिसूचितप्रचारोऽन्तःपुरं, पप्रमहीपते, राजधानीष्वरण्यानीषु वा तपस्यतः संयतलोकस्य न खलु नरेश्वरात्परः प्रायेणास्ति गोपायिता । तत्कथं नाम तृणमात्रेऽप्यनपराधमतीनां यतीनामात्मन्यशुभलोकनिषेकसर्गमुपसर्ग सहसे इत्युक्तम् । 'भगवन् । सत्यमेवैतत् । किंतु कतिचिहिनानि बलिरत्र राजा नाहम्' इति प्रत्युक्तियुक्तस्थितिं पद्मनृपतिमवमत्य 'छलेन खलु परेषु प्रायेण फलोलासनशीलास्तपः प्रभवद्विलीलाः' इति चावगत्य शालाकर सकते । जिरसंपुटकोटरावकाशः प्रदीपप्रकाश इव संजातवामनाकृतिः सप्ततन्तुवसुमतीमनुसृत्य मधुरध्वनिः तृतीयेने सवनेन प्राध्ययनं व्यधात् । बलिर्जलधरध्वानबन्धुरं वाक्प्रसरं सिन्धुर इव निभूतको निर्वर्ण्य 'कोऽयं खलु वेदवाचि विरिञ्च इवोच्चारचतुरः' इति कुतूहलितहृदयः सन्निलयान्निर्गत्य वयसि च निश्चिताश्चयेसौन्दर्यं द्विजवर्यमेनमवादीत्- भट्ट, किमिष्टं वस्तु चेतसि निधाय प्राधीषे' । 'वले, दायादविलुप्तालयत्वात्तदर्थं पादत्रयप्रमाणकलमवनितलम् । द्विजोत्तम निकाम दत्तम्' । 'यद्येवं बहुमानयजमान, विधीयतामुदकधारोत्तरप्रवृत्तिः दत्तिः । वलिः प्रबलामालेमादाय 'द्विजाचार्य, प्रसार्यतां हस्तः' इत्युक्तवति शुक्रः संक्रन्दनमिव कुलिशनिकेतनम्, प्रासादमिव कलशाह्लादम्, जलाशयमिव मत्स्याश्रयम्, सरिन्नाथमिव शङ्खसनाथम्, विरहिणीवासरगणनकुड्यप्रदेशमिवोर्ध्वरेखावकाशम्, नारायणमिव चक्रलक्षणम्, यज्ञोपकरणमिव जलयानपात्रमिव निश्छिद्रतामत्रम्, स्तम्बरमकरमिव दीर्घाङ्गलिप्रसरम्, वंशकिशलयमिवान पूर्वीप्रवृत्तपर्वसंचयम्, कमलकोशमिवारुणप्रकाशनिवेशम्, विद्रुमभङ्गाभोगमिव स्निग्धपाटलनखरायं लक्ष्मोलताविर्भावोदयं शवमुपलक्ष्य, बले न खल्वयमेवंविधपाणितलसंवन्धो गोधः चयवाधिकरणम्, परेषां याचिता किं तु याच्य इति वचनवक्रं शुक्रमवगणय्य बलिः स्वकीयां दत्तिमुदकधारोत्तरामकार्षीत् । ... तदनु स विष्णुमुनिर्विरोचनविरोकनिकर इवाक्रमेणोर्ध्वमधश्चानवधिवृद्धिपरः, पर्वतस्योभयतः प्रवृत्तापगाप्रवाह इव तिरःप्रसर हः, कार्यधरमेकमकूपारवज्रवेदिकायां निधाय परं च क्रम चक्रवालंचूलिकायां पुनस्तृतीयस्य मेदिनीमलभमानस्तफनरथाखलनसेतना सुरसरितरीयस्रोतोहेतना संपादितदिविजसन्दरीचरणमार्गविभ्रमण समाचरित. खेचरीचेतःसंभ्रमण भूगोलगौरवपरिच्छेदे तुलादण्डविडम्बनेन चरणेन

क्षोभितान्तरितचरपुरकतः किन्नरामरखचरचारणादिवृन्दैर्वन्धमानपादारविन्दः

संयतजनोपकारसारस्वकोयद्विवृद्धिपरितोषितमनीपैयन्तरानिमिषैरकारणखलतालतास्थलि बलि सबान्धवमबन्धयत् । प्रायः शयश्च सदेहं रसातलगेहम् । भवति चात्र श्लोकः --

समस्त लोगों के सामने महान् तिरस्कारपूर्वक अपने साथियों के साथ निर्वासित किये जानेपर बलि मुनियों से अत्यन्त रुष्ट हो गया और कुरुजांगल देश के हस्तिनागपुर नाम के नगर के राजा पद्मकी शरण में पहुँचा। राजा पद्मके पिता महापदम ने अपने बड़े पुत्र विष्णु के साथ श्रुत सागर मुनि के समीपमें जिन दीक्षा धारण कर ली थी और छोटे पुत्र पद्म को राज्यभार सौंप दिया था। पद्मने गुप्तचरों के द्वारा बलि को कुलीन और विद्वान् जानकर उसे अपना मंत्री बना लिया और सब अधिकार उसे दे दिया।

बलि बोला--देव ! आपने हम पर असाधारण अनुग्रह किया है। किन्तु चुगलखोरों और घूसखोरों को यह बात सह्य नहीं हो सकती। अतः आप कोई ऐसा कार्य करने की हमें आज्ञा दें जो असाध्य हो।

पद्म-तुम्हारा कहना ठीक है किन्तु स्वामी के अभीष्ट को पूरा करने में कुशल तुम्हारे जैसे मंत्रियों के होते हुए कुछ भी असाध्य नहीं है। एक बार कुम्भपुर का स्वामी सिंहकीर्ति राजा, जिसने अनेक युद्धों में नाम कमाया था, बड़े भारी लश्कर के साथ हस्तिनागपुर पर आक्रमण करनेके लिए चला। गुप्तचरों ने उसके आनेका समाचार बलिसे निवेदित किया। बलि शत्रु पर आक्रमण करने में तथा कपट-युद्ध में बड़ा चतुर था। उसने पद्म की आज्ञा लेकर शत्रु का सामना करने के लिए कूच कर दिया और मार्गमें ही उसपर आक्रमण कर दिया। तथा विख्यात नाम वाले प्रधानों और युद्ध करने में कुशल उसके सब सामन्तों के साथ उसे बाँधकर राजा पद्म के सामने उपस्थित कर दिया।

हृदय के इस काँटे के निकल जाने से राजा पद्म बड़ा प्रसन्न हुआ और बोला--

राजा-'व्याकरण में पतञ्जलि के समान शस्त्र विद्यामें निपुण बलि ! समस्त सैन्य के होते हुए भी चिरकाल से अनेक बार मेरे मुख को काला करने वाले इस शत्रु को जीतने से मैं बहुत प्रसन्न हूँ। जो तुम्हें माँगना हो माँगो।

'जब मैं याचना करूँ तब महाराज मुझपर कृपा करें। ऐसा कहकर और राजा पद्म से आज्ञा लेकर विरोधी राजाओं को वश करने के उद्देश्यसे बलि बड़ी भारी सेना के साथ दिग्विजय के लिए निकला।

इसी बीचमें भगवान् अकम्पनाचार्य बड़े भारी मुनिसंघ के साथ विहार करते हुए हस्तिनागपुर में पधारे और उत्तर दिशामें स्थित हेम पर्वत की विशाल गुफा में चातुर्मास करने के लिए ठहर गये। बलि भी समस्त समुद्रों के तट तक दिग्विजय करके लौट आया। जैसे बहुत समय बीत जाने पर भी पागल कुत्ते के काटे का जहर चढ़ जाता है वैसे ही मुनिसंघके आने का समाचार जानकर उसे क्रोध चढ़ आया। पुराना बदला चुकाने के लिए उसने राजा पद्म से पहले दिये हुए वर का स्मरण दिलाकर पन्द्रह दिन के लिए राज्य माँग लिया। राज्य देकर राजा पद्म अन्तःपुर में रहने लगा। और बलिने यज्ञके बहाने से मुनियों को त्रास देने के लिए मद्य, मांस आदिके द्वारा अग्निहोत्र करना प्रारम्भ किया।

इधर यह काण्ड चालू था उधर मिथिलापुरीमें जिष्णुसूरिका शिष्य भ्राजिष्णु गत्रि के मध्यमें बाहर बैठा था और आकाशमें नक्षत्र-मण्डल की ओर देख रहा था। जैसे व्याघ्रके संचार से हिरणी भयभीत हो जाती है वैसे ही श्रवण नक्षत्र को काँपता हुआ देखकर आकाश में दृष्टि जमाये हुए वह जोरसे चिल्लाया-'आह, न जाने कहाँ महामुनियोंपर उपसर्ग आया है।'

यह सुनकर आचार्य ने अपने अवधिज्ञानसे जाना कि हस्तिनागपुर के निकटवर्ती पर्वत की गुफामें अकम्पनाचार्य के संघ के ऊपर बलि घोर उपसर्ग कर रहा है। उन्होंने तुरन्त ही आकाश में गमन कर सकने वाले पुष्पकदेव नामक क्षुल्लक को बुलाया और बोले

'पुष्पकदेव ! तुम्हारे पास विक्रिया ऋद्धि नहीं है इस लिए तुम उस उपसर्ग को दूर नहीं अतः विक्रिया ऋद्धि के धारक विष्णु मुनि के पास जाओ। यद्यपि उन्हें ऋद्धि प्राप्त हो चुकी है किन्तु उन्हें यह बात ज्ञात नहीं है। तुम जाकर उनसे कहो और हमारे आदेश से उन्हें उस उपसर्ग को दूर करने के लिए नियुक्त करो।'

इन्द्र के पूजने योग्य उन महर्षि के कहने से पुष्पक देव विष्णु मुनि के पास पहुँचा और उनसे विक्रिया ऋद्धि उत्पन्न होनेकी बात तथा गुरुकी आज्ञा कह दी। विष्णु मुनि ने अपने हाथको मानुषोत्तर पर्वत तक फैलाकर तथा फिर संकोचकर विक्रिया ऋद्धि की परीक्षा की और हस्तिनागपुर जा पहुँचे।

'मुनियों के तपका प्रभाव उस दावाग्नि के समान है जो असंख्य जंगलों को जलाकर राख कर देती है। यदि मुनि क्रोध में आकर हुंकार

मात्र कर दें तो उनके हुंकार मात्र से तीनों लोक काँप जाते हैं। किन्तु वे समस्त वर्णाश्रम धर्म के पालक राजा से कहे विना दुर्जन को दण्ड देने का प्रयत्न नहीं करते।' यह सोच विष्णु मुनि राजमहल में पहुँचे। पुराने परिचित द्वारपाल ने जैसे ही उन्हें आते देखा तत्काल राजा पद्म से उनके आने का समाचार कहा।

विष्णु मुनि बोले- 'राजा पद्म ! राजधानियों में अथवा वनों में तपस्या करने वाले मुनिजनों का रक्षक राजा के सिवा अन्य कोई नहीं है।

अतः तृणमात्र का भी अपराध न करने वाले मुनियों पर दुर्जनों के द्वारा किये जाने वाले उपसर्ग को तुम कैसे सहन कर रहे हो ?'

'भगवन् ! आपका कहना ठीक है। किन्तु कुछ दिनों के लिए यहाँ का राजा बलि है, मैं नहीं।' पद्म ने उत्तर दिया।

इस उत्तर को सुनकर उन्होंने राजा पद्म की स्थिति को जाना और यह सोच कि प्रायः तप के प्रभाव से उत्पन्न हुई ऋद्धिका चमत्कार यदि दूसरों पर छल से प्रकट किया जाये तो वह फलदायक होता है, विष्णु मुनि ने वामन रूप बनाया और यज्ञ भूमि में जाकर मधुर कण्ठ से साम वेद का गान करने लगे।

मेघ की ध्वनि के समान सुन्दर वचन-विलास को हाथी की तरह कान लगाकर सुनने पर बलि को कौतूहल हुआ कि ब्रह्मा के समान वेद का पाठ करने में चतुर यह कौन है ? वह तुरन्त ही यज्ञमण्डपसे बाहर आया और विष्णु मुनि के आश्चर्यजनक वामन रूप को देखकर बोला 'ब्राह्मणश्रेष्ठ ! किस इष्ट वस्तु की इच्छा चित्त में रखकर यह वेदपाठ करते हो ?'

'बलिराज ! मेरा घर हिस्सेदारों ने छीन लिया है। उसके लिए केवल तीन पैर जमीन चाहता हूँ।'

'द्विजोत्तम ! मैं तुम्हें तीन पैर जमीन देता हूँ।'

'तो माननीय यजमान ! जलकी धारा पूर्वक दान का संकल्प कर दें।'

एक बड़ी झारी हाथ में लेकर बलि बोला- 'द्विजाचार्य ! हाथ फैलाइये

जैसे ही वामन रूप धारी विष्णु मुनि ने हाथ फैलाया, शुक्राचार्यकी दृष्टि उस पर पड़ी। इन्द्र की तरह वज्र से युक्त, महल की तरह कलश से विशिष्ट, सरोवर की तरह मछली युक्त, समुद्र की तरह शंख सहित, विरहिणी स्त्री के द्वारा अपने पति के वियोगके दिनों को गिननेके लिए दीवार पर खींची गई ऊर्ध्व रेखाओं की तरह ऊर्ध्व रेखा से युक्त , विष्णु की तरह चक्र से चिह्नित, यज्ञ के उपकरण भूत यवों (जौ) की तरह अँगूठे में यवाकार रेखा से युक्त, पानी पर चलनेवाले जहाज को तरह छिद्ररहित, हार्थी की सूँड़ की तरह लम्बी अँगुलियों वाले, बाँस के नये पत्तों की तरह पर्व और ग्रन्थिसे सहित, कमल के कोश की तरह लालिमायुक्त और मूँगोंकी तरह गुलाबी रंगवाले नखों के अग्रभाग से शोभित हस्त को देखकर अर्थात् वज्र, कलश, मछली, शंख, चक्र, उध्व रेखा और जौ आदि शुभ लक्षणों से सम्पन्न, छिद्र रहित और लम्बी अँगुलियों और लाल-लाल नखों युक्त हाथ को देखकर शुक्राचार्य बोले- 'बलि ! इस प्रकार का हाथवाला मनुष्य मांगता नहीं है किन्तु उल्टे उससे माँगा जाता है।

किन्तु बलि ने शुक्राचार्य के कहने पर ध्यान नहीं दिया और जल की धारा डालकर तीन पैर जमीन का संकल्प कर दिया ।

इसके बाद सूर्य की किरणों के समान विष्णु मुनि का शरीर एकदम से ऊपर नीचे बढ़ने लगा। उन्होंने एक पैर तो समुद्र की वेदिका पर रखा, दूसरा मानुषोत्तर पर्वत की चोटीपर रखा, और जगह न मिलने से सूर्य के रथ की गति में प्रतिबन्धक, गंगा नदी की चौथी धारा को उत्पन्न करने में हेतु, देवांगनाओं के चरणमार्ग का भ्रम उत्पन्न करनेवाले, विद्याधरोंकी स्त्रियों के चित्तमें संशय के जनक तथा पृथ्वी की नापने के लिए मापक के तुल्य तीसरे चरण से विद्याधरों के नगरों में हलचल मच गई । व्यन्तर देवताओं ने और विद्याधरों आदि ने आकर उनके चरणों की वन्दना की। मुनियों का उपसर्ग दूर करने में अपनी विक्रिया ऋद्धि का प्रयोग करनेके कारण व्यन्तर देव उनसे बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने बलि को उसके बन्धु-बान्धवों के साथ बाँध लिया तथा उन्हें सशरीर रसातल को पहुँचा दिया ।

इस विषय में एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है --

महापद्मसुतो विष्णुर्मुनीनां हास्तिने पुरे।

बलिद्विजकृतं विघ्न शमयामास वत्सलः ॥222॥

महापद्म राजा के पुत्र धर्मप्रेमी विष्णु मुनि ने हस्तिनागपुर में बलि के द्वारा मुनियों पर किया गया उपसर्ग दूर किया ॥222॥

इत्युपासकाध्ययने वात्सल्यर चनो नाम विंशतितमः कल्पः

इस प्रकार उपासकाध्ययन में वात्सल्य अंग का कथन करने वाला बीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

रत्नत्रय का स्वरूप

इक्कीसवाँ कल्प

ग्रन्थ :

निसर्गोऽधिगमो वापि तदाप्तौ कारणद्वयम् ।

सम्यक्त्वभावपुमान्यस्मादल्पानल्पप्रयासतः ॥223॥

सम्यग्दर्शन दो प्रकारसे होता है-एक तो परोपदेश के बिना स्वयं ही हो जाता है और दूसरे, परोपदेश से होता है। क्योंकि किसी पुरुष को तो थोड़ा-सा प्रयत्न करने से ही सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है और किसी को बहुत प्रयत्न करनेसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है ॥223॥

उक्तं च

कहा भी है -

आसन्नभव्यताकर्महानिसंज्ञित्वशुद्धपरिणामाः ।

सम्यक्त्वहेतुरन्तर्बाह्योऽप्युपदेशकादिश्च ॥224॥

'सम्यक्त्व के अन्तरंग कारण निकट भव्यता, ज्ञानावरणादिक कर्मों की हानि, संज्ञीपना और शुद्ध परिणाम है; तथा बाह्य कारण उपदेश वगैरह हैं' ॥224॥

एतदुक्तं भवति-कस्यचिदासन्नभव्यस्य तन्निदानद्रव्यक्षेत्रकालभावभवसंपत्सेव्यस्य

विधूतैतत्प्रतिबन्धकान्धकारसंबन्धस्याक्षिप्तशिक्षाक्रियालापनिपुणकरणानुबन्धस्य नवस्य भाजनस्येवासंजातदर्वासनागन्धस्य झरिति यथावस्थितवस्तस्वरूपसंक्रान्तिहेततया स्फाटि कमणिदर्पणसर्गन्धस्य पूर्वभवसंभालनेन वा वेदनानुभवनेन वा धर्मश्रवणाकर्णनेन वाहत्प्रतिनिधिनिध्यानेन वा महामहोत्सवनिहीलनेन वा महर्द्धिप्राप्ताचार्यवाहनेन वा नृषु नाकिषु वा तन्माहात्म्यसंभूतविभवसंभावनेन वान्येन वा केनचित्कारणमात्रेण विचारकान्तारेषु मनोविहारास्पदं खेदमनापद्य यदा जीवादिषु पदार्थेषु याथात्म्यसमवधानं श्रद्धानं भवति तदा प्रयोक्तुः सुकरक्रियत्वाल्लूयन्ते शालयः स्वयमेव, विनीयन्ते कुशलाशयाः स्वयमेव, इत्यादिवत्तनिसर्गात्संजातमित्युच्यते । यदा त्वव्युत्पत्तिसंशीतिविपर्यस्तिमधिकबोधस्याधिमुक्तियुक्तिसूक्तिसंबन्धसविधस्य प्रमाणनयनिक्षेपानुयोगोपयोगावगायेषु समस्तेष्वैतिथेषु परीक्षोपक्षपादतिक्लिश्य निःशेषदुराशाविनिशाविनाशनाशुमन्मरीचिशिरेण तत्त्वेषु रुचिः संजायते, तदा विधातुरायासहेतुत्वान्मया निर्मापितोऽयं सूत्रानुसारो हारो, मयेदं संपादित रत्नरचनाधिकरणमाभरणमित्यादिवत्तदधिगमादाविर्भूतमित्युच्यते । उक्तं च -

आशय यह है कि जो कोई निकट भव्य है, सम्यग्दर्शन के योग्य द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव और भवरूपी सम्पत्ति की जिसे प्राप्ति हो गई है, उसमें किसी तरह की रुकावट डालने वाला कोई प्रतिबन्धक नहीं रहा है, शिक्षा, क्रिया, बातचीत को ग्रहण करने में निपुण पाँचो इन्द्रियों और मन से जो युक्त है अर्थात् संज्ञी पंचेन्द्रिय है, नये बस्तन की तरह जिसमें दुर्वासना की गन्ध नहीं है, वस्तु का जैसा स्वरूप है वैसा ही स्वरूप दर्शाने के लिए जो स्फटिक मणि के दर्पण के समान स्वच्छ है, ऐसे जीव के पूर्वभव के स्मरण से, कष्टों के अनुभव से, धर्म के श्रवण से, जिनविम्ब के दर्शन से, महामहोत्सवों के अवलोकन से, ऋद्धिधारी आचार्यों के दर्शन करने से, मनुष्यों तथा देवों में सम्यक्त्व के माहात्म्य से उत्पन्न हुए विभव को देखने से या अन्य किसी कारण से विचाररूपी वन में मन को न भटका कर जब जीवादिक पदार्थों में ज्यों-का-त्यों श्रद्धान होता है तो उस सम्यग्दर्शन को निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं। क्योंकि जैसे धान्य स्वयं ही कट जाते हैं अथवा सदाशयी स्वयं ही विनीत हो जाते हैं उसी तरह उसमें कर्ता को श्रम करना नहीं पड़ता।

और जब संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से ग्रस्त ज्ञान वाले मनुष्य के श्रद्धा, युक्ति और आगम के निकट होकर, प्रमाण, नय, निक्षेप और अनुयोग के द्वारा अवगाहन करने के योग्य समस्त शास्त्रों की परीक्षा करने का कष्ट उठाकर चिरकाल के पश्चात् समस्त दुराशा रूपी रात्रि के विनाश के लिए सूर्य की किरणों के समान तत्त्व रुचि उत्पन्न होती है, तो उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं । क्योंकि जैसे मैंने यह हार बनाया है या मैंने यह रत्नखचित आभरण बनाया है, वैसे ही कर्ता के द्वारा विहित परिश्रम से उत्पन्न हुए अधिगम-ज्ञान से वह प्रकट होता है । कहा भी है -

अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः ।

बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात् ॥२२५॥--आप्तमीमांसा

बुद्धिपूर्वक प्रयत्न के बिना अचानक जो इष्ट या अनिष्ट होता है वह अपने दैव से होता है और बुद्धिपूर्वक प्रयत्न करने से जो इष्ट या अनिष्ट होता है वह अपने पौरुष से होता है ॥225॥

(भावार्थ – चारों गति के सैनी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि भव्य जीवों को सम्यग्दर्शन हो सकता है किन्तु वे जीव विशुद्ध और साकार उपयोगवाले होने चाहिए। सारांश यह है कि जो जीव असैनी हैं, लब्ध्यपर्याप्तक हैं, सम्मूर्छन जन्म वाले हैं, अति संक्लेश परिणामवाले हैं उन्हें सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती। सैनी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक और विशुद्ध परिणाम वाले होने पर भी जब वे दर्शनोपयोगी होते हैं, उस काल में उन्हें सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि दर्शनोपयोग में तत्त्व विचार नहीं होता और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के समय उसका होना आवश्यक है। इसी से सोते हुए जीव को भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती। उपयुक्त बातों के सिवा सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए पाँच लब्धियों का होना आवश्यक है। वे लब्धियाँ हैं-क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि और करणलब्धि। इनमेंसे शुरू की चार लब्धियाँ तो साधारण हैं, अर्थात् जिन्हें सम्यक्त्व की प्राप्ति होना संभव नहीं है उनके भी हो जाती हैं। किन्तु पाँचवीं करणलब्धि तभी होती है जब सम्यक्त्व की प्राप्ति होना होती है। उसके अन्त में ही जीवको सम्यग्दर्शन हो जाता है। जब ज्ञानावरण आदि अप्रशस्त कर्मों का अनुभाग प्रतिसमय अनन्तगुणा अनन्तगुणा घटता हुआ उदयमें आता है उस समय क्षयोपशमलब्धि होती है। क्षयोपशमलब्धि के होने पर जीव के सातों वगैरह प्रशस्त प्रकृतियों के बन्ध के कारण जो शुभ परिणाम होते हैं उसे विशुद्धिलब्धि कहते हैं। आचार्य वगैरहके द्वारा छः द्रव्यों और नौ पदार्थोंका उपदेश सुनने को मिलना देशनालब्धि है। जहाँ उपदेश का मिलना संभव नहीं है वहाँ पहले भवमें सुने हुए उपदेश के संस्कार से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है। उक्त तीन लब्धियों से युक्त जीव के प्रतिसमय विशुद्धता के बढ़ने से आयु के सिवा शेष सात कर्मों की जब अन्तःकोटाकोटी सागर प्रमाण स्थिति शेष रहे तब स्थिति और अनुभाग का घात करने की योग्यता के आने को प्रायोग्यलब्धि कहते हैं। उसके होने से वह जीव अप्रशस्त कर्मों की स्थिति और अनुभागका खण्डन करता है। इसके बाद करणलब्धि होती है। करण परिणाम को कहते हैं। करणलब्धि में अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नाम के परिणाम होते हैं। इन तीनों में से प्रत्येक का काल अन्तर्मुहूर्त है किन्तु एकसे दुसरे का काल संख्यातगुना हीन है अर्थात् अनिवृत्तिकरणका काल सबसे थोड़ा है। उससे अपूर्वकरण का काल संख्यातगुना है। उससे अधःप्रवृत्त का काल संख्यातगुना है। जहाँ नीचे के समयवर्ती किसी जीव के परिणाम ऊपर के समयवर्ती किसी जीव के परिणाम से मिल जाते हैं उसे अधःप्रवृत्तिकरण कहते हैं। आशय यह है कि अधःकरण को अपनाये हुए किसी जीव को थोड़ा समय हुआ और किसी जीव को बहुत समय हुआ तो उनके परिणाम संख्या और विशुद्धि में समान भी होते हैं। इसीलिए इसे अधःप्रवृत्तिकरण कहते हैं। जहाँ प्रतिसमय अपूर्व-अपूर्व ही परिणाम होते हैं उसे अपूर्वकरण कहते हैं। आशय यह है कि किसी जीव को अपूर्वकरण को अपनाये थोड़ा समय हुआ और किसीको बहुत समय हुआ। उनके परिणाम बिलकुल मेल नहीं खाते। नीचे के समयवर्ती जीवों के परिणामों से ऊपरके समयवर्ती जीवों के परिणाम अधिक विशुद्ध होते हैं। और जिनको अपूर्वकरण किये बराबर समय हुआ है उनके परिणाम समान होते भी हैं और नहीं भी होते। जिसमें प्रतिसमय एक ही परिणाम होता है उसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं। यहाँ जिन जीवों को अनिवृत्तिकरण किये बराबर समय बीता है उनके परिणाम समान ही होते हैं और नीचे के समयवर्ती जीवों से ऊपरके समयवर्ती जीवों के परिणाम अधिक विशुद्ध ही होते हैं। इन तीनों करणों में जो अनेक कार्य होते हैं उनका वर्णन श्री गोमट्टसार जीवकाण्डमें और लब्धिसारमें किया है, वहाँ से देख लेना चाहिए। यहाँ इतना बतला देना आवश्यक है कि अनिवृत्तिकरण के कालमें से जब संख्यात बहुभाग बीतकर एक संख्यातवाँ भाग प्रमाण काल बाकी रह जाता है तब जीव मिथ्यात्व का अन्तरकरण करता है। इस अन्तरकरण के द्वारा मिथ्यात्व की स्थिति में अन्तर डाल दिया जाता है। आशय यह है कि किसी भी कर्म का प्रतिसमय एक-एक निषेक उदयमें आता है और इस तरह जिस कर्म की जितनी स्थिति होती है उसके उतने ही निषेकों का ताँता-सा लगा रहता है। जैसे जैसे समय बीतता जाता है, वैसे-वैसे क्रमवार निषेक अपनी-अपनी स्थिति पूरी होनेसे उदयमें आते जाते हैं। अन्तरकरण के द्वारा मिथ्यात्व की नीचे अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति वाले निषेकों को ज्यों-का-त्यों छोड़कर उससे ऊपरके उन निषेकों को, जो आगेके अन्तर्मुहूर्त में उदय आयेंगे, नीचे वा ऊपर के निषेकों में स्थापित कर दिया जाता है और इस प्रकार उस अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल को ऐसा बना दिया जाता है कि उसमें उदय आने योग्य मिथ्यात्वका कोई निषेक शेष नहीं रहता। इस तरहसे मिथ्यात्व की स्थिति में अन्तर डाल दिया जाता है। इस तरह मिथ्यात्व के उदयका जो प्रवाह चला आ रहा है, अन्तरकरण के द्वारा उस प्रवाह का ताँता एक अन्तर्मुहूर्त के लिए तोड़ दिया जाता है और इस प्रकार मिथ्यात्व की स्थिति के दो भाग कर दिये जाते हैं। नीचे का भाग प्रथम स्थिति कहलाता है और ऊपरका भाग द्वितीय स्थिति।

इस प्रथम स्थिति और द्वितीय स्थिति के बीच के उन निषेकों को, जो अन्तर्मुहूर्त काल में उदय आने वाले हैं, अन्तरकरण के द्वारा अपने-अपने स्थान से उठाकर कुछ को प्रथम स्थिति में डाल दिया जाता है और कुछ को द्वितीय स्थिति में डाल दिया जाता है। इस क्रियाके पूर्ण होने के साथ मिथ्यात्व की प्रथमस्थिति भी पूरी हो जाती है। उसके पूरे होते ही अन्तर्मुहूर्त काल के लिए मिथ्यात्व के उदय का अभाव हो जाने से प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्रकट हो जाता है। मिथ्यात्व गुणस्थानसे छूटते हुए जो उपशम सम्यक्त्व प्रकट होता है उसे प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहते हैं। अनादि मिथ्यादृष्टि को पहले-पहले प्रथमोपशम सम्यक्त्व ही होता है।

प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति अन्तरंग और बहिरंग कारणों से होती है। सम्यग्दर्शन भी अन्तरंग और बाह्य कारणों के मिलने पर ही प्रकट होता है। इसका अन्तरंग कारण तो दर्शन मोहनीय की मिथ्यात्व, सम्यक्त्व मोहनीय और सम्यक मिथ्यात्व मोहनीय इन तीन प्रकृतियों का तथा चारित्र मोहनीय को अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया और लोभ इन चार प्रकृतियों का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम है। और इनके क्षय अथवा उपशम में पूर्वोक्त पाँच लब्धियों में से करणलब्धि मुख्य कारण है तथा बाह्य कारण अनेक हैं। नरक गति में पहले के तीन नरकों में पूर्व जन्म की घटनाओं का स्मरण, धर्म का श्रवण और कष्टों का अनुभव बाह्य कारण है। आगे के चार नरकों में धर्म-श्रवण को छोड़कर बाकी के दो ही बाह्य कारण पाये जाते हैं। तिर्यज्चों और मनुष्यों में पूर्व जन्म का स्मरण, धर्म का श्रवण और जिनविम्ब का दर्शन बाह्य कारण हैं। देवों में भवनवासी से लेकर बारहवें स्वर्गतक पूर्व जन्म का स्मरण, धर्म का श्रवण, जिन भगवान्की महिमा का निरीक्षण तथा अपने से बड़े अन्य देवों की ऋद्धि का दर्शन बाह्य कारण है। बारहवें स्वर्ग से ऊपर तेरहवें, चौदहवें, पन्द्रहवें और सोलहवें स्वर्ग में देवों की ऋद्धि के दर्शन के सिवा शेष तीन ही बाह्य कारण हैं। नव ग्रेवेयक के देवों में पूर्व जन्म का स्मरण और धर्म का श्रवण ये दो ही बाह्य कारण हैं क्योंकि सोलह स्वर्ग से ऊपर के देव कहीं बाहर नहीं जाते। और नव ग्रेवेयक से ऊपर के सब देव नियम से सम्यग्दृष्टि ही होते हैं क्योंकि वहाँ सम्यग्दृष्टि ही मरकर जन्म लेते हैं। इतना विशेष है कि नरकगति और देवगति में तो जन्म लेने के अन्तर्मुहूर्त बाद सम्यक्त्व उत्पन्न हो सकता है किन्तु तिर्यज्च गति में जन्म लेने के आठ नौ दिन बाद सम्यक्त्व उत्पन्न हो सकता है और मनुष्यगति में आठ वर्ष की अवस्था हो जाने पर सम्यक्त्व उत्पन्न हो सकता है। ऊपर पाँच लब्धियों में एक देशनालब्धि बतलायी है। जिसे सम्यग्दर्शन प्रकट होना होता है उसे इसी भव या पूर्व भव में नौ या सात तत्त्वों का उपदेश सुनने को अवश्य ही मिलना चाहिए। जिस जीव ने पूर्व भव में उपदेश सुना और उसके संस्कार के रहने से इस भव में अन्य कारणों के मिलने पर उसे अनायास सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो गयी तो वह सम्यग्दर्शन निसर्गज कहा जाता है; क्योंकि उसे इस भव में उसकी प्राप्ति के लिए थोड़ा-सा भी प्रयत्न नहीं करना पड़ा। किन्तु इसी भव में उपदेशादि का निमित्त मिलने पर जो सम्यक्त्व प्रकट होता है उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं। सम्यग्दर्शन के ये दोनों भेद केवल बाह्य उपदेश की अपेक्षा को लेकर ही किये गये हैं। जो सम्यक्त्व उसी भव में तत्त्वों के उपदेश का लाभ होने पर प्रकट होता है उसे अधिगमज कहा जाता है और जो इस भव के प्रयत्न के बिना पूर्वभव के संस्कार के कारण प्रकट हो जाता है उसे निसर्गज कहा जाता है; क्योंकि इस भव में उसके लिए कुछ भी श्रम नहीं किया गया और इस तरह वह अनायास ही प्राप्त हुआ कहलाया। दूसरे शब्दों में इसे देव से प्राप्त भी कह सकते हैं और अधिगमज को पौरुष से प्राप्त कह सकते हैं।)

सम्यग्दर्शन के भेद और उसकी पहचान

आत्महितैषी महापुरुषों ने सम्यग्दर्शन के दो, तीन और दस भेद बतलाये हैं। इन सभी भेदों में तत्त्वों का श्रद्धान समान रूप से पाया जाता है। अर्थात् तत्त्वों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन का सामान्य लक्षण है। अतः सम्यग्दर्शन के जितने भी भेद हैं उन सभी में तत्त्वों का श्रद्धान होना आवश्यक है उसके बिना सम्यग्दर्शन हो ही नहीं सकता ॥226॥

सम्यग्दर्शन रागी आत्माओं को भी हो सकता है और वीतरागी आत्माओं के भी होता है इसलिए उसके दो भेद कर दिये गये हैं - एक सराग सम्यग्दर्शन और दूसरा वीतराग सम्यग्दर्शन। सरागसम्यग्दर्शन प्रशम आदि गुणरूप होता है और वीतरागसम्यग्दर्शन आत्मविशुद्धिरूप होता है ॥227॥

जैसे पुरुष की शक्ति यद्यपि अतीन्द्रिय है, इन्द्रियों से उसे नहीं देखा जा सकता, फिर भी स्त्रियों के साथ संभोग करने से, सन्तानोत्पादन से, विपत्तिमें धैर्य और प्रारम्भ किये गये कार्य को समाप्त करना आदि बातोंसे उसकी शक्ति का निश्चय किया जाता है। वैसे ही सम्यक्त्व रूपी रत्न भी आत्मा का स्वभाव होने के कारण यद्यपि बहुत सूक्ष्म है, फिर भी प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य आदि के द्वारा उसका निश्चय किया जा सकता है।

(भावार्थ – सम्यग्दर्शन के सराग और वीतराग भेद सम्यग्दर्शन के धारक जीवों की अपेक्षा से किये गये हैं। जो जीव सरागी हैं उनके सम्यक्त्व को सरागसम्यक्त्व कहते हैं और जो जीव वीतरागी हैं उनके सम्यक्त्व को वीतराग सम्यक्त्व कहते हैं। चूंकि राग दसवें गुणस्थान तक पाया जाता है इसलिए दसवें गुणस्थान तक के जीवों का सम्यक्त्व सराग सम्यक्त्व कहा जाता है और उससे आगे के जीवों का सम्यक्त्व वीतराग सम्यक्त्व कहा जाता है। कोई विद्वान् सरागता का कारण सम्यक्त्व सरागसम्यक्त्व और वीतरागता का कारण सम्यक्त्व वीतरागसम्यक्त्व है, ऐसा कहते हैं, किन्तु उनका यह लक्षण ठीक नहीं है क्योंकि एक तो ग्रन्थकार ने 'सरागवीतरागात्मविषयत्वात्' लिखकर यह स्पष्ट कर दिया है कि सराग आत्मा और वीतराग आत्मा की अपेक्षासे सम्यक्त्व के सराग और वीतराग भेद हैं। दूसरे, किसी भी शास्त्रकारने ऐसा लक्षण नहीं किया बल्कि अनगारधर्माभूत (पृ० 124) में पं० आशाधरजी ने स्पष्ट रूप से सरागीके सम्यक्त्व को सरागसम्यक्त्व और वीतरागी के सम्यक्त्व को वीतरागसम्यक्त्व कहा है। तीसरे, सम्यग्दर्शन राग का कारण नहीं है; राग का कारण तो चारित्रमोहनीय का उदय है और वह दसवें गुणस्थान तक रहता है, इसी से दसवें गुणस्थानतक के जीव सरागी और उससे ऊपरके जीव वीतरागी कहे जाते हैं। चौथे, यदि सरागता का कारण सम्यग्दर्शन सराग सम्यग्दर्शन और वीतरागता का कारण सम्यग्दर्शन वीतराग सम्यग्दर्शन कहा जायेगा तो सम्यग्दर्शन के औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भेदों में सरागता और वीतरागता का कारण होने की दृष्टि से भेद करना होगा। इन तीन में क्षायोपशमिक सम्यक्त्व तो सातवें गुणस्थानतक ही होता है और उसमें सम्यक्त्व प्रकृति का उदय भी रहता है अतः वह तो सरागसम्यक्त्व ही ठहरता है। किन्तु शेष दो सम्यग्दर्शन दसवे गुणस्थान तक सराग अवस्था में भी पाये जाते हैं और उससे ऊपर वीतराग अवस्था में भी पाये जाते हैं। अतः यह प्रश्न पैदा होता है कि इन दोनों सम्यग्दर्शनों को सरागता का कारण माना जाये या वीतरागता का अथवा दोनोंका ? दोनों को सरागता का कारण तो माना नहीं जा सकता, क्योंकि यदि क्षायिक सम्यग्दर्शन को भी सरागता का कारण माना जायेगा तो वीतरागी क्षीणकषाय गुणस्थानवालों को, केवलियों को और सिद्धों को भी सराग मानना पड़ेगा; क्योंकि उनके क्षायिक सम्यक्त्व ही होता है। रह जाता है द्वितीयोपशम सम्यक्त्व। इसमें दर्शन मोहनीय का उपशम रहता है इसलिए क्षायिक सम्यक्त्व की अपेक्षा इसकी स्थिति कमजोर होने से इसे राग का कारण मानकर यदि सराग सम्यक्त्व माना जायेगा तो ग्यारहवें गुणस्थान को वीतरागछद्मस्थ न मानकर सरागछद्मस्थ मानना होगा। शायद कहा जाये कि ग्यारहवें गुणस्थान में चारित्रमोहनीय का साहाय्य न मिलने से उपशम सम्यक्त्व राग का कारण नहीं है तो चारित्रमोहनीय को ही राग का कारण क्यों नहीं मानते ? अतः बेचारे सम्यग्दर्शन को, जिसे शास्त्रों में प्रतिसमय असंख्यातगुणी निर्जरा का कारण बतलाया है, राग का कारण बतलाना उचित नहीं है। अतः क्षायिक और औपशमिक सम्यक्त्व को सरागताका कारण नहीं माना जा सकता। शायद कहा जाये कि सम्यग्दर्शन के होनेपर देव, शास्त्र, गुरुमें शुभोपयोग रूप प्रवृत्ति होती है अतः सम्यग्दर्शन शुभरागका कारण है। किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि सम्यग्दर्शन होने से पहले भी उस जीव में राग पाया जाता था। सम्यग्दर्शन के प्रकट होने से एक तो उसमें कुछ राग की कमी हुई, दूसरे उसका आलम्बन बदल गया, जहाँ वह पहले स्त्री-पुत्रादिक के मोह में ही पड़ा रहता था वहाँ वह अब आत्महित के कारणों से राग करने लगा। अतः सम्यग्दर्शन राग का कारण नहीं हुआ बल्कि उसकी हीनता का और उसकी प्रवृत्ति को बदलनेका ही कारण हुआ। इसी से पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में आचार्य अमृतचन्द्र सूरि ने कहा है कि- 'जितने अंश में जीव सम्यग्दृष्टि है उतना अंश बन्ध का कारण नहीं है और जितने अंश में उसके राग है उतने अंशमें उसके कर्मबन्ध होता है। अतः अबन्ध का कारण सम्यग्दर्शन राग का कारण नहीं हो सकता। अब रहा दूसरा प्रश्न कि क्या सम्यग्दर्शन वीतरागता का कारण है ? किसी अंशमें सम्यग्दर्शन को वीतरागताका कारण माना जा सकता है, क्योंकि दर्शनमोहनीय और अनन्तानुबन्धी का क्षय अथवा उपशम या क्षयोपशम होनेसे आत्मामें रागकी हानि ही होती है, वृद्धि नहीं। किन्तु ऐसी अवस्था में सम्यग्दर्शन के दो भेद नहीं बन सकते। इस आपत्तिसे बचने के लिए यदि उसे दोनों का कारण माना जायेगा तो दोनों पक्षों में ऊपर उठाये गये विवाद खड़े हो जायेंगे। अतः सरागी के सम्यग्दर्शन को सरागसम्यग्दर्शन और वीतरागी के सम्यग्दर्शन को वीतरागसम्यग्दर्शन कहना ही ठीक है। सम्यग्दर्शन आत्मा का धर्म है अतः वह इन्द्रियों से दिखायी दे सकनेवाली वस्तु नहीं है। किन्तु असंयतसम्यग्दृष्टि वगैरह सरागी जीवों में प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य वगैरह को देखकर सम्यग्दर्शन का अस्तित्व जाना जा सकता है। असंयतसम्यग्दृष्टि से लेकर दसवें गुणस्थान तक के जीव अपनेमें सम्यक्त्व के निमित्त से होने वाले प्रशमादि गुणों का निश्चय करके 'हम सम्यग्दृष्टि हैं' ऐसा जान लेते हैं। और चौथे से छठे गुणस्थान तक के जीवों में उनकी चेष्टाओं से प्रशमादिक का निर्णय करके 'वे सम्यग्दृष्टि हैं' ऐसा जानते हैं। इस प्रकार अपने में स्वसंवेदन से और दूसरों में अनुमान से सरागसम्यग्दर्शन के सद्भाव का निश्चय किया

जाता है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि में इस प्रकार के भाव देखे जाते हैं। किन्तु जिसमें इस प्रकार के भाव हों वह नियम से सम्यग्दृष्टि ही है ऐसा नहीं समझ लेना चाहिए क्योंकि सम्यग्दर्शन के अभाव में भी इस प्रकारके भाव पाये जाते हैं। अतः प्रशमादि भाव सम्यग्दर्शन के ज्ञापक हैं, नियामक नहीं हैं। इनके बिना सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता किन्तु ये सम्यग्दर्शन के बिना भी हो सकते हैं। अब रहे उपशान्त कषाय आदि गुणस्थानवर्ती वीतरागी जीव, उनका सम्यग्दर्शन वीतराग सम्यग्दर्शन कहलाता है, और वह सम्यग्दर्शन आत्मविशुद्धिरूप ही होता है।

*दर्शनमोहनीय के उपशम अथवा क्षय से आत्मा में जो निर्मलता होती है, उसे आत्मविशुद्धि कहते हैं, और वीतराग सम्यग्दर्शन आत्मविशुद्धिरूप ही होता है, क्योंकि वीतरागी जीवों में चारित्र मोहनीय का उदय न होने से प्रशमादि भाव नहीं पाये जाते। अतः वीतराग सम्यग्दर्शन को स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से ही जाना जा सकता है प्रशमादि के द्वारा उसे नहीं जाना जा सकता।)

आस्तिक्य आदि का स्वरूप

यद्रागादिषु दोषेषु चित्तवृत्तिनिर्बहणम् ।

तं प्राहुः प्रशमं प्राक्षाः समस्तवतभूषणम् ॥228॥

रागादिक दोषों से चित्तवृत्ति के हटने को पण्डित-जन प्रशम कहते हैं। यह प्रशम गुण समस्त व्रतों का भूषण है अर्थात् व्रत वगैरह का पालन करते हुए भी यदि चित्त रागादिक दोषों से नहीं हटता तो वे व्रत एक तरहसे व्यर्थ ही हैं ॥228॥

शारीरमानसागन्तुवेदनाप्रभवाद्वात् ।

स्वप्नेन्द्रजालसङ्कल्पाङ्गीतिः संवेग उच्यते ॥229॥

यह संसार शारीरिक, मानसिक और आगन्तुक कष्टों से भरा है और स्वप्न या जादूगर के तमाशे की तरह चञ्चल है। इससे डरना संवेग है ॥ 229॥

सत्त्वे सर्वत्र चित्तस्य दयार्द्रत्वं दयालवः ।

धर्मस्य परमं मूलमनुकम्पां प्रचक्षते ॥230॥

सब प्राणियों के प्रति चित्त का दयालु होना अनुकम्पा है। दयाल पुरुष इसे धर्म का परम मूल बतलाते हैं ॥230॥

प्राप्त श्रुते व्रते तत्त्वे चित्तमस्तित्वसंस्तुतम् ।

मास्तिक्यमास्तिकैरुक्तं मुक्तियुक्तिधरे नरे ॥231॥

रागरोषधरे नित्यं निर्वर्ते निर्दयात्मनि ।

संसारो दीर्घसारैः स्यानरे नास्तिकनीतिके ॥232॥

मुक्ति के लिए प्रयत्नशील पुरुष का चित्त आप्त के विषय में, शास्त्र के विषय में, व्रत के विषय में और तत्त्व के विषय में 'ये हैं' इस प्रकार की भावना से युक्त होता है उसे आस्तिक पुरुष आस्तिक्य कहते हैं। जो मनुष्य रागी और द्वेषी है, कभी व्रताचरण नहीं करता और न कभी उसकी आत्मा में दया का भाव ही होता है उस नास्तिक धर्म वालेका संसार भ्रमण बढ़ता ही है ॥231-232॥

(भावार्थ – राग, द्वेष, काम, क्रोध वगैरह की ओर मन का रुझान न होना प्रशम कहलाता है। अथवा जिन्होंने अपना अपराध किया है, उन प्राणियों को भी किसी प्रकार का कष्ट न देने की भावना का होना भी प्रशम है। ऐसा प्रशम भाव अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय का अभाव होने से तथा शेष कषायों का मन्द उदय होने से होता है। अतः वह सम्यक्त्व की पहचान कराने में सहायक है। किन्तु बिना सम्यक्त्व के जो प्रशम भाव देखा जाता है वह प्रशम नहीं है किन्तु प्रशमाभास है। संसार अनेक तरह की यातनाओं का-तकलीफों का घर है। इसमें कोई भी सुखी नजर नहीं आता। किसी को किसी बातका कष्ट है तो किसी को किसी बातका कष्ट है। आज जो सुखी दिखायी देते हैं, कल उन्हें ही रोता और कलपता हुआ पाते हैं। ऐसे संसार से मोह न करके सदा उससे बचते रहने में ही कल्याण है। इस प्रकार के भावों का नाम संवेग है। धर्म, धर्मात्मा और धर्म के प्रवर्तक पञ्च परमेष्ठी में मन तभी लग सकता है जब अधर्म, अधर्मी और अधर्म के सर्जकों से अरुचि हो। तथा इनमें अरुचि तभी हो सकती है जब मनुष्य का मन संसार की विषय-वासनाओं से हट गया हो। अतः संसार से अरुचि रखने में ही आत्मा का कल्याण है और इसी का नाम संवेग है। मगर वह अरुचि स्वाभाविक होनी चाहिए, बनावटी नहीं। विरागता की लम्बी-चौड़ी बातें करके सिर से पैर तक राग में डूबे रहना संवेग नहीं है। जीव मात्र पर दया करने को अनुकम्पा कहते हैं अर्थात् सबको अपना मित्र समझना और वैर-भाव को छोड़कर निर्द्वन्द्व हो जाना अनुकम्पा है। सच्ची अनुकम्पा सम्यग्दृष्टि के ही होती है क्योंकि बिना अज्ञान के वैर-

भाव नहीं होता। मनुष्य समझता है कि मैं चाहूँ तो अमुक को सुखी कर सकता हूँ और चाहूँ तो अमुक को दुःखी कर सकता हूँ। या मुझे अमुक सुख पहुँचा सकता है और अमुक दुःख पहुँचा सकता है। किन्तु उसका ऐसा समझना कोरा अज्ञान है, क्योंकि जिन जीवों के प्रबल पुण्य का उदय होता है उनका कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता और जिनके प्रबल पाप का उदय होता है उनके हाथ में दिये गये रुपये भी कोयला हो जाते हैं। अतः प्राणियों में इष्ट और अनिष्ट की कल्पना करके किसी को अपना मित्र मानना और किसी को अपना शत्रु मानना अज्ञानता है। इसलिए सभी पर समान रूप से दयाभाव रखना चाहिए। तथा दूसरों पर दया करना एक तरह से अपने पर ही दया करना है।

क्योंकि सबको अपना मित्र समझकर सभी के साथ दया का व्यवहार करने से एक तो अपने हृदय में दुर्भाव उत्पन्न नहीं होंगे, दूसरे, उनके उत्पन्न न होने से अशुभ कर्मों का बन्ध नहीं होगा, तीसरे, हृदय में शान्ति रहने के साथ ही साथ दुनिया में अपना कोई वैरी न रहेगा। अतः दूसरों पर अनुकम्पा करना अपने पर ही अनुकम्पा करना है। सम्यग्दृष्टि में ही इस प्रकार की वास्तविक अनुकम्पा पायी जाती है। धर्म है, जीव है, परलोक है, मुक्ति है, मुक्ति के कारण हैं, इस प्रकार का जो भाव होता है उसे आस्तिक्य कहते हैं। यह आस्तिक्य सम्यग्दृष्टि में ही पाया जाता है इसके होनेपर ही वह आत्म-कल्याण के मार्ग पर लगता है। यह प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य का स्वरूप है।)

सम्यग्दर्शन के तीन भेद

कर्मणां क्षयतः शान्तः क्षयोपशमतस्तथा।

श्रद्धानं त्रिविधं बोध्यं गतौ सर्वत्र जन्तुषु ॥233॥

सम्यग्दर्शन के तीन भेद भी हैं--औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक। जो सम्यग्दर्शन मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन सात प्रकृतियों के उपशमसे होता है उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। जो इन सात प्रकृतियों के क्षय से होता है उसे क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं। और जो इनके क्षयोपशमसे होता है उसे क्षायोपशमिक कहते हैं। ये तीनों सम्यग्दर्शन सब गतियों में पाये जाते हैं ॥233॥

(भावार्थ - सम्यग्दर्शन के ये तीन भेद अन्तरङ्ग कारण की अपेक्षा से किये गये हैं। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के उपशम सम्यक्त्व ही होता है उसे प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहते हैं। उपशमसम्यक्त्व के दो भेद हैं--प्रथमोपशम सम्यक्त्व और द्वितीयोपशमसम्यक्त्व। मिथ्यादृष्टिगुणस्थान से जो उपशमसम्यक्त्व होता है उसे प्रथमोपशमसम्यक्त्व कहते हैं और उपशम श्रेणि के अभिमुख हुए जीव के क्षायोपशमिक सम्यक्त्वपूर्वक जो उपशमसम्यक्त्व होता है उसे द्वितीयोपशमसम्यक्त्व कहते हैं। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव यदि सम्यक्त्व को उत्पन्न करता है तो तीन करणों के द्वारा दर्शन मोहनीय का सर्वोपशमन करके ही सम्यक्त्व को उत्पन्न करता है। जो सादि मिथ्यादृष्टि बहुत काल तक मिथ्यात्व में रहकर पुनः सम्यक्त्व को प्राप्त करता है वह भी दर्शन मोहनीय का सर्वोपशमन करके ही सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। किन्तु जो सम्यक्त्व से च्युत होकर जल्दी ही सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है वह सर्वोपशमन अथवा देशोपशमन के द्वारा सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। यदि वेदक प्रायोग्य काल के अन्दर ही सम्यक्त्व को ग्रहण कर लेता है तो देशोपशम के द्वारा ही ग्रहण करता है, नहीं तो सर्वोपशम के द्वारा ग्रहण करता है। दर्शन मोहनीय की तीनों प्रकृतियों के उदयाभाव को सर्वोपशम कहते हैं और सम्यक्त्व प्रकृति सम्बन्धी देशघाती स्पर्द्धकों के उदय को और शेष दोनों प्रकृतियों के उदयाभाव को देशोपशम कहते हैं। अनादि मिथ्या दृष्टि प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करके अन्तर्मुहूर्त काल पूरा होने पर नियम से मिथ्यात्व में ही आता है और सादि मिथ्यादृष्टि सम्यक्त्व को प्राप्त करके उससे च्युत होने पर दर्शनमोहनीय की तीनों प्रकृतियों में से किसी एक का उदय हो जाने से मिथ्यादृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि अथवा वेदक सम्यग्दृष्टि हो जाता है। वेदक सम्यक्त्व को ही क्षायोपशमिक सम्यक्त्व भी कहते हैं। अनन्तानुबन्धी कषाय का अप्रशस्त उपशम अथवा विसंयोजन होने पर और मिथ्यात्व तथा सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतियों का प्रशस्त उपशम होने पर अथवा उनके क्षय के अभिमुख होने पर देशघाती सम्यक्त्व प्रकृति का उदय होते हुए जो सम्यग्दर्शन होता है उसे वेदक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। जहाँ विवक्षित प्रकृति उदय आने योग्य तो न हो किन्तु उसका स्थिति अनुभाग घटाया या बढ़ाया जा सके अथवा उसका संक्रमण किया जा सके, उसे अप्रशस्त उपशम कहते हैं। ओर जहाँ विवक्षित प्रकृति न तो उदय आने योग्य हो, न उसका स्थिति अनुभाग घटाया या बढ़ाया जा सके और न अन्य प्रकृति रूप संक्रमण ही किया जा सके उसे प्रशस्त उपशम कहते हैं। वेदक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में सम्यक्त्व प्रकृति का उदय होते हुए भी उसमें सम्यक्त्व को नष्ट कर देने की शक्ति तो नहीं है किन्तु वह सम्यक्त्व में चल मलिन और अगाढ़ दोष पैदा करती है। जैसे जल एक होकर भी

लहरों के उठने पर चञ्चल हो जाता है वैसे ही सम्यक्त्व मोहनीय का उदय होने से श्रद्धान में कुछ चञ्चलपना आ जाता है और उसके आने से सम्यग्दृष्टि अपने और दूसरों के बनवाये हुए जिनविम्ब वगैरह में यह मेरा है, यह दूसरों का है ऐसा भेद कर बैठता है। इसके सिवा उसके श्रद्धान में अन्य कुछ चञ्चलता नहीं होती। तथा जैसे शुद्ध सोना मल के सम्बन्ध से मलिन हो जाता है वैसे ही वेदक सम्यक्त्व शङ्का वगैरह मल के द्वारा मलिन हो जाता है। तथा जैसे वृद्ध मनुष्य के हाथ की लकड़ी हाथ से छूटती तो नहीं है किन्तु काँपती रहती है वैसे ही वेदक सम्यक्त्वी का श्रद्धान तो नहीं छूटता, किन्तु उसमें थोड़ी शिथिलता रहती है, वह जैन देवों में ही ऐसी भेदकल्पना कर लेता है कि शान्तिनाथ भगवान्की पूजा करने से शान्ति मिलती है, पार्श्वनाथ भगवान्की पूजा करने से धन मिलता है, आदि। क्षायिकसम्यक्त्व दर्शन मोहनीय कर्म के क्षय होने पर होता है और दर्शन मोहनीय के क्षपण का प्रारम्भ कर्म भूमिया मनुष्य ही तीर्थङ्कर, केवली अथवा श्रुतकेवली के पादमूल में करता है। किन्तु उसकी पूर्ति चारों गतियों में होती है क्योंकि बद्धायु कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि मरकर चारों गतियों में से किसी भी एक गतिमें उत्पन्न हो सकता है। इतना विशेष है कि यदि उसने पहले मनुष्यायु का बन्ध किया है तो वह भोगभूमिया मनुष्यों में ही जन्म लेता है, यदि तिर्यञ्चायु का बन्ध किया है तो भोगभूमिया तिर्यञ्चों में ही जन्म लेता है, यदि नरकायुका बन्ध किया है तो प्रथम नरक में ही जन्म लेता है और यदि देवायुका बन्ध किया है तो सौधर्मादि कल्पों में या कल्पातीत देवों में जन्म लेता है। क्षायिक सम्यग्दर्शन सुमेरु की तरह निश्चल और सदा अविनाशी होता है, अन्य सम्यग्दर्शन तो होकर छूट भी जाते हैं, किन्तु क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं छूटता। जिसे क्षायिकसम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है वह उसी भव में या तीसरे भव में अथवा चौथे भव में मुक्ति लाभ कर लेता है, किन्तु चौथे भव से आगे भव धारण नहीं करता। इस प्रकार सम्यग्दर्शन के तीन भेदों का स्वरूप जानना चाहिए।

दशविधं तदाह

सम्यग्दर्शनके दस भेद -

आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात् ।

विस्तारार्थाभ्यां भवमवपरमावादिगाढं च ॥234॥ -आत्मानुशासन, श्लो० 11

आज्ञा सम्यक्त्व, मार्ग सम्यक्त्व, उपदेश सम्यक्त्व, सूत्र सम्यक्त्व, बीज सम्यक्त्व, संक्षेपसम्यक्त्व, विस्तारसम्यक्त्व, अर्थसम्यक्त्व, अवगाढसम्यक्त्व और परमावगाढसम्यक्त्व ये सम्यक्त्वके दस भेद हैं ॥234॥

अस्थायमर्थ :- भगवदहरसर्वक्षप्रणीतागमानुशीसंज्ञा आशा, रत्नत्रयविचारसों मार्गः, पुराणपुरुषचरितश्रवणाभिनिवेश उपदेशः,

यतिजनाचरणनिरूपणपात्रं सूत्रम्, सकलसमय दलसूचनाव्याजं बीजम्, प्राप्तश्रुतव्रतपदार्थसमासालापाक्षेपः संक्षेपः,

द्वादशाकचतुर्दशपूर्वप्रकीर्णविस्तीर्णभ्रतार्थसमर्थनप्रस्तारो विस्तारः, प्रवचनविषये स्वप्रत्ययसमर्थोऽर्थः, त्रिविधस्यागमस्य

निःशेषतोऽन्यतमदेशावगाहलीढमवगाढम्, अवधिमनःपर्ययकेवललाधिकपुरुषप्रत्ययप्ररूढं परमावगाढम् ।

इनका स्वरूप इस प्रकार है - भगवान् सर्वज्ञ अर्हन्त देव के द्वारा उपदिष्ट आगम की आज्ञा को ही प्रमाण मानकर जो श्रद्धान किया जाता है उसे आज्ञासम्यक्त्व कहते हैं। रत्नत्रय रूप मोक्ष के मार्ग का कथन सुनकर जो श्रद्धान हो उसे मार्गसम्यक्त्व कहते हैं। तीर्थकर बलदेव आदि पुराण पुरुषों के चरित को सुनकर जो श्रद्धान होता है उसे उपदेश सम्यक्त्व कहते हैं। मुनिजनों के आचार का कथन करने वाले आचारांग सूत्र को सुनकर जो श्रद्धान होता है उसे सूत्र सम्यक्त्व कहते हैं। जिस पद में सूचन रूप से समस्त शास्त्रों के अंश छिपे होते हैं उसे बीज कहते हैं। बीज पद को समझकर सूक्ष्म तत्त्वों के ज्ञानपूर्वक जो श्रद्धान होता है, उसे बीजसम्यक्त्व कहते हैं। संक्षेप से आप्त, श्रुत, व्रत और पदार्थों को जानकर उन पर जो श्रद्धान होता है उसे संक्षेप सम्यक्त्व कहते हैं। बारह अंगों, चौदह पूर्वों और अङ्गबाह्यों के द्वारा विस्तार से तत्त्वार्थ को सुनकर जो श्रद्धान होता है उसे विस्तारसम्यक्त्व कहते हैं। प्रवचन के वचनों की सहायता के बिना किसी अन्य प्रकार से जो अर्थ का बोध होकर श्रद्धान होता है उसे अर्थसम्यक्त्व कहते हैं। अङ्ग, पूर्व और प्रकीर्णक आगमों के किसी एक देश का पूरी तरह से अवगाहन करने पर जो श्रद्धान होता है उसे अवगाढ सम्यक्त्व कहते हैं। और अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान तथा केवलज्ञान के द्वारा जीवादि पदार्थों को जानकर जो प्रगाढ श्रद्धान होता है उसे परमावगाढसम्यक्त्व कहते हैं।

(भावार्थ - सम्यक्त्व के ये भेद बाह्य निमित्तों को लेकर किये गये हैं। इनमें से जिनमें तत्त्वार्थ का श्रद्धान आचार्य वगैरह के उपदेश से होता है वे अधिगमज कहलाते हैं और जिनमें स्वतः ही शास्त्रादिक का अवगाहन करके तत्त्वार्थ का श्रद्धान होता है वे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहलाते हैं। इसी तरह इनमें से जो सम्यक्त्व सरागी के होते हैं वे सरागसम्यग्दर्शन कहलाते हैं और जो वीतरागी के होते हैं वे वीतराग

सम्यग्दर्शन कहलाते हैं। किन्तु इन सभी का अन्तरङ्ग कारण दर्शन मोहनीयका उपशम , क्षय अथवा क्षयोपशम है, उसके बिना तो सम्यग्दर्शन हो ही नहीं सकता। इनमें से जो सम्यग्दर्शन दर्शन मोहनीय के उपशमसे होते हैं वे औपशमिक कहे जाते हैं, जो दर्शनमोहनीय के क्षय से होते हैं वे क्षायिक कहे जाते हैं और जो दर्शन मोहनीयके क्षयोपशम से होते हैं वे क्षायोपशमिक कहे जाते हैं। इस प्रकार इन सब भेदोंका परस्पर में समन्वय कर लेना चाहिए।)

गृहस्थो वा यतिर्वापि सम्यक्त्वस्य समाश्रयः ।

एकादशविधः पूर्वश्रमश्च चतुर्विधः ॥235॥

गृहस्थ हो या मुनि हो, सम्यग्दृष्टि, अवश्य होना चाहिए अर्थात् सम्यक्त्व के बिना न कोई श्रावक कहला सकता है और न कोई मुनि कहला सकता है। गृहस्थ के ग्यारह भेद हैं जिन्हें ग्यारह प्रतिमाएँ कहते हैं और मुनिके चार भेद हैं ॥235॥

मायानिदानमिथ्यात्वशैल्यत्रितयमुद्धरेत् ।

आर्जवाकाङ्क्षाणाभावतत्त्वभावनकोलकैः ॥236॥

सरलता रूपी कील के द्वारा माया रूपी काँटे को निकालना चाहिए। इच्छा का अभाव रूपी कील के द्वारा निदान रूपी काँटे को निकालना चाहिए और तत्त्वों की भावना रूपी कील के द्वारा मिथ्यात्व रूपी काँटे को निकालना चाहिए ॥236॥

(भावार्थ – माया, निदान और मिथ्यात्व ये तीन शल्य हैं। शल्य काँटे को कहते हैं। जैसे काँटा शरीर में लग जाने पर तकलीफ देता है वैसे ही ये तीनों भी जीवोंको शारीरिक और मानसिक कष्ट पहुँचाते हैं इसलिए इन्हें शल्य कहते हैं। इन शल्योंको हृदयसे दूर किये बिना कोई व्रती नहीं कहा जा सकता। व्रती होने के लिए केवल व्रतों को धारण कर लेना ही आवश्यक नहीं है किन्तु उनके साथ-साथ तीनों शल्यों को भी निकाल डालना आवश्यक है। जो मायाचारी है वह कैसे व्रती हो सकता है ? व्रती होने के लिए सरलता का होना जरूरी है। अतः सरलता के द्वारा मायाचार को दूर करना चाहिए। इसी तरह जो रात-दिन भविष्य के भोगों की ही कामना करता रहता है, उसका व्रत-नियम कैसे निर्दोष कहा जा सकता है ? जो इसलिए उपवास करता है कि उपवास के बाद नाना तरह के पक्वान्न भर पेट खाने को मिलेंगे, जो इसलिए ब्रह्मचर्य पालता है कि शक्ति सञ्चित करके फिर खूब भोग भोगूंगा, या मरकर स्वर्ग में देव होकर अनेक देवाङ्गनाओं के साथ रमण करूँगा, जो इसलिए दान देता है कि उससे मेरी खूब ख्याति होगी, अखबारोंमें गुणगान होगा, मेरी साख बढ़ेगी और फिर मेरा व्यापार चमक उठेगा, उनका उपवास, ब्रह्मचर्य और दान स्तुत्य नहीं कहे जा सकते। व्रत भोगों की चाह का नियन्त्रण करने के लिए ही बतलाये गये हैं, जिससे व्रती की आत्मा सबल हो। यदि कोई व्रतों के द्वारा भी भोगों की तृष्णा की ही पूर्ति करना चाहता है तो यह उसकी नासमझी है। इसी तरह यदि कोई व्रताचरण करते हुए भी मिथ्यात्व से ग्रस्त है तो उसका व्रताचरण व्यर्थ है, क्योंकि जो सन्मार्ग पर पैर रखकर भी कुमार्ग को छोड़ना नहीं चाहता वह सन्मार्ग पर कभी चल ही नहीं सकता। अतः उक्त तीनों शल्यों के होते हुए व्रताचरण का ढोंग रचा जा सकता है, व्रताचरण नहीं किया जा सकता। इसलिए उन्हें दूर कर देना आवश्यक है।)

सम्यग्दर्शन की महिमा

हेष्टिहीनः पुमानेति न यथा पदमीप्सितम् ।

दृष्टिहीनः पुमानेति न तथा पदमीप्सितम् ॥237॥

जैसे दृष्टि अर्थात् आँखों से हीन पुरुष अपने इच्छित स्थान तक नहीं पहुँच सकता। वैसे ही दृष्टि अर्थात् सम्यग्दर्शन से हीन पुरुष मुक्तिलाभ नहीं कर सकता ॥237॥

सम्यक्त्वं नागहीनं स्याद्राज्यवत्प्राज्यभूतये ।

ततस्तदङ्गसंगत्यामङ्गी निःसंगमीहताम् ॥238॥

जैसे राज्य के अङ्ग मन्त्री सेनापति वगैरह के बिना राज्य समृद्धिशाली नहीं हो सकता, वैसे ही निःशङ्कित आदि अङ्गों के बिना सम्यग्दर्शन भी उत्कृष्ट आभ्यन्तर और बाह्य विभूति को नहीं दे सकता। इसलिए प्राणी को चाहिए कि सम्यग्दर्शन के अङ्गों को प्राप्त करके निःसंग--निर्ग्रन्थ दिगम्बर हो जाने की कामना करे ॥238॥

विद्याविभूतिरूपाद्याः सम्यक्त्वरहिते कुतः । .

नहि बीजव्यपायेऽस्ति सस्यसम्पत्तिरङ्गिनि ॥239॥

चक्रिन्ः संश्रयोत्कण्ठा नाकिन्ः दर्शनोत्सुका ।

तस्य दूरे न मुक्तिश्चिन्तिर्दोषं यस्य दर्शनम् ॥240॥

सम्यक्त्व से रहित प्राणी में सम्यग्ज्ञान वगैरह कैसे हो सकते हैं ? बीज के अभाव में धान्य सम्पत्ति नहीं होती। जिसका सम्यग्दर्शन निर्दोष है , चक्रवर्ती की विभूति उसका आलिंगन करने के लिए उत्कण्ठित रहती है और देवों की विभूति उसके दर्शन के लिए उत्सुक रहती है । अधिक क्या, मोक्षलक्ष्मी भी उससे दूर नहीं है ॥239-240॥

सम्यग्दर्शन के दोष

मूढत्रयं मैदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट् ।

अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः ॥241॥

तीन मूढताएँ, आठ मद, छह अनायतन और आठ शंका वगैरह, ये सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोष हैं ॥241॥

(भावार्थ – देवमूढता, गुरुमूढता और लोकमूढता ये तीन मूढताएँ हैं। इनका स्वरूप पहले बतला आये हैं। ज्ञान का मद करना, आदर सत्कार का मद करना, कुल का मद करना, जाति का मद करना, बल का मद करना, ऐश्वर्य का मद करना, तप का मद करना और शरीर का मद करना, ये आठ मद हैं। मद घमण्डको कहते हैं। कुदेव, कुदेव का मन्दिर, कुशास्त्र, कुशास्त्र के धारक, कुतप और कुतप के धारक ये छह अनायतन हैं। अनगारधर्माभूत में मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र और उनके धारक इस तरह छह अनायतन कहे हैं। सम्यग्दर्शन के जो आठ अङ्ग बतलाये हैं उनके उल्टे शङ्का, कांक्षा, विचिकित्सा आदि आठ दोष हैं। ये सब मिलाकर सम्यग्दर्शनके पच्चीस दोष हैं। जो सम्यग्दर्शिन इन दोषोंसे रहित होता है उसका सम्यग्दर्शन निर्दोष कहा जाता है।)

मुक्ति के मार्ग में कौन स्थित है ?

निश्चयोचितचारित्रः सुदृष्टिस्तत्त्वकोविदः ।

अवतस्थोऽपि मुक्तिस्थो न व्रतस्थोऽप्यदर्शनः ॥242॥

स्वरूपाचरण चारित्र का धारक और तत्त्वों का ज्ञाता सम्यग्दर्शिन व्रतों का पालन नहीं करते हुए भी मुक्ति के मार्ग में स्थित है । किन्तु व्रतों का पालन करते हुए भी जो सम्यग्दर्शन से रहित है वह मुक्तिके मार्गमें स्थित नहीं है ॥242॥

रत्नत्रय आत्मस्वरूप है

बहिःक्रिया बहिष्कर्मकारणं केवलं भवेत् ।

रत्नत्रयसमृद्धः स्यादात्मा रत्नत्रयात्मकः ॥243॥

बाह्य क्रिया तो केवल बाह्य कर्म की ही कारण होती है। किन्तु रत्नत्रय रूपी समृद्धि का कारण तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमय आत्मा ही है ॥243॥

विशुद्धवस्तुधीदृष्टिर्बोधः साकारगोचरः

अप्रसङ्गस्तयोवृत्तं भूतार्थनयवादिनाम् ॥244॥

निश्चयनयवादियों के मत में अर्थात् निश्चय नय की दृष्टि में विशुद्ध आत्मस्वरूप में रुचि होना निश्चय सम्यक्त्व है। विशुद्ध आत्मा को साकार रूप से जानना निश्चय सम्यग्ज्ञान है और उन सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के विषयों में भेद-बुद्धि न करके एकरूप होना, अर्थात् आत्मस्वरूप में लीन होना निश्चयचारित्र है ॥244॥

अक्षाज्ञानं रुचिर्मोहाइहावृत्तं च नास्ति यत् ।

श्रात्मन्यस्मिन्निबभूते तस्मादात्मैव तत्त्रयम् ॥245॥

इस आत्मा के मुक्त हो जाने पर न तो इन्द्रियों से ज्ञान होता है, न मोह से जन्य रुचि होती है और न शारीरिक आचरण होता है। अतः ज्ञान, दर्शन और चारित्र तीनों आत्मस्वरूप ही हैं ॥245॥

(भावार्थ – सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्ष के मार्ग हैं । किन्तु मोह के रहते हुए सच्चा श्रद्धान नहीं हो सकता, क्योंकि मोह के वशीभूत होकर प्राणी अपने हित-अहित को नहीं समझ पाता। जिससे उसे अपनी वासना की पूर्ति होती हुई दिखाई देती है उसे ही अपने सुख का साधन समझ बैठता है और जब उसी से उसकी वासना की पूर्ति होती हुई नहीं दिखाई देती तब उसे

ही दुःखका कारण मान बैठता है। इस तरह मोह के रहते हुए कभी वह सच्चे सुख और उसके साथनों की ओर दृष्टि ही नहीं देता। अतः मोह से मिथ्या श्रद्धान ही होता है, सम्यक्श्रद्धान नहीं। सम्यक् श्रद्धान तो आत्मा का गुण है और वह मोह के अभाव में ही प्रकट होता है तथा ज्ञान भी आत्मा का ही गुण है, इन्द्रियों का नहीं। इन्द्रियाँ तो संसार अवस्था में ज्ञान की उत्पत्ति में सहायक मात्र हैं। उनके बिना भी अतीन्द्रिय वस्तुओं का ज्ञान होता है और उनके रहते हुए भी कभी-कभी ज्ञान नहीं होता। अतः ज्ञान भी इन्द्रियों का धर्म नहीं है। तथा चारित्र भी शरीर का धर्म नहीं है; क्योंकि शरीर से कुछ न कुछ करते रहने का नाम चारित्र नहीं है किन्तु कर्मबन्ध के कारणभूत सब क्रियाओं का निरोध करना ही सम्यक्चारित्र है। शारीरिक क्रियाएँ तो कर्मों के आस्रव की कारण हैं। यदि वे क्रियाएँ शुभ होती हैं तो शुभ कर्म का आस्रव होता है और यदि वे क्रियाएँ अशुभ होती हैं तो अशुभ कर्म का आस्रव होता है। इसके सिवा यदि शरीर से अच्छी क्रिया करते हुए भी मन उस ओर न हो और किन्हीं बुरे विचारों में रमता हो तो शारीरिक क्रिया शुभ होने पर भी उसका फल शुभ नहीं होता; क्योंकि केवल द्रव्य से, यदि उसमें भाव न लगा हो तो कुछ भी कार्य नहीं सध सकता। अतः चारित्र शरीर का धर्म नहीं है आत्मा का धर्म है, शरीर तो केवल शुभाचरण रूप चारित्र में सहायक मात्र है। और फिर जब मुक्ति आत्मस्वरूप है तो वे तीनों आत्मस्वरूप ही होने चाहिए। क्योंकि कहा है कि सम्यग् दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आत्मा के सिवा अन्य द्रव्य में नहीं रहते। अतः रत्नत्रयमय आत्मा ही मोक्षका कारण है। मुक्तावस्थामें इन्द्रियों के अभाव में भी स्वाभाविक ज्ञानादिक गुण रहते हैं। यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि जैन सिद्धान्त में वस्तु का विवेचन दो दृष्टियों से होता है, एक व्यवहार-दृष्टि से और दूसरे निश्चय दृष्टि से। व्यवहार-दृष्टिको व्यवहार नय कहते हैं और निश्चय-दृष्टि को निश्चयनय कहते हैं। आचार्य अमृतचन्द्रसूरि ने अपने पुरुषार्थ सिद्धयुपाय नामक ग्रन्थ के प्रारम्भमें लिखा है कि व्यवहार और निश्चय के ज्ञाता ही जगत्में धर्म तीर्थ का प्रवर्तन करते हैं। और जो केवल व्यवहार को ही जानता है वह उपदेश का पात्र नहीं है क्योंकि जैसे किसी बच्चे में शूर-वीरता, निर्भयता आदि धर्मों को देखकर किसी ने कहा कि 'यह बच्चा तो शेर है'। जो आदमी शेर को नहीं जानता वह समझ बैठता है कि यही शेर है। वैसे ही निश्चय को न जाननेवाला व्यवहार को ही निश्चय समझ बैठता है। किन्तु जो व्यवहार और निश्चय दोनों को जानकर दोनों में मध्यस्थ रहता है, दोनों में से किसी एक नय का ही पक्ष पकड़कर नहीं बैठ जाता वही शिष्य या श्रोता उपदेश का पूरा लाभ उठाता है। अतः निश्चय और व्यवहार दोनों को समझना आवश्यक है। वस्तु के असली स्वरूप को निश्चय कहते हैं, जैसे मिट्टी के घड़े को मिट्टीका घड़ा कहना। और पर के निमित्त से वस्तु का जो औपचारिक या उपाधिजन्य स्वरूप होता है उसे व्यवहार कहते हैं। जैसे मिट्टी के घड़े में घी भरा होने के कारण उसे घी का घड़ा कहना। अतः चूंकि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आत्मस्वरूप ही हैं, अतः आत्मा का विनिश्चय ही निश्चय सम्यग्दर्शन है, आत्मा का ज्ञान ही निश्चय सम्यग्ज्ञान है और आत्मा में स्थित होना ही निश्चय सम्यक्चारित्र है। किन्तु आत्म-स्वरूप का विनिश्चय तब तक नहीं हो सकता जबतक आत्मा और कर्मों के मेल से जिन सात तत्त्वों की सृष्टि हुई है उनका तथा उनके उपदेश देव, शास्त्र और गुरुओं का श्रद्धान न हो, क्योंकि परम्परा से ये सभी आत्म-श्रद्धानके कारण हैं। इन पर श्रद्धान हुए बिना इन की बातोंपर श्रद्धान नहीं हो सकता और इनकी बातों पर श्रद्धान हुए बिना आत्मा की ओर उन्मुखता, उसकी पहचान और विनिश्चिति उत्तरोत्तर नहीं हो सकती। यही बात सम्यग्ज्ञान के सम्बन्धमें जाननी चाहिए। वास्तव में देव शास्त्र गुरु और उनके द्वारा उपदिष्ट सात तत्त्वों का श्रद्धान और ज्ञान इसीलिए आवश्यक है क्योंकि वह आत्मश्रद्धान और आत्मज्ञान में निमित्त है। इन सबके श्रद्धान और ज्ञान का लक्ष्य आत्म श्रद्धान और आत्म ज्ञान ही है। इसी तरह आत्मा में स्थिति तब तक नहीं हो सकती जब तक उसकी प्रवृत्ति बहिर्मुखी है। अतः उसकी प्रवृत्ति को अन्तर्मुखी करने के लिए पहले उसे बुरी प्रवृत्तियों से छुड़ाकर अच्छी प्रवृत्तियों में लगाया जाता है। जब वह उनका अभ्यस्त हो जाता है तब धीरे-धीरे उनका भी निरोध करके उसे प्रवृत्तिमार्ग से निवृत्ति मार्गकी ओर लगाया जाता है। होते-होते वह उस स्थिति में पहुँच जाता है जहाँ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका विषय केवल आत्मा ही रह जाता है और समस्त परावलम्ब विलीन हो जाते हैं। यही निश्चयरूप रत्नत्रय है। किन्तु बिना व्यवहार का अवलम्बन किये इस निश्चय की प्रतीति नहीं हो सकती। अतः अज्ञानकारों को समझानेके लिए व्यवहार का उपदेश दिया जाता है और व्यवहार के द्वारा निश्चयकी प्रतीति करायी जाती है। जब तक जीव सरागी रहता है तब तक वह व्यवहारी रहता है, ज्यों-ज्यों उसका राग घटता जाता है त्यों-त्यों वह व्यवहार से निश्चय की ओर आता जाता है और ज्यों-ज्यों वह निश्चय की ओर आता-जाता है त्यों-त्यों उसके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र व्यवहार से निश्चय का रूप लेते जाते हैं। किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि चौथे आदि गुणस्थानों में जो सम्यक्त्व होता है उसमें आत्मविनिश्चिति, आत्मबोध और आत्मस्थिति कतई रहती ही नहीं, यदि ऐसा हो तो उसे सम्यक्त्व ही नहीं कहा जायेगा। दर्शन

मोहनीय और अनन्तानुबन्धी कषाय जैसी प्रकृतियों का उपशम क्षयोपशम अथवा क्षय हो जाना मामूली बात नहीं है और उनके हो जाने से जीव की परिणति में आमूल-चूल परिवर्तन हो जाता है, उसी के कारण उसके प्रतिसमय असंख्यातगुणी कर्म निर्जरा होती है, अनेक प्रकृतियों का बन्ध रुक जाता है और अनेकों के स्थिति अनुभाग का हास या क्षय हो जाता है। तभी तो प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन के साथसाथ स्वरूपाचरण चारित्र भी बतलाया है जोकि शुद्धात्मानुभव का अविनाभावी है। और शुद्धात्मानुभव सम्यग्दर्शनके बिना नहीं होता। अतः भेद-दृष्टि के कारण जो सम्यग्दर्शन व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा जाता है उसमें भी आत्मविनिश्चिती, आत्मानुभव और आत्मस्थिति रहती ही है। किन्तु चारित्र मोहनीय आदि के कारण उनमें स्थिरता न आ सकने से वे तीनों एक आत्मरूप नहीं हो पाते।)

(अब आत्मा और कर्म का सम्बन्ध कैसा है यह स्पष्ट करते हैं-)

नात्मा कर्म न कर्मात्मा तयोर्थ्यन्महदन्तरम् ।

तदात्मैव तदा सत्ता वात्मा व्योमेव केवलम् ॥246॥

न आत्मा कर्म है और न कर्म आत्मा है; क्योंकि दोनों में बड़ा भारी अन्तर है। अतः मुक्तावस्था में केवल आत्मा ही रहता है और वह शुद्ध आकाश की तरह है ॥246॥

क्लेशाय कारणं कर्म विशुद्ध स्वयमात्मनि ।

नोष्णमम्बु स्वतः किन्तु तदौष्ण्यं वह्निसंश्रयम् ॥247॥

आत्मा स्वयं विशुद्ध है और कर्म उसके क्लेश का कारण है। जैसे जल स्वयं गरम नहीं होता; किन्तु आग के सम्बन्ध से उसमें गरमी आ जाती है ॥247॥

आत्मा कर्ता स्वपर्याये कर्म कर्तृ स्वपर्याये ।

मिथो न जातु कर्तृत्वमपरत्रोपचारतः ॥248॥

स्वतः सर्वे स्वभावेषु सक्रियं सचराचरम् ।

निमित्तमात्रमन्यत्र वागतेरिव सारिणिः ॥249॥

आत्मा अपनी पर्याय का कर्ता है और कर्म अपनी पर्याय का कर्ता है। उपचार के सिवा दोनों परस्पर में एक दूसरे के कर्ता नहीं हैं। अर्थ अतः उपचार से आत्मा को कर्म का और कर्म को आत्मा का कर्ता कहा जाता है परन्तु वास्तव में दोनों अपनी-अपनी पर्यायों के ही कर्ता हैं। समस्त चराचर विश्व स्वयं अपने स्वभाव का कर्ता है, दूसरे तो उसमें निमित्त मात्र हैं। जैसे जल में स्वयं बहने की शक्ति है, किन्तु नाली उसके बहने में निमित्त मात्र है ॥248-249॥

(भावार्थ – आत्मा और कर्म ये दोनों दो स्वतन्त्र पदार्थ हैं। आत्मा चेतन है और कर्म जड़ है। अतः न चेतन जड़ हो सकता है और न जड़ चेतन हो सकता है। किन्तु दोनों पदार्थों में एक वैभाविकी नाम की शक्ति है। इस वैभाविकी शक्ति के कारण पर का निमित्त मिलने पर वस्तु का विभावरूप परिणमन होता है। इसी से अनादि काल से जीव कर्मों से बँधा हुआ है। जब राग-द्वेष से युक्त जीव अच्छे या बुरे कामों में लगता है तब कर्म रूपी रज ज्ञानावरणादिक रूप से उसमें प्रवेश करता है। जैन दर्शन में पुद्गल द्रव्य की 23 वर्गणाएँ मानी गयी हैं। उनमें से एक कर्मण वर्गणा भी है, जो समस्त संसारमें व्याप्त है। यह कर्मण वर्गणा ही जीवों के भावों का निमित्त पाकर कर्म रूप परिणत हो जाती है। जीव उनका कर्ता नहीं है, क्योंकि द्रव्य कर्म पौद्गलिक है, पुद्गल द्रव्य के विकार हैं। उनका कर्ता चेतन जीव कैसे हो सकता है? चेतन का कर्म चैतन्य रूप होता है और अचेतन का कर्म अचेतन रूप। यदि चेतन का कर्म भी अचेतन रूप होने लगे तो चेतन और अचेतन का भेद मिट जाने से महान् संकर दोष उपस्थित हो। अतः प्रत्येक द्रव्य स्वभाव का कर्ता है, परभाव का कर्ता नहीं है। जैसे जल स्वभाव से शीतल होता है, किन्तु आग पर रखने से उष्ण हो जाता है। यहाँ पर उष्णता का कर्ता जल को नहीं कहा जा सकता। उष्णता तो अग्नि का धर्म है, वह जल में अग्नि के सम्बन्ध से आयी है, अतः आगन्तुक है, अग्नि का सम्बन्ध अलग होते ही चली जाती है। इसी प्रकार जीव के अशुद्ध भावों का निमित्त पाकर जो पुद्गल द्रव्य कर्म रूप परिणत होते हैं उनका कर्ता स्वयं पुद्गल ही है, जीव उनका कर्ता नहीं हो सकता। जीव तो अपने भावों का कर्ता है। जैसे यदि कोई सुन्दर युवा पुरुष बाजार से कार्य वश जाता हो और कोई सुन्दरी उस पर मोहित होकर उसकी अनुगामिनी बन जाये तो इसमें पुरुष का क्या कर्तृत्व है? कर्त्री तो वह स्त्री है, पुरुष उसमें केवल निमित्तमात्र है। वैसे ही जीव तो अपने रागद्वेषादि रूप भावों का कर्ता है। किन्तु उन भावों का निमित्त पाकर कर्म रूप होने के योग्य पुद्गल कर्म रूप

परिणत हो जाते हैं। तथा कर्मरूप परिणत हुए पुद्गल द्रव्य जब अपना फल देते हैं तो उनके निमित्त को पाकर जीव भी रागादि रूप परिणमन करता है। यद्यपि जीव और पौद्गलिक कर्म दोनों एक दूसरे का निमित्त पाकर परिणमन करते हैं तथापि न तो जीव पुद्गल कर्मों के गुणों का कर्ता है और न पुद्गल कर्म जीव के गुणों का कर्ता है। किन्तु परस्पर में दोनों एक दूसरे का निमित्त पाकर परिणमन करते हैं। अतः आत्मा अपने भावों का ही कर्ता है।)

(इस पर यह प्रश्न हो सकता है कि जब जीव अपने-अपने कर्म के उदय से जीते और मरते हैं तो जो मारने में निमित्त होता है उसे हिंसा का पाप क्यों लगता है, अतः इसका समाधान करते हैं)

जीवन्तु वा नियन्तां वा प्राणिनोऽमी स्वकर्मतः।

स्वं विशुद्धं मने हिंसन् हिंसक पापभाग्भवेत् ॥250॥

शुद्धमार्गमतोद्योगः शुद्धचेतोवचोवपुः।

शुद्धान्तरात्मसंपन्नो हिंसकोऽपि न हिंसकः ॥251॥

ये प्राणी अपने कर्म के उदय से जीवें या मरें, किन्तु अपने विशुद्ध मन की हिंसा करने वाला हिंसक है और इसलिए वह पाप का भागी है। जो शुद्ध मार्ग में प्रयत्नशील है, जिसका मन, वचन और शरीर शुद्ध है, तथा जिसकी अन्तरात्मा भी शुद्ध है वह हिंसा करके भी हिंसक नहीं है ॥250-251॥

(भावार्थ – प्रमाद के योग से प्राणों के घात करने को हिंसा कहते हैं। जैन धर्म के अनुसार अपने से किसी के प्राणों का घात हो जाने मात्र से ही हिंसा नहीं होती। संसार में सर्वत्र जीव पाये जाते हैं और वे अपने निमित्त से मरते भी हैं, किन्तु फिर भी उसे जैन धर्म हिंसा नहीं कहता। क्योंकि हिंसा दो प्रकार से होती है एक कषाय से यानी जान-बूझकर और दूसरे अयत्नाचार या असावधानी से। जब एक मनुष्य क्रोध, मान, माया या लोभ के वश होकर दूसरों पर वार करता है तो वह कषाय से हिंसा कही जाती है और जब मनुष्य की असावधानता से किसीका घात हो जाता है या किसी को कष्ट पहुँचता है तो वह अयत्नाचार से हिंसा कही जाती है। किन्तु यदि कोई मनुष्य देख-भालकर कार्य करता है और उस समय उसके चित्त में कोई कषाय भी नहीं है फिर भी यदि उसके द्वारा किसी को वध हो जाता है तो वह हिंसक नहीं कहा जाता। जैसा कि शास्त्रकारों ने कहा है कि जो मनुष्य देख-देख के मार्गमें चल रहा है, उसके पैर उठाने पर यदि कोई जन्तु उसके पैर के नीचे आ जावे और दबकर मर जावे तो उस मनुष्य को उस जीव के मारने का थोड़ा-सा भी पाप नहीं लगता। किन्तु यदि कोई मनुष्य असावधानता से कार्य कर रहा है और उसके द्वारा किसी प्राणी की हिंसा भी नहीं हो रही है तब भी वह हिंसा का भागी है। जैसा कि शास्त्रकारों ने कहा है कि 'जीव मरे या जिये, असावधानता से काम करने वालों को हिंसा का पाप अवश्य लगता है। किन्तु जो यत्नाचारसे कार्य कर रहा है उसे हिंसा हो जाने पर भी हिंसाका पाप नहीं लगता'। वास्तव में हिंसा रूप परिणाम ही हिंसा है। द्रव्य हिंसा को तो केवल इसलिए हिंसा कहा जाता है कि उसका भाव हिंसा के साथ सम्बन्ध है। इसीलिए कहा है कि 'जो प्रमादी है वह प्रथम तो अपना ही घात करता है। बाद को अन्य प्राणियों का घात हो या न हो।' अतः जो दूसरों को कष्ट पहुँचाने का प्रयत्न करता है वह अपने परिणामों का ही घात करने के कारण हिंसक है अतः वह पाप का भागी है। और जो सावधान और अप्रमादी है वह दूसरे का घात हो जाने पर भी हिंसक नहीं है क्योंकि उसके परिणाम पवित्र हैं। इसी से पण्डित आशाधरजी ने अपने सागारधर्माभूतमें लिखा है - 'यदि बन्ध और मोक्ष भावों के ऊपर निर्भर न होता तो जीवों से भरे हुए इस लोक में कौन मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता।')

पुण्यायापि भवेद् दुःखं पापायापि भवेत्सुखम् ।

स्वस्मिन्यत्र वा नीतमचिन्त्यं वित्तवेष्टितम् ॥252॥

सुखदुःखाविधातापि भवेत्पापसमाश्रयः।

पेटीमध्यविनिक्षिप्तं वासः स्यान्मलिनं न किम् ॥253॥

अपने को या दूसरे को दुःख देने से पुण्य कर्म का भी बन्ध होता है और सुख देने से पाप कर्म का भी बन्ध होता है। मन की चेष्टाएँ अचिन्त्य हैं। जो सुख और दुःख का अकर्ता है वह भी पाप से लिप्त हो जाता है। ठीक ही है, क्या सन्दूक में रखा हुआ वस्त्र मैला नहीं हो जाता ॥252-253॥

बहिष्कार्यासमर्थोऽपि विस्व संस्थिते ।

परं पापं परं पुण्यं परमं च पदं भवेत् ॥254॥

प्रकुर्वाणः क्रियास्तास्ताः केवलं क्लेशभाजनः ।

यो न चित्तप्रचारशस्तस्य मोक्षपदं कुतः ॥255॥

बाह्य क्रिया न करते हुए भी यदि चित्त चित्त में ही लीन रहता है तो उत्कृष्ट पाप, उत्कृष्ट पुण्य और उत्कृष्ट पद मोक्ष प्राप्त हो सकता है। जो केवल बाह्य क्रियाओं को करने का ही कष्ट उठाता रहता है और चित्त की चंचलता को नहीं समझता, उसे मोक्ष पद कैसे प्राप्त हो सकता है ? ॥254--255॥

(भावार्थ - कुछ लोग समझते हैं कि दूसरों को दुःख देने से पाप कर्मका बन्ध होता है और सुख देने से पुण्य कर्म का बन्ध होता है। कुछ समझते हैं कि स्वयं दुःख उठाने से पुण्य कर्म का बन्ध होता है और सुख भोगने से पाप कर्म का बन्ध होता है। किन्तु ऐसा ऐकान्तिक नियम नहीं है। क्योंकि यदि किसी को अच्छे भावों से दुःख भी पहुँचाया जाय तो वह पाप कर्म के बन्धका कारण नहीं होता। जैसे डाक्टर रोगी को नीरोग कर देने की भावना से चीरा लगाता है। रोगी को महान् कष्ट होता है वह चिल्लाता है और छटपटाता है। फिर भी डाक्टर को चीरा लगाने से पाप कर्म का बन्ध नहीं होता। तथा यदि बुरे भावों से किसीको सुख दिया जाये तो वह पुण्य कर्म के बन्धका कारण नहीं होता। जैसे, कोई वेश्या किसी अनाथ सुन्दरी का पालन-पोषण करके उसे सुख पहुँचाती है जिससे उसके शरीर को बेचकर वह खूब धन जमा कर सके। वह सुखदान वेश्या के पुण्य कर्म के बन्धका कारण नहीं है। इसी तरह स्वयं दुःख उठाने से पुण्य कर्म का और सुख उठाने से पाप कर्म का ही बन्ध होता है, यह भी एकान्त नियम नहीं है। क्योंकि बुरे भावों से दुःख उठाने पर पाप कर्म का ही बन्ध होता है और अच्छे भावों से सुख भोगने पर भी पुण्य कर्म का बन्ध होता है। अतः जैन धर्म में भाव की ही मुख्यता है। भाव की विशुद्धि और अविशुद्धि पर ही पुण्य और पाप कर्म का बन्ध निर्भर है केवल बाह्य क्रिया के अच्छेपन या बुरेपनपर नहीं, क्योंकि एक पूजक भगवान्की पूजा करते समय यदि मन में बुरे विचारों का चिन्तन करता है तो उसकी बाह्य क्रिया शुभ होने पर भी मन की क्रिया शुभ नहीं है इसलिए उसे पुण्य कर्मका बन्ध नहीं होता। तथा एक पिता बच्चे की बुरी आदत छुड़ाने के लिए उसे मारता है। यहाँ यद्यपि पिता की बाह्य क्रिया खराब है, देखनेवाले उसे बुरा-भला कहते हैं मगर उसके चित्त में लड़केके कल्याण की भावना समायी हुई है। अतः जो केवल बाह्य क्रियाओं के करने में ही लगे रहते हैं और मन को उनमें लगाने का प्रयत्न नहीं करते वे कभी भी मुक्ति लाभ नहीं कर सकते। चित्त की वृत्तियाँ बड़ी चंचल होती हैं और उनके नियमन पर ही सब कुछ निर्भर है। जो आदमी एकान्त स्थान में ध्यान लगाकर बैठा हुआ है, न वह किसी को दुःख देता है और न किसी को सुख, फिर भी चूंकि उसका मन योग में न लगकर भोग की कल्पनामें रम रहा है अतः वह बैठे-बिठाये पाप कर्म का बन्ध करता है। इसीलिए कहा है कि मन ही मनुष्यों के बन्ध और मोक्ष का कारण है। उसके द्वारा मनुष्य चाहे तो न कुछ करते हुए भी सातवें नरक का बन्ध कर सकता है और उसीको शुभ विचारों में लगाकर उत्कृष्ट पुण्य का बन्ध कर सकता है। तथा उसी को शुभ और अशुभ दोनों से हटाकर शुद्धोपयोग में लगा देने से मोक्ष प्राप्त कर सकता है। अतः चित्त के विकल्पों को समझकर उन्हीं के नियन्त्रण का प्रयत्न करते रहना चाहिए तभी बाह्य क्रियाएँ भी फलदायी हो सकती हैं।)

सम्यग्ज्ञान का स्वरूप

यजानाति यथावस्य वस्तुसत्यमजसा ।

तृतीय लोचनं नृणां सम्यग्ज्ञानं तदुच्यते ॥256॥

यष्टिवजानुषान्धस्य तत्स्यात्सुकृतचेतसः ।

प्रवृत्तिविनिवृत्य हिताहितविवेचनात् ॥257॥

जो सब वस्तुओं को ठीक रीति से जैसा का-तैसा जानता है उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं। यह सम्यग्ज्ञान मनुष्योंका तीसरा नेत्र है ॥जैसे जन्म से अन्धे मनुष्य को लाठी ऊँची-नीची जगह को बतलाकर उसे चलने और रुकने में मदद देती है वैसे ही सम्यग्ज्ञान हित और अहित का विवेचन करके धर्मात्मा पुरुष को हितकारक कार्यों में लगाता है और अहित करने वाले कामों से रोकता है ॥256-257॥

मतिर्जागर्ति हटेऽर्थे ऽदृष्टे तथागमः ।

अतो न दुर्लभं तत्त्वं यदि निर्मस्सैरं मनः ॥258॥

मतिज्ञान तो इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों को ही जानता है। किन्तु शास्त्र इन्द्रियों के विषयभूत और अतीन्द्रिय दोनों प्रकार के पदार्थों का

ज्ञान कराता है। अतः यदि ज्ञाता का मन ईर्ष्या, द्वेष आदि दुर्भावों से रहित है तो उसे तत्त्व का ज्ञान होना दुर्लभ नहीं है ॥258॥

यद्यर्थं दर्शितेऽपि स्याजन्तोः संतमसा मतिः ।

शाममालोकवत्तस्य वृथा रेविरिपोरिव ॥259॥

शातुरेव स दोषोऽयं यदवाऽपि वस्तुनि ।

मतिविपर्ययं धत्ते यथेन्दौ मन्दचक्षुषः ॥260॥

यदि तत्त्व के ज्ञान लेने पर भी मनुष्य की बुद्धि अन्धकार में रहती है तो जैसे उल्लू के लिए प्रकाश व्यर्थ होता है वैसे ही उस मनुष्य का ज्ञान भी व्यर्थ है ॥साफ स्पष्ट वस्तु में भी बुद्धि का विपरीत होना ज्ञाता के ही दोष को बतलाता है। जैसे चन्द्रमा के विषयों काच कामलादि रोग से अस्त नेत्र वाले मनुष्य को विपरीत ज्ञान होता है-एक के दो चन्द्रमा दिखायी देते हैं। यह ज्ञाता की ही खराबी है, चन्द्रमा की नहीं ॥ 259-260॥

(भावार्थ – जो वस्तु जिस रूप में है उसको वैसा जानना सम्यग् ज्ञान है। सम्यग्ज्ञान का फल ही यह है कि वह हित और अहित का ज्ञान कराकर ज्ञाता को हित में लगाये और अहित से बचाये। किन्तु यदि कोई सम्यग्ज्ञान से वस्तु को जानकर भी उसकी उपेक्षा करता है तो यह ज्ञान का दोष नहीं है किन्तु जानने वाले का दोष है। असल में ज्ञान दो कारणों से मिथ्या होता है एक बहिरंग कारण से और दूसरे अंतरंग कारण से। आँखों में खराबी होने या अन्धकार होने से जो कुछ का-कुछ दिखायी दे जाता है वह बहिरङ्ग कारणों की खराबी या कमीसे होता है। किन्तु बहिरंग कारणों के ठीक होते हुए भी और वस्तु को जैसा का-तैसा जानने पर भी अन्तरङ्ग में मिथ्यात्व का उदय होने से भी ज्ञाता का ज्ञान मिथ्या होता है। जैसे नशीली वस्तुओं के सेवन से मनुष्य का मस्तिष्क विकृत हो जाता है और उसकी आँखें खुली होने तथा प्रकाश वगैरह के होने पर भी वह कुछ का-कुछ जानता है। वैसे ही मिथ्यात्व का उदय होते हुए ज्ञानी मनुष्य का चित्त भी आत्मकल्याण की ओर न झुककर राग-रंग की ओर ही झुकता है। जो वस्तुएँ उसे रुचती हैं उनसे वह राग करता है और जो वस्तुएँ उसे नहीं रुचती उनसे द्वेष करता है। चूँकि वह ज्ञानी है इस लिए जब वह वस्तु स्वरूप का विवेचन करने खड़ा होता है तो यथावत् विवेचन कर जाता है। किन्तु जब स्वयं उन वस्तुओं में प्रवृत्ति करता है तो उसकी प्रवृत्ति राग-द्वेष के रंग में रंगी होती है। एक ही मनुष्य का यह दो तरह का व्यवहार इस बात को सूचित करता है कि यह ज्ञान की खराबी नहीं है, वह तो अपना काम कर चुका। उसका काम तो इतना ही है कि वस्तु का जैसा का-तैसा ज्ञान करा दे सो वह करा चुका। किन्तु ज्ञाता में जो खराबी है वह खराबी ही ज्ञान के किये-कराये पर मिट्टी फेर देती है। उसी के कारण वह जानते हुए भी नहीं जानता और देखते हुए भी नहीं देखता। अतः ज्ञान वास्तव में तभी सम्यग्ज्ञान होता है जब ज्ञाता में-से मिथ्यात्व बुद्धि दूर हो जाये। जैसे नशे के दूर होते ही मनुष्य की इन्द्रियाँ सचेत हो जाती हैं और वह हल्कापन तथा जागरूकता का अनुभव करता है। वैसे ही मिथ्यात्व का नशा दूर होते ही मनुष्य का वही ज्ञान कुछ का-कुछ हो जाता है और तब वह वस्तु के यथावत् स्वरूप का अनुभव करता है वही अनुभव सम्यग्ज्ञान है।)

ज्ञान के भेद

ज्ञानमेकं पुनःधा पबधा वापि तद्भवेत् ।

अन्यत्र केवलवानाचस्पत्येकमनेकधा ॥261॥

सामान्य से ज्ञान एक है। प्रत्यक्ष परोक्ष के भेद से वह दो प्रकारका है। तथा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यय और केवलज्ञान के भेद से पाँच प्रकार का है। केवलज्ञान के सिवा अन्य चार ज्ञानों में से प्रत्येक के अनेक भेद हैं ॥261॥

(भावार्थ – जो जाने उसे ज्ञान कहते हैं। इस अपेक्षा से सभी ज्ञान एक हैं क्योंकि सभी जानते हैं। किन्तु यह जानना भी अपने-अपने कारणों की अपेक्षा से तथा विषय की स्पष्टता या अस्पष्टता की अपेक्षा से अनेक प्रकार का हो जाता है। जो ज्ञान इन्द्रिय वगैरह की सहायता के बिना केवल आत्मा से ही होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। ऐसे ज्ञान तीन हैं-अवधि, मनःपर्यय और केवल। तथा जो ज्ञान इन्द्रिय, मन वगैरह की सहायता से होता है उसे परोक्ष कहते हैं। ऐसे ज्ञान दो हैं-मति और श्रुत। जो ज्ञान पाँच इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होता है वह मतिज्ञान है। मति ज्ञान के भी चार भेद हैं-अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। अवग्रह के दो भेद हैं-व्यंजनावग्रह और अर्थवाग्रह। प्राप्त अर्थ के प्रथम ग्रहण को व्यंजनावग्रह और प्राप्त तथा अप्राप्त अर्थ के प्रथम ग्रहण को अर्थावग्रह कहते हैं। जो पदार्थ इन्द्रियों से सम्बद्ध होकर जाना जाता है वह प्राप्त अर्थ है और जो पदार्थ इन्द्रियों से सम्बद्ध न होकर जाना जाता है वह अप्राप्त अर्थ है। चक्षु और

मन अप्राप्त अर्थ को ही जानते हैं। शेष चार इन्द्रियाँ प्राप्त और अप्राप्त दोनों प्रकार के पदार्थों को जानती हैं। प्राप्त अर्थ में व्यंजनावग्रह के बाद अर्थावग्रह होता है और अप्राप्त अर्थ में व्यंजनावग्रह न होकर अर्थावग्रह ही होता है। इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध होते ही जो अस्पष्ट ज्ञान होता है उसे व्यंजनावग्रह कहते हैं। और व्यंजनावग्रह के बाद जो स्पष्ट ज्ञान होता है कि 'यह शब्द है' उसे अर्थावग्रह कहते हैं। जैसे मिट्टी के कोरे सकोरे पर जल के दो-चार छीटे देने से वह गीला नहीं होता किन्तु बार-बार बूंद टपकाते रहने से धीरे-धीरे वह गीला हो जाता है। वैसे ही शब्द भी कान में एक बार आने से ही स्पष्ट नहीं हो जाता किन्तु धीरे-धीरे स्पष्ट होता है। अतः अर्थावग्रह से पहले व्यंजनावग्रह होता है। अवग्रह के द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थ में विशेष जानने की इच्छा रूप ज्ञान को ईहा कहते हैं। जैसे शब्द सुनने पर यह जानने की इच्छा होती है कि यह शब्द किसका है ? निर्णयात्मक ज्ञान को अवाय कहते हैं। जैसे यह शब्द अमुक पक्षी का है। और कालान्तर में न भूलने का कारण जो संस्कार रूप ज्ञान होता है उसे धारणा कहते हैं। जिसके कारण कुछ काल के बाद भी यह स्मरण होता है कि मैंने अमुक पक्षी का शब्द सुना था। इस प्रकार चूंकि व्यंजनावग्रह केवल चार इन्द्रियों से ही होता है इस लिए उसके चार भेद हैं। तथा अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा पाँचों इन्द्रियों और मन से होते हैं। इस लिए उनके चौबीस - भेद हुए। ये सब मिलाकर मति ज्ञान के अट्ठाईस भेद होते हैं। तथा ये अट्ठाईस मति ज्ञान बहु आदि बारह प्रका रके पदार्थों के होते हैं। इसलिये मतिज्ञान के तीन-सौ छत्तीस भेद हो जाते हैं। मति ज्ञान से जाने हुए पदार्थ का अवलम्बन लेकर जो विशेष ज्ञान होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। उसके दो भेद हैं- अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक। श्रोत्रेन्द्रिय के सिवा शेष चार इन्द्रिय जन्य मति ज्ञान पूर्वक जो श्रुत ज्ञान होता है उसे अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहते हैं और श्रोत्रेन्द्रियजन्य मति ज्ञानपूर्वक जो श्रुतज्ञान होता है उसे अक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहते हैं। इन श्रुतज्ञानों के क्षयोपशम की अपेक्षा बीस भेद और हैं। तथा ग्रन्थ की अपेक्षा श्रुतज्ञान के दो भेद हैं-अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। तीर्थकर भगवान् की दिव्यध्वनि को सुनकर गणधर देव उसका अवधारण करके जो आचाराङ्ग आदि बारह अंग रचते हैं वे अंगप्रविष्ट कहे जाते हैं। और काल दोष से मनुष्यों की आयु तथा बुद्धि कम होती हुई देखकर आचार्य वगैरह जो ग्रन्थ रचते हैं उन्हें अंगबाह्य कहते हैं। इस तरह ग्रन्थात्मक श्रुत के बारह और चौदह भेद हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी मर्यादा लेकर मूर्तिक पदार्थ को प्रत्यक्ष जानने वाले ज्ञान को अवधिज्ञान कहते हैं। इसके दो भेद हैं-भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय। यद्यपि दोनों ही प्रकार के अवधिज्ञान अवधि ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशमके होने पर ही होते हैं। फिर भी जो क्षयोपशम भव के निमित्त से होता है उससे होने वाले अवधिज्ञान को भवप्रत्यय कहते हैं और जो क्षयोपशम सम्यग्दर्शन आदि गुणों के निमित्तसे होता है उससे होनेवाले अवधि ज्ञान को गुणप्रत्यय कहते हैं। भव प्रत्यय अवधि ज्ञान देव और नारकियों के होता है और गुण प्रत्यय अवधि ज्ञान मनुष्य और तिर्यञ्चों के होता है। विषय आदि की अपेक्षा से अवधि ज्ञान के देशावधि, परमावधि और सर्वावधि ये तीन भेद किये जाते हैं। भवप्रत्यय अवधिज्ञान देशावधि रूप ही होता है और गुणप्रत्यय अवधिज्ञान तीनों रूप होता है। उत्कृष्ट देशावधि परमावधि और सर्वावधि, संयमी मनुष्य के ही होते हैं। मति, श्रुत और अवधि विपरीत भी होते हैं और उन्हें कुमति, कुश्रुत और कुअवधि या विभङ्ग कहते हैं। अपने या दूसरों के मन में स्थित अर्थ को जो बिना किसी अन्य की सहायता के प्रत्यक्ष जानता है उसे मनःपर्यय ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान संयमी पुरुषों के ही होता है। उसके दो भेद हैं-ऋजुमति और विपुलमति। जो सरल मन के द्वारा बिचारे गये, सरल वचन के द्वारा कहे गये और सरल काय के द्वारा किये गये मनोगत अर्थ को जानता है उसे ऋजुमति मनःपर्यय कहते हैं। जो पदार्थ जैसा है उसका वैसा ही चिन्तन करना, वैसा ही कहना और वैसा ही करना, सरल मन, सरल वचन और सरल काय है। सरल मन वचन काय के द्वारा अथवा कुटिल मन वचन काय के द्वारा बिचारे गये, कहे गये या किये गये मनोगत अर्थ को जो प्रत्यक्ष जानता है उसे विपुल मति मनःपर्यय ज्ञान कहते हैं। जो बिना किसी अन्य की सहायता के आत्मा से ही सचराचर विश्व को एक साथ प्रत्यक्ष जानता है उसे केवलज्ञान कहते हैं। यह केवलज्ञान अर्हन्त अवस्था के साथ ही प्रकट होता है। इसका कोई भेद नहीं है, क्योंकि यह ज्ञान पूर्ण है।)

सम्यक्चारित्र का स्वरूप तथा भेद

अधर्मकर्मनिर्मुक्तिधर्मकर्मविनिर्मितिः।

चोरित्रं तव सागारानगारयतिसंश्रयम् ॥262॥

देशतः प्रथमं तत्स्यात्सर्वतस्तु द्वितीयकम् ।

चारित्रं चारुचारित्रविचारोचितचेतसाम् ॥263॥

देशतः सर्वतो वापि नरो न लभते व्रतम् ।

स्वर्गापवर्गयोर्गस्य नास्त्यन्यतरयोग्यता ॥264॥

तुण्डकण्डूहरं शास्त्रं सम्यक्त्वविधुरे नरे ।

ज्ञानहीने तु चारित्रं दुर्भगाभरणोपमम् ॥265॥

बुरे कामों से बचना और अच्छे कामों में लगना चारित्र है। वह चारित्र गृहस्थ और मुनि के भेद से दो प्रकार का है। गृहस्थों का चारित्र देशचारित्र कहा जाता है और मुनियों का चारिक सकल चारित्र कहा जाता है। जिनके चित्त सदविचारों से युक्त हैं वे ही चारित्र का पालन कर सकते हैं। जिस मनुष्य में स्वर्ग और मोक्ष में-से किसी को भी प्राप्त कर सकने की योग्यता नहीं है वह न तो देशचारित्र ही पाल सकता है और न सकल चारित्र ही पाल सकता है। जो मनुष्य सम्यग्दर्शन से रहित है उसका शास्त्र वाचन मुख की खाज मिटाने का एक साधन मात्र है। और जो मनुष्य ज्ञान से रहित है उसका चारित्र धारण करना अभागे मनुष्य के आभूषण धारण करने के समान है ॥262-265॥ (भावार्थ - बिना सम्यग्दर्शन के शास्त्राभ्यास-ज्ञानार्जन व्यर्थ है और बिना ज्ञान के चारित्र का पालन करना व्यर्थ है)

सम्यक्त्वात्सुगतिः प्रोका जानाकीतिरुवाहता ।

वृत्तात्पूजामवायोति जवाब सामने सिनम् ॥266॥

सम्यग्दर्शन से अच्छी गति मिलती है। सम्यग्ज्ञान से संसार में यश फैलता है । सम्यक्चारित्र से सम्मान प्राप्त होता है और तीनों से मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥266॥

रुचिस्तत्त्वेषु सम्यक्त्वं शानं तत्वनिरूपणम् ।

मौदासीन्यं परं प्राहुर्वृत्तं सर्वनियोजितम् ॥267॥

तत्त्वों में रुचि का होना सम्यग्दर्शन है। तत्त्वों का कथन कर सकना सम्यग्ज्ञान है और समस्त क्रियाओं को छोड़कर अत्यन्त उदासीन हो जाना सम्यक्चारित्र है ॥267॥

वृत्तमग्निरुपायो धीः सम्यक्त्वं च रसौषधिः ।

साधुलिखो भवेदेष तल्लाभादात्मपारदः ॥268॥

चारित्र अग्नि है, सम्यग्ज्ञान उपाय है और सम्यग्दर्शन परिपूर्ण औषधियों के तुल्य है। इन सबके मिलने पर आत्मारूपी पारदधातु अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है ॥268॥

(भावार्थ - पारे को सिद्ध करने के लिए रसायनशास्त्री उसमें अनेक औषधियों के रसों की भावना दे-देकर आग पर तपाते हैं तब पारा सिद्ध हो जाता है वैसे ही आत्मारूपी पारद को सिद्ध करने के लिए चारित्ररूपी अग्नि , सम्यग्ज्ञानरूपी उपाय और सम्यग्दर्शनरूपी औषधियाँ आवश्यक हैं। उनके मिलने पर आत्मा सिद्ध अर्थात् मुक्त हो जाता है।)

सम्यक्त्वस्याश्रयश्चित्तमभ्यासो मतिसम्पदः।

चारित्रस्य शरीरं स्याद्वित्तं दानादिकर्मणः ॥269॥

सम्यग्दर्शन का आश्रय चित्त है। सम्यग्ज्ञान का आश्रय अभ्यास है। सम्यक्चारित्र का आश्रय शरीर है और दाता वगैरह का आश्रय धन है ॥ 269॥

इत्युपासकाध्ययने रत्नत्रयस्वरूपनिरूपणो नामैकविंशतितमः कल्पः ।

इस प्रकार उपासकाध्ययन में रत्नत्रय का स्वरूप बतलानेवाला इक्कीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

मद्य के दोष

बाईसवाँ कल्प

ग्रन्थ :

पुनर्गुणमणिकटक चेकटकमेव माणिक्यस्य, सुधाविधानमिव प्रासादस्य, पुरुषकारा. नुष्ठानमिव देवसम्पदः, परक्रमावलम्बनमिव नीतिमार्गस्य, विशेषवेदित्वमिव सेव्यत्वस्य, व्रतं हि खलु सम्यक्त्वरलस्योपबृंहकमाहुः । तच्च देशयतीनां द्विविधं मूलोत्तरगुणाश्रयणात् । तत्र - जैसे चूना की छुआई से मकान, पौरुष करने से दैव, पराक्रम से नीति और विशेषज्ञता से सेव्यपना चमक उठता है वैसे ही व्रत भी सम्यक्त्वरूपी रत्न को चमका देता है। गृहस्थों के व्रत मूल गुण और उत्तर गुणके भेद से दो प्रकार के होते हैं।

तत्र मद्यमांसमधुत्यागः सहोदुम्बरपञ्चकैः।

अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणाः श्रुते ॥270॥

अष्ट मूल गुण आगम में पाँच उदुम्बर और मद्य, मांस तथा मधु का त्याग ये आठ मूल गुण गृहस्थोंके बतलाये हैं ॥270॥

शराब की बुराइयाँ

सर्वदोषोदयो मद्यान्महामोहकृतेमतः ।

सर्वेषां पातकानां च पुरःसरतया स्थितम् ॥271॥

हिताहितविमोहेन देहिनः किं न पातकम् ।

कुर्युः संसारकान्तारपरिश्रमणकारणम् ॥272॥

मद्य अर्थः शराब महा मोह को करनेवाला है। सब बुराइयों का मूल है और सब पापों का अगुआ है ॥271॥ इसके पीने से मनुष्य को हित और अहित का ज्ञान नहीं रहता । और हितअहित का ज्ञान न रहने से प्राणी संसाररूपी जंगल में भटकाने वाला कौन पाप नहीं करते ? ॥272॥

मद्यन यादवा नष्टा नष्टा द्यतेन पाण्डवाः।

इति सर्वत्र लोकेऽस्मिन्सुप्रसिद्ध कथानकम् ॥273॥

समुत्पद्य विपद्येह देहिनोऽनेकशः किल ।

मद्यीभवन्ति कालेन मनोमोहाय देहिनाम् ॥274॥

मद्यैकबिन्दुसंपन्नाः प्राणिनः प्रचरन्ति चेत् ।

पूरयेयुर्न संदेहं समस्तमपि विष्टपम् ॥275॥

'मनोमोहस्य हेतुत्वान्निदानत्वाच्च दुर्गतेः ।

मद्यं सद्भिः सदा त्याज्यमिहामुत्र च दोषकृत् ॥276॥

सब लोक में यह कथा प्रसिद्ध है कि शराब पीने के कारण यादव बरबाद हो गये और जुआ खेलने के कारण पाण्डव बरबाद हो गये ॥

273॥ जन्तु अनेक बार जन्म-मरण करके काल के द्वारा प्राणियों का मन मोहित करनेके लिए मद्य का रूप धारण करते हैं ॥274॥ मद्य की एक बूंद में इतने जीव रहते हैं कि यदि वे फैलें तो समस्त जगत्में भर जायें। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥275॥ अतः चूंकि मद्यपान से मन हित अहित के विचार से शून्य हो जाता है और वह दुर्गति का कारण है, इसलिए इस लोक और परलोक में बुराइयों को पैदा करने वाले मद्य का सज्जन पुरुषों को सदा के लिए त्याग करना चाहिए ॥276॥

श्रूयतामत्र मद्यप्रवृत्तिदोषस्योपाख्यानम्-तदुर्वीश्वराखेर्वर्गवीर्यान्लाहुतीभूताहितान्वयनकादेकचक्रात्पुरादेकपानाम परिव्राजको जाह्नवीजलेषु मजनाय व्रजनिजच्छायापरद्विपाशङ्कातिकुद्धमदान्धगन्धसिन्धुरोद्धरविषाणविदार्यमाणमेदिनीहृदये विन्ध्याटवीविषये प्ररूढप्रौढयौवनासवास्वादपुनरुक्तकादम्बरीपानप्रसूतासरालविलासग्रहिलाभिर्महिलाभिः सह पलोपदंशवश्यं कश्यमासेवमानस्य महतो मातङ्गसमूहस्य मध्ये निपतितः सन् सीधुसंबन्धविधुरधीसङ्गैर्मार्तङ्गैरुपरोध्य असौ किलैवमुक्तः- 'त्वया मद्यमांसमहिलासु मध्येऽन्यतमसमागमः कर्तव्यः, अन्यथा जीवन्न पश्यसि मन्दाकिनीम्' इति । सोऽप्येवमुक्तः स्तिलसर्षपप्रमितस्यापि हि पिशितस्य प्राशने स्मृतिषु महावृत्तयो विपत्तयः श्रूयन्ते। मातङ्गीसङ्गे च मृतिनिकेतनं प्रायश्चेतनम् । य एवंविधां सुरां पिबति न तेन सुरा पीता भवतीति निखिलमखशिखामणौ सौत्रामणौ मदिरास्वादाभिसंधिरनुमतविधिरस्ति । यैश्च पिष्टोदकगुडधातकीप्रायैर्वस्तुकायैः सुरा संधीयते तान्यपि वस्तूनि विशुद्धान्येवेति चिरं चेतसि विचार्यानार्यविद्याविधानः कृतमद्यपानस्तन्माहात्म्यात्समाविर्भूतमनोमहामोहः कौपीनमपहाय

हारहरव्यवहारतिलचितमातङ्गीकागीतानुगतकरतालिकाविडम्बनावसरो ग्रहगृहीतशरीर इवानीतानेकविकारः

पुनर्बुभुक्षाश्रुशुक्षिणक्षीणकुक्षिकुहरस्तरसमपि भक्षितवान् । प्रादुर्भवदुःसहोद्रेकमदनो मातङ्गी कामितवान् । भवति चात्र श्लोकः- -

मद्यपायी एकपात संन्यासी की कथा

एकपात नाम का एक संन्यासी गंगास्नान करने के लिए एकचक्र नाम के नगर से चला । मार्ग में वह विन्ध्याटवी से गुजरा। वहाँ भीलों का एक बड़ा भारी झुण्ड यौवन मद के साथ शराब पीकर मस्त हुई विलासिनी तरुणियों के साथ मांस और सुराका सेवन कर रहा था। वह

संन्यासी उस झुण्ड में जा फँसा। शराब के नशेमें मस्त हुए भीलों ने उसे पकड़ लिया और उससे बोले- 'तुझे मद्य, मांस और स्त्री में-से किसी एक का सेवन करना होगा, नहीं तो तू जीते जी गंगा का दर्शन नहीं कर सकता।

यह सुनकर तापसी सोचने लगा- 'स्मृतियों में एक तिल या सरसों बराबर भी मांस खाने पर बड़ी-बड़ी विपत्तियों का आना सुना जाता है। भिल्लनी के साथ सम्बन्ध करने पर प्रायश्चित्त लेना पड़ता है जो मृत्यु का घर है। किन्तु समस्त यज्ञों के सिरमौर सौत्रामणि नाम के यज्ञ में शराब पीने की अनुमति है, और लिखा है कि जो इस विधि से मदिरापान करता है, उसका मदिरापान मदिरापान नहीं है। तथा पीठी, जल, गुड़, धतूरा आदि जिन वस्तुओं से शराब बनती है वे भी शुद्ध ही होती हैं।' ऐसा चिरकाल तक मन में विचार कर उसने शराब पी ली। उसके पीते ही उसका मन चंचल हो उठा। नशेमें मस्त होकर उसने अपनी लंगोटी खोल डाली। और शराब पीकर मत्त हुई भिल्लनियों के गीत के साथ तालियाँ बजा-बजा कर कूदने लगा। उस समय उसकी दशा ऐसी हो गयी मानो उसके शरीर में कोई भूत घुस गया है। उसने अनेक विकृत चेष्टाएँ की और फिर भूख से पीड़ित होकर मांस भी खा लिया। उससे उसे असह्य कामोद्रेक हुआ और उसने भिल्लनी को भी भोगा।

इस विषय में एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है -

हेतुशुद्धः श्रुतेर्वाक्यात्पीतमद्यः किलैकपात् ।

मांसमातङ्गिकासगमकरोन्मूढमानसः ॥277॥

"मद्य को उत्पन्न करने वाली वस्तुओं के शुद्ध होने से तथा वेद में लिखा होने से मूढ़ एकपात ने मद्य पी लिया और फिर उसने मांस भी खाया और भिल्लनी को भी भोगा" ॥277॥

इत्युपासकाध्ययने मद्यप्रवृत्तिदोषदर्शनो नाम द्वाविंशः कल्पः।

इस प्रकार उपासकाध्ययन में मद्य के दोष बतलाने वाला बाईसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

मद्यत्याग के गुण

तेईसवाँ कल्प

ग्रन्थ :

श्रूयतां मद्यनिवृत्तिगुणस्योपाख्यानम्-अशेषविद्यावैशारद्यमदमत्तमनीषिमत्तालिकुलकेलिकमलनाभ्यां वलभ्यां पुरि खात्रचरित्रशीलः करवालः, कपाटोद्धाटनपटुवटुः, महानिद्रासंपादनकुण्ठो धूर्तिलः, परगोपायितद्रविणदेविशारदः शारदः, खरेपटाममविलासः कृकिलास्ववेति पञ्च मलिम्हुँचाः प्रतिपापरस्परप्रीतिप्रपश्चाः स्वव्यवसायसाहसाभ्यामीश्वरशपिरार्थवासिनी भवानीमपि मुकुम्बहल्याश्रयधियं श्रियमपि कात्यायनीलोचनासजनमनमपि हर्तुं समर्थाः, पश्वतोहराणामपि पश्यतोहराः, कृतान्तदूतानामपि कृतान्तदूताः, कदाचिदेकस्यां निशि बेलालोपं वर्षति देवे कालपटलकालकायप्रतिष्ठासु सकलासु काठासु विहितपुरसारापहाराः पुरवाहिरिकोपवने धनं विभजन्तस्तवेदं ममेदमिति विवदमानाः कन्दलमपहाय समानायितमैरेयाः पानगोष्ठीमनुतिष्ठन्तः पूर्याहितकलहकोपोन्मेषकलुषिषणाः यशयष्टि मुशामुष्टि च युद्धं विधाय सर्वेऽपि मनु रन्यत्र धूर्तिलात्। ___ सकिल यथादर्शनसम्भवं महामुनिविलोकनात्स्मिन्नहन्त्येकं व्रतं गृहाति । तत्र च दिने तद्दे शनादासवत्रतमग्रहीत् । तदनु धूर्तिलः समानशीलेषु कश्यवश्यां विनाश लेश्यामात्मसमक्षमुपयुज्य विरज्याजवंजे वादसुखबीजादुत्पाटये च मनोजकुजजटाजालनिवेशमिव केशपाशं चिरत्राय" (?)पर हितजैत्राय समीहांचके! भवति चात्र श्लोकः

मद्यवती धूर्तिल नामक चोर की कथा

(अब मद्य त्याग के लाभ के सम्बन्ध में कथा सुनें)

वलभी नगरी में पाँच चोर रहते थे। उनमें से करवाल नाम का चोर मकानों में सेंध लगाने में कुशल था। वटु दरवाजा खोलने में कुशल था। धूर्तिल महानिद्रा बुलाने में कुशल था। शारद छिपाये हुए धन का स्थान खोज निकालने में कुशल था। और कृकिलास ठग विद्या में निपुण था। पाँचों में परस्पर में बड़ी प्रीति थी। और अपने उद्यम और साहस से वे शिव के अर्धाङ्ग में निवास करने वाली पार्वती को, विष्णु के हृदय में बसने वाली लक्ष्मी को और दुर्गा की आँखों में लगे अंजन को भी चुराने में समर्थ थे। वे चोरों के भी चोर थे और यमराज के दूतों के लिए भी यमराज के दूत थे। एक बार रात में जब जोर से वर्षा हो रही थी और दिशाएँ कज्जल की तरह काली थीं, वे चोर चोरी करके नगर से बाहर एक उद्यान में धनका बटवारा करते थे। और यह मेरा है यह तेरा है कहकर परस्पर में झगड़ रहे थे। झगड़ा बन्द करके उन्होंने

शराब बुलवायी और पीने लगे। झगड़े के कारण उनके मन में क्रोध तो समाया ही हुआ था, शराब पीकर वे परस्पर में मुक्कामुक्की और लटुं-लट्टा करने लगे और धूर्तिल के सिवा सब मर गये। धूर्तिल के यह नियम था कि यदि उसे किसी दिन किसी, महामुनि के दर्शन होते थे तो उस दिन के लिए वह एक व्रत ले लेता था। उस दिन भी उसे महामुनि के दर्शन हुए थे और उसने शराब का व्रत ले लिया था। इसी से वह बच गया। उक्त घटना के बाद शराब के कारण अपने साथियों का विनाश हुआ देखकर धूर्तिल दुःखों के मूल इस संसार से विरक्त हो गया और कामदेव रूपी वृक्ष की जटाओं के समान बालों का लोंच करके परलोक में महित को जीतनेवाले रत्नत्रय की प्राप्ति का इच्छुक हो गया।

उक्त कथा के सम्बन्ध में एक श्लोक है, जिसका भाव इस प्रकार है --

एकस्मिन्बासरे मद्यनिवृत्तधूर्तिलः किल ।

एतदोषारसहायेषु मृतेष्वापदनापदम् ॥278॥

"जब कि मद्यपान के दोष से अन्य साथी चोर मर गये तब एक दिन के लिए शराब का त्याग कर देने से धूर्तिल चोर बच गया" ॥278॥

इत्युपासकाध्ययने मद्यनिवृत्तिगुणनिदानो नाम त्रयोविंशतितमः कल्पः ।

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें मद्यत्याग के गुणों को बतलाने वाला तेईसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

मांस की इच्छा मात्र करने का फल

चौबीसवाँ कल्प

ग्रन्थ :

स्वभाषाशुचि दुर्गन्धमन्यापायं दुरास्पदम् ।

सन्तोऽदन्ति कथं मांसं विपाके दुर्गतिप्रदम् ॥279॥

मांस स्वभाव से ही अपवित्र है, दुर्गन्ध से भरा है, दूसरों की जान ले-लेनेपर तैयार होता है, तथा कसाई के घर-जैसे दुस्थान से प्राप्त होता है। ऐसे मांस को भले आदमी कैसे खाते हैं? ॥279॥

कर्माहत्यमपि प्राणी करोतु यदि चात्मनः ।

हन्यमानविधिन स्यादन्यथा वा न जीवनम् ॥280॥

यदि जिस पशु को मांस के लिए हम मारते हैं, दूसरे जन्म में वह हमें न मारे वा मांस के बिना जीवन ही न रह सके तो प्राणी नहीं करने योग्य पशु-हत्या भले ही करे। किन्तु ऐसी बात नहीं है। मांसके बिना भी मनुष्यों का जीवन चलता ही है ॥280॥

धर्माच्छर्मभुजां धर्मे किन्तु विशेषकारणम् ।

प्रार्थितार्थप्रदं द्वेष्टु को नामामरपावपम् ॥281॥

धर्म से सुख भोगने वाले न जाने धर्म से द्वेष क्यों करते हैं ? इच्छित वस्तु को देने वाले कल्पवृक्ष से कौन द्वेष करता है ॥281॥

अल्पात्यलेशात्सुखं सुष्टु सुधीश्चत्स्वस्य वाञ्छति ।

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥282॥

यदि बुद्धिमान् पुरुष थोड़े से कष्ट से अच्छा सुख प्राप्त करना चाहता है तो जो काम उसे स्वयं बुरे लगे उन कामों को दूसरों के प्रति भी उसे नहीं करना चाहिए ॥282॥

स सुखं सेवमानोऽपि जन्मान्तरसुखाश्रयः ।

यः परानुपघातेन सुखसेवापरायणः ॥283॥

जो दूसरों का घात न करके सुख का सेवन करता है वह इस जन्म में भी सुख भोगता है और दूसरे जन्म में भी सुख भोगता है ॥283॥

(धर्म रत्नाकर के पाठ के अनुसार दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि -- 'जो दूसरों के घात के द्वारा सुख भोगने में तत्पर रहता है वह वर्तमानमें सुख भोगते हुए भी दूसरे जन्म में दुःख भोगता है।' आगे के श्लोक को देखते हुए यही अर्थ विशेष उचित प्रतीत होता है)

स पुमान्ननु लोकेऽस्मिन्नुदके दुःखवर्जितः॥

यस्तदात्वसुखासङ्गान्न मुह्येद्धर्मकर्मणि ॥284॥

जो मनुष्य तात्कालिक सुखोपभोग में आसक्त होकर धर्म-कर्म में मूढ़ नहीं हो जाता अर्थात् धर्म-कर्म करता रहता है, वह इस लोक में और परलोक में दुःख नहीं उठाता ॥284॥

(भावार्थ – धर्मका मतलब केवल पूजा-पाठ कर लेना मात्र ही नहीं है; किन्तु अपने प्रतिदिन के आचरणमें सुधार करना भी है। और वह सुधार है, ऐसे काम न करना जिनसे दूसरों को कष्ट पहुँचता हो। मांस भक्षण एक ऐसी आदत है जो दूसरे प्राणियों की जान लिये बिना व्यवहार में नहीं लायी जा सकती; क्योंकि बिना किसी प्राणी की जान लिये मांस मिल ही नहीं सकता। अतः जरा से जीभ के स्वाद के लिए किसी प्राणी की मृत्यु का कारण बनना किसी भी समझदार आदमी का काम नहीं है। हमारी यदि जरा-सी खाल भी उचट जाती है तो कितनी वेदना होती है। फिर कसाई की छुरी से जिसे काटा जाता है, उसकी तकलीफ का तो कहना ही क्या है? मनुष्य जानता है कि बुराई का फल बुरा है और भलाई का फल भला है। फिर भी वह अपने स्वार्थ के लिए बुराई करने पर उतारू हो जाता है। वह स्वयं तो चाहता है कि मेरे साथ कोई बुरा व्यवहार न करे, मेरी कोई जान न ले, मेरे बच्चों को कोई न सताये, मेरी स्त्री, बहन और बेटीको कोई बुरी निगाह से देखे भी नहीं, मेरा माल-मत्ता कोई चुराये नहीं। किन्तु स्वयं वह दूसरों की जानका ग्राहक बन जाता है, दूसरोंकी बहू-बेटियों को देखकर आवाजें कसता है और मौका मिलते ही दूसरों का माल हड़प कर जाता है। ऐसी स्थिति में उसका यह चाहना कि मेरे साथ कोई बुरा व्यवहार न करे, कैसे ठीक कहा जा सकता है। इसी बुराई को दृष्टि में रखकर ग्रन्थकार कहते हैं कि यदि थोड़े से कष्ट से खूब सुख भोगना चाहते हो तो उसका एक सीधा उपाय यह है कि जो व्यवहार तुम अपने लिए अनुचित समझते हो उसे दूसरों के साथ भी मत करो। अनेक मनुष्य सुख में ऐसे मग्न हो जाते हैं कि उन्हें दीन-दुनिया की सुध ही नहीं रहती। फिर वे अपने सामने किसी को कुछ समझते ही नहीं। ऐसे मदान्ध मनुष्य जीते जी भले ही सुख भोग लें किन्तु मरने पर उनकी दुर्गति हुए बिना नहीं रहती। क्योंकि कहावत है कि 'जब तक तेरे पुण्य का नहीं आता है छोर। अवगुन तेरे माफ़ हैं कर ले लाख करोर'। पुण्य का अन्त आने पर उसकी भी वही दुर्गति होगी जो वह आज दूसरों की करता है। अतः ग्रन्थकार कहते हैं कि जरा से सुख में मग्न होकर उस धर्म-कर्म को मत भूलो जिसका फल सुख के रूप में भोग रहे हो।)

स भूभारः परं प्राणी जीवन्नपि मृतश्च सः।

यो न धर्मार्थकामेषु भवेदन्येसमाश्रयः ॥285॥

जो मनुष्य धर्म, अर्थ और काम में-से एक का भी पालन नहीं करता, वह पृथ्वी का भार है और जीते हुए भी मृत है ॥285॥

स मूर्खः स जडः सोऽशः स पशुश्च पशोरपि।

योऽश्वन्नपि फलं धर्माद्धर्मे भवति मन्दधीः ॥286॥

तथा जो धर्म का फल भोगता हुआ भी धर्माचरण करने में आलस्य करता है वह मूर्ख है, जड़ है, अज्ञानी है और पशु से भी गया बीता है ॥ 286॥

स विद्वान्स महाप्राज्ञः स धीमान्स च पण्डितः।

यः स्वतो वान्यतो वापि नाधर्माय समीहते ॥287॥

और जो न स्वयं अधर्म करता है और न दूसरों से अधर्म कराता है वह विद्वान् है, बड़ा समझदार है, बुद्धिमान् है और पण्डित है ॥287॥

तत्त्वस्य हितमिच्छन्तो मुश्नन्तश्चाहितं मुहुः।

अन्यमांसैः स्वमांसस्य कथं वृद्धिविधायिनः ॥288॥

जो अपना हित चाहते हैं और अहित से बचते हैं वे दूसरों के मांस से अपने मांस की वृद्धि कैसे करते हैं ॥288॥

यत्परत्र करोतीह सुखं वा दुःखमेव वा।

वृद्धये धनवहन्तं स्वस्य तज्जायतेऽधिकम् ॥289॥

जैसे दूसरे को दिया हुआ धन कालान्तर में ब्याज के बढ़ जाने से अपने को अधिक होकर मिलता है वैसे ही मनुष्य दूसरे को जो सुख या दुःख देता है, वह सुख या दुःख कालान्तर में उसे अधिक होकर मिलता है। अर्थात् सुख देने से अधिक सुख मिलता है और दुःख देने से अधिक दुःख मिलता है ॥289॥

मद्यमांसमधुप्रायं कर्म धर्माय चेन्मतम्।

अधर्मः कोऽपरः किं वा भवेद् दुर्गतिदायकम् ॥290॥

यदि मद्य, मांस और मधु का सेवन करना धर्म है तो फिर अधर्म क्या है और कौन दुर्गति का कारण है ? ॥290॥

सधर्मो यत्र नाधर्मस्तत्सुखं यत्र नासुखम् ।

तज्ज्ञानं यत्र नाशानं सा गतिर्यत्र नागतिः ॥291॥

धर्म वही , है जिसमें अधर्म नहीं है । सुख वही है जिसमें दुःख नहीं है। ज्ञान वही है जिसमें अज्ञान नहीं . है और गति वही है जहाँ से लौटकर आना नहीं है ॥291॥

स्वकीयं जीवितं यद्वत्सर्वस्य प्राणिनः प्रियम् ।

तदेतत्परस्यापि ततो हिंसां परित्यजेत् ॥292॥

जिस प्रकार सभी प्राणियों को अपना जीवन प्रिय है उसी तरह दूसरों को भी अपना जीवन प्रिय है । इसलिए हिंसा को छोड़ देना चाहिए ॥ 292॥

मांसादिषु दया नास्ति न सत्यं मद्यपायिषु ।

आनुशंस्थं न मत्र्येषु मधूदुम्बरसेविषु ॥293॥

जो मांस खाते हैं उनमें दया नहीं होती। जो शराब पीते हैं वे सच नहीं बोल सकते । और जो मधु और उदुम्बर फलोंका भक्षण करते हैं उनमें रहम नहीं होता ॥293॥

मधु के दोष मधु

मक्षिकामर्मसंभूतबालाण्डविनिपीडनात् ।

जातं मधु कथं सन्तः सेवन्ते कललाकृति ॥294॥

उद्भ्रान्तार्मकगर्भेऽस्मिन्नण्डजाण्डकखण्डवत् ।

कुतो मधु मधुच्छत्रे व्याधलुब्धकजीवितम् ॥295॥

मक्खियों के अण्डों के निचोड़ने से पैदा हुए मधु का, जो रज और वीर्य के मिश्रण के समान है, सज्जन पुरुष कैसे सेवन करते हैं ? ॥

294॥ मधु का छत्ता व्याकुल शिशु के गर्भ की तरह है और अण्डे से उत्पन्न होने वाले जन्तुओं के छोटे-छोटे अण्डों के टुकड़ों के जैसा है।

भील लोधी वगैरह हिंसक मनुष्य उसे खाते हैं। उसमें माधुर्य कहाँ से आया ? ॥295॥

उदुम्बर फल की बुराईयाँ

अश्वत्थोदुम्बरप्लान्यग्रोधादिफलेष्वपि ।

प्रत्यक्षाः प्राणिनः स्थूलाः सूक्ष्माश्चाममगोचराः ॥296॥

पीपल, उदुम्बर जिसे जन्तुफल भी कहते हैं, पाकर और वट वृक्ष वगैरह के फलों में स्थूल जन्तु रहते हैं जो प्रत्यक्ष दिखायी देते हैं। इनके सिवा सूक्ष्म जन्तु भी उनमें पाये जाते हैं जो शास्त्रों के द्वारा जाने जा सकते हैं ॥296॥

मद्यादिक का सेवन करने वालों से बचो

मद्यादिस्वादिगेहेषु पानमन्त्रं च नाचरेत् ।

तदमन्त्रादिसंपर्कं न कुर्वीत कदाचन ॥297॥

कुर्वन्वतिमिः सार्धं संसर्गं भोजनादिषु ।

प्राप्नोति वाच्यतामत्र परत्र च न सत्फलम् ॥298॥

दृतिप्रायेषु पानीयं स्नेहं च कुतुपादिषु ।

व्रतस्थो वर्जयेन्नित्यं योषितश्चावतोचिताः ॥299॥

मद्य मांस वगैरह का सेवन करने वाले लोगों के घरों में खान-पान भी नहीं करना चाहिए । तथा उनके बरतनों को कभी भी काम में नहीं लाना चाहिए ॥297॥ जो मनुष्य मद्य आदि का सेवन करनेवाले पुरुषों के साथ खान-पान करता है उसकी यहाँ निन्दा होती है और परलोक में भी उसे अच्छे फलकी प्राप्ति नहीं होती ॥298॥ व्रती पुरुष को चमड़े की मशकका पानी, चमड़े के कुप्पों में रखा हुआ घी,

तेल और मद्य, मांस आदि का सेवन करनेवाली स्त्रियों को सदा के लिए छोड़ देना चाहिए ॥299॥

(भावार्थ – छोटी से-छोटी बुराई से बचने के लिए बड़ी सावधानी रखनी होती है। फिर आज तो मद्य, मांस का इतना प्रचार बढ़ता जाता है कि उच्च कुलीन पढ़े-लिखे लोग भी उनसे परहेज नहीं रखते। अंग्रेजी सभ्यता के साथ अंग्रेजी खान-पान भी भारत में बढ़ता जाता है। और अंग्रेजी खान-पान की जान मद्य और मांस ही हैं। प्रायः जो लोग शाकाहारी होते हैं उनका भोजन भी रेल्वे वगैरह हमें मांसाहारियों के भोजनके साथ ही पकाया जाता है। उसी में-से मांस को बचाकर शाकाहारियों को खिला देते हैं। जो लोग पार्टियों वगैरह में शरीक होते हैं उनमें से कोई-कोई सभ्यता के विरुद्ध समझकर जो कुछ मिल जाता है उसे ही खा आते हैं। इस तरह संगति के दोष से बचे-खुचे शाकाहारी भी मांसादिक के स्वाद से नहीं बच पाते और ऐसा करते-करते उनमें से कोई-कोई मांसाहार करने लग जाते हैं। अंग्रेजी दवाइयों का तो कहना ही क्या है, उनमें भी मद्य वगैरह का सम्मिश्रण रहता है। पौष्टिक औषधियों और तथोक्त विटामिनों को न जाने किनकिन पशु-पक्षियों और जलचर जीवों तक के अवयवों और तेलों से बनाया जाता है। फिर भी सब खुशी-खुशी उनका सेवन करते हैं। ओवल्टीन नाम के पौष्टिक खाद्य में अण्डे डाले जाते हैं फिर भी जैन-घरानों तक में उसका सेवन छोटे और बड़े करते हैं। यह सब संगति दोष का ही कुफल है। उसी के कारण बुरी चीजों से घृणा का भाव घटता जाता है और धीरे-धीरे उनके प्रति लोगों की अरुचि टूटती जाती है। इन्हीं बुराइयों से बचने के लिए आचार्यों ने ऐसे स्त्री-पुरुषों के साथ रोटी-बेटी व्यवहार का निषेध किया है जो मद्यादिक का सेवन करते हैं। जैनाचार को बनाये रखने के लिए और अहिंसा धर्म को जीवित रखने के लिए यह आवश्यक है कि जैन धर्म का पालन करने वाले कम से-कम अपने खान-पानमें दृढ़ बने रहें। यदि उन्होंने भी देखा-देखी शुरू की और वे भी भोग-विलास के गुलाम बन गये तो दुनिया को फिर अहिंसा-धर्म का सन्देश कौन देगा ? कौन दुनिया को बतायेगा कि शराव का पीना और मांस का खाना मनुष्य को बर्बर बनाता है और बर्बरता के रहते हुए दुनिया में शान्ति नहीं हो सकती। अतः जैसे सफेदपोश बदमाशों से बचे रहने में ही कल्याण है वैसे ही सभ्य कहे जाने वाले पियक्कड़ों और गोशतखोरों के साथ खान-पान का सम्बन्ध न रखने में ही सबका हित है। ऐसा करने से आप प्रतिगामी, कूढ़मगज या दकियानूसी भले ही कहलावें किन्तु इस की परवाह न करें। आप दृढ़ रहेंगे तो दुनिया आप की बात की कदर करने लगेगी। किन्तु यदि आप ही अपना विश्वास खो बैठेंगे और क्षण-भर की वाहवाही में बह जायेंगे तो न अपना हित कर सकेंगे और न दूसरों का हित कर सकेंगे। मधु भी मद्य और मांस का ही भाई है। कुछ लोग आधुनिक ढंग से निकाले जाने वाले मधु को खाद्य बतलाते हैं। किन्तु ढंग के बदलने मात्र से मधु खाद्य नहीं हो सकता। आखिर को तो वह मधु-मक्खियों का उगाल ही है।)

मांस, और अन्न, दूध वगैरह में अन्तर

जीवयोगाविशेषेण मैयमेषादिकायवत् ।

मुद्गमाषादिकायोऽपि मांसमित्यपरे जगुः ॥300॥

कुछ लोगों का कहना है कि मूंग, उड़द वगैरह में और ऊँट, मेढ़ा वगैरह में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि जैसे ऊँट, मेढ़ा वगैरह के शरीर में जीव रहता है वैसे ही मूंग उड़द वगैरह में भी जीव रहता है। दोनों ही जीव के शरीर हैं। अतः जीव का शरीर होने से मूंग, उड़द वगैरह भी मांस ही हैं ॥300॥

तवयुक्तम् तदाह

तथा जैसे

मांस जीवशरीरं जीवशरीरं भवेन वा मांसम् ।

यद्वनिम्बो वृक्षो वृक्षस्तु भवेन वा निम्बः ॥301॥

किन्तु उनका ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि मांस जीव का शरीर है यह ठीक है। किन्तु जो जीव का शरीर है वह मांस होता भी है और नहीं भी होता। जैसे, नीम वृक्ष होता है किन्तु वृक्ष नीम होता भी है और नहीं भी होता ॥301॥

बिजाण्डजनिहन्त्रणां यथा पार्प विशिष्यते ।

जीवयोगाविशेषेऽपि तथा फलपलाशिनाम् ॥302॥

जैसे ब्राह्मण और पक्षी दोनों में जीव है फिर भी पक्षी को मारने की अपेक्षा ब्राह्मण को मारने में अधिक पाप है। वैसे ही फल भी जीव का शरीर है और मांस भी जीव का शरीर है, किन्तु फल खाने वाले की अपेक्षा मांस खानेवाले को अधिक पाप होता है ॥302॥

स्त्रीत्वपेयत्वसामान्याहारवारिवदीहताम् ।

एष वादी वदन्नेवं मधमातृसमागमे ॥303॥

तथा जिसका यह कहना है कि फल और मांस दोनों ही जीव का शरीर होने से बराबर हैं उसके लिए पत्नी और माता दोनों स्त्री होने से समान हैं और शराब तथा पानी दोनों पेय होने से समान हैं । अतः जैसे वह पानी और पत्नी का उपभोग करता है वैसे ही शराब और माता का भी उपभोग क्यों नहीं करता ? ॥303॥

शुद्धं दुग्धं न गोर्मासं वस्तुवैचित्र्यमीदृशम् ।

विषघ्नं रत्नमाहेयं विषं च विपदे यतः ॥304॥

गौ का दूध शुद्ध है किन्तु गोमांस शुद्ध नहीं है। वस्तु का वैचित्र्य ही इस प्रकार है । देखो, साँप की मणि से विष दूर होता है, किन्तु साँप का विष मृत्यु का कारण है ॥304॥

अथवा

हेयं पलं पयः पेयं समे सत्यपि कारणे ।

विषद्रोरायुषे पत्रं मूलं तु मृतये मतम् ॥305॥

अथवा, मांस और दूध का एक कारण होने पर भी मांस छोड़ने योग्य है और दूध पीने योग्य है । जैसे कारस्कर नामके विष वृक्ष का पत्ता आयुर्वर्धक होता है और उसकी जड़ मृत्यु का कारण होती है ॥305॥

अपि च

और भी कहते हैं -

शरीरावयवत्वेऽपि मांसे दोषो न सपिषि ।

जिह्वावन्न हि दोषाय पादे मद्यं द्विजातिषु ॥306॥

मांस भी शरीर का हिस्सा है और घी भी शरीर का ही हिस्सा है फिर भी मांसमें दोष है, घी में नहीं । जैसे ब्राह्मणों में जीभ से शराबका स्पर्श करने में दोष है पैर में लगाने पर नहीं ॥306॥

विधिशेत्केवलं शुद्धथै द्विजैः सर्वे निषेव्यताम् ।

शुद्धयै चेत्केवलं वस्तु भुज्यतां श्वपचालये ॥307॥

यदि विधि से ही वस्तु शुद्ध हो जाती तो ब्राह्मणों के लिए कोई वस्तु असेव्य रहती ही नहीं । और यदि केवल वस्तुकी शुद्धि ही अपेक्षित है तो चाण्डाल के घर पर भी भोजन कर लेना चाहिए ॥307॥

तद्रव्यदातपात्राणां विशुद्धौ विधिशुद्धता ।

यत्संस्कारशतेनापि नाजातिद्विजतां व्रजेत् ॥308॥

अतः द्रव्य, दाता और पात्र तीनों के शुद्ध होनेपर ही शुद्ध विधि बनती है। क्योंकि सैकड़ों संस्कार करने पर भी शूद्र ब्राह्मण नहीं हो सकता ॥308॥

तच्छाक्यसांख्यचार्वकवेदवैद्यकपर्दिनाम् ।

मतं विहाय हार्तव्यं मांसं श्रेयोऽर्थिभिः सदा ॥309॥

इसलिए जो अपना कल्याण चाहते हैं उन्हें बौद्ध, सांख्य, चार्वाक, वैदिक और शैवों के मतों की परवाह न करके मांस का त्याग कर देना चाहिए ॥309॥

यस्तु लौल्येन मांसाशी धर्मधीः स द्विपातकः।

परदारक्रियाकारी मात्रा सत्रं यथा नरः ॥310॥

जैसे जो परस्त्रीगामी पुरुष अपनी माता के साथ सम्भोग करता है वह दो पाप करता है, एक तो परस्त्री गमन का पाप करता है और दूसरे माता के साथ सम्भोग करने का पाप करता है। वैसे ही जो मनुष्य धर्म बुद्धि से लालसापूर्वक मांस भक्षण करता है वह भी डबल पाप करता है। एक तो वह मांस खाता है दूसरे धर्म का ढोंग रचकर उसे खाता है ॥310॥

(भावार्थ – जो व्यक्ति या धर्म मांसाहार को उचित ठहराते हैं वे उसके समर्थन में अनेक कुयुक्तियाँ देते हैं। उन्हीं का निर्देश तथा परीक्षण ग्रन्थकार ने ऊपर किया है। जीव का शरीर होने मात्र से मांस को अभक्ष्य नहीं बतलाया गया है, किन्तु एक तो किसी पञ्चेन्द्रिय जीव को काटे बिना मांस उत्पन्न नहीं होता। दूसरे वह अत्यन्त तामसिक भोजन है। दूध, फल वगैरह में यह बात नहीं है। वे पशुओं और वृक्षों को बिना हानि पहुँचाये प्राप्त किये जा सकते हैं तथा उनके खाने से चित्तमें सात्त्विकता आती है। कहा जा सकता है कि यदि स्वयं मरे हुए जीव का मांस प्राप्त हो जाये तो क्या हानि है? इसका समाधान यह है कि यद्यपि इससे शुरू में किसी जीवका घात नहीं होगा किन्तु आगे मांस खाने का चक्का लग जाने से दूसरे लोगों के द्वारा मारे गये पशु के मांसमें भी प्रवृत्ति होने लगेगी। जैसे बौद्ध धर्म में त्रिकोटि परिशुद्ध मांस के ग्रहण कर लेने का विधान है तो तिब्बत के लामाओं के लिए शहर से दूर पशु मारे जाते हैं और उनका मांस वह ग्रहण कर लेते हैं। दूसरे, मांस में भी एकेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति होने लगती है तीसरे, मृत पशु का मांस खानेपर भी तामसिकपना तो बना ही रहता है। वह तो मांसमात्रका धर्म है। अतः मांसाहार और दुग्ध तथा फलाहार समान नहीं हो सकता। हिन्दू धर्म में यज्ञ के प्रसाद के तौर पर मांस के ग्रहण का विधान कुछ ग्रन्थों में मिलता है। किन्तु जो चीज स्वभाव से ही अशुद्ध है, मन्त्रादिक के द्वारा उसे शुद्ध नहीं किया जा सकता। यदि मंत्रों के द्वारा स्वभाव से ही अशुद्ध वस्तुएँ भी शुद्ध हो सकती हैं तो फिर तो संसार में अभक्ष्य कुछ रहेगा ही नहीं। अतः यज्ञादिक में मन्त्रपाठ पूर्वक पशु का बलिदान करके उसका मांस खाना भी निरामिषभोजियों के लिए उचित नहीं है। मांस खाना तो बहुत दूर है उसका इरादा करना भी बुरा है। मांस खाने के संकल्पमात्र से भी जो पाप होता है उसके फलके सम्बन्धमें एक कथा है उसे सुनें -)

मांसभक्षण संकल्पी राजा सौरसेन की कथा

श्रूयतामत्र मांसाशानाभिधानमात्रस्यापि पातकस्य फलम्-श्रीमत्पुष्पदन्तभदन्तावतारावतीर्णत्रिदिवपतिसंपादितोयोवेन्दिरासन्यां काकन्यां पुरि श्रावकान्वयसंभूतिः सौरसेनो नाम नृपतिः कुलधर्मानुरोधबुद्ध्या गृहीतपिशितव्रतः पुनर्वेदवैद्याद्वैतमतमोहितमतिः

संजातजाङ्गलजिधित्सानुमतिरङ्गीकृतवस्तुनिर्वहणाजनापवादाज्जुगुप्समानो मनोविश्रान्तिहेतुना कर्मप्रियनामकेतुना बल्लेवेन रहसि बिलस्थलजलान्तरालचरतरसमानार्ययन्नप्यनेकराजकार्यपर्याकुलमानसतया मांसभक्षणक्षणं नावाप। कर्मप्रियोऽपि तथा

पृथिवीश्वरनिदेशमनुदिनमनुतिष्ठन्नेकदा पृदाकुपाकोपद्वतः प्रेत्य स्वयम्भूरमणाभिधानमुद्रे समुद्रे महादेहबलस्तिमिशिलगिलो बभूव।

भूपालोऽपि चिरकालेन कथाशेषतामाश्रित्य पिशिताशनाशयानुबन्धात्तत्रैव सिन्धौ तस्यैव महामीनस्य कर्णबिले तन्मलाशेनशीलः

शालिसिक्थंकलकलेवरः शफरोऽभूत्। तदन्वेष पर्याप्तोभयकरणस्तस्य वदनं व्यादाय निद्रायतो गलगुहावगाहे वेलानदीप्रवाह इवानेकं

जलचरानीकं प्रविश्य तथैव निकामन्तं निरीक्ष्य 'पापकर्मा निर्भाग्याणां चाग्रणीधर्मा खल्वेष भषो यद्वक्रसंपातरतचेतांस्यपि न शक्नोति

अशितुं यादांसि। मम पुनर्यदि हृदयेऽस्मिन्प्रभावाद्वादेतावन्मानं गात्रं स्यातदा समस्तमपि समुद्रं विद्रुतसकलसत्त्वसंचारमुद्रं विदधामि'

इत्यभिधानादल्पकायकर्लः शकुलो निखिलनकचक्रचाराधे महादेहाधीनो मीनः कालेन विद्योत्पद्य चोत्तमतस्त्रयरिंशत्सागरोपमायुनिलये

निरये भवप्रत्ययायत्ताविर्भूतक्षानविशेषौ तावनिमिषचरौ नारकपर्यायधरौ किलैवमालापं चक्रतुः- 'अहो खुद्रमत्स्य, तथा निर्मितकर्मणो

दुष्कर्मणो ममाभागतिरुचितैव। तव तु मत्कर्णविले मलोपजीवनस्य कथमत्रागमनमभूत्? हे महामत्स्य, चेष्टितादपि

दुरन्तदुःखसंबन्धनिबन्धनादशुभध्यानात्।' भवति चात्र श्लोकः

भगवान् पुष्पदन्त के जन्मोत्सव से पवित्र काकन्दी नगरी में श्रावककुलोत्पन्न सौरसेन नाम का राजा राज्य करता था। उसने अपना कुल

धर्म समझकर मांस खाने का त्याग कर दिया था। बाद में कुछ वैदिकों, वैद्यों और शैवों के कहनेसे उसे मांस खाने की रुचि उत्पन्न हुई।

किन्तु की हुई प्रतिज्ञा को न निबाहने के लोकापवाद से वह डरता था। उसका कर्मप्रिय नाम का रसोइया एकान्त में अनेक जलचर, थलचर

और बिलों में रहनेवाले जन्तुओं का मांस तैयार करता था किन्तु अनेक राजकार्यों में घिरे रहने से उसे मांस खाने के लिए एकान्त समय

नहीं मिलता था।

इस प्रकार कर्म प्रिय राजा की आज्ञा के अनुसार प्रतिदिन मांस पकाता था। एक दिन उसने साँप का मांस पकाया और उसी के जहर से

मरकर वह स्वयंभू रमण नाम के समुद्र में विशालकाय तिमिङ्गल नाम का महामत्स्य हुआ। कुछ काल के बाद राजा भी मरकर मांस खाने

के संकल्प के कारण उसी समुद्र में उसी महामत्स्य के कानमें उसका मैल खाने वाला मत्स्य हुआ, जिसका शरीर शाली चावलके बराबर

था। महामत्स्य मुँह खोलकर सोता रहता था और उसके गुफा के समान गहरे गले में नदी के प्रवाह की तरह जलचर जीवों की सेना

घुसकर जीवित निकल आती थी। उसे देखकर तन्दुल मत्स्य सोचता- 'यह मत्स्य बड़ा पापी और अभागों में भी सबसे बड़ा अभाग है, जो

अपने मुँहमें स्वयं ही आने वाले मत्स्यों को भी नहीं खा सकता। यदि हार्दिक इच्छा के प्रभाव से दैववश मेरा इतना बड़ा शरीर हो जाये तो मैं समस्त समुद्र को जलचर जीवों से शून्य कर दूँ।'

इस संकल्पसे अल्पकाय तन्दुल मत्स्य और समस्त मगरमच्छों को खानेसे महाकाय महामत्स्य मरकर सातवें नरक में तेतीस सागर की उत्कृष्ट आयु लेकर उत्पन्न हुए। उन दोनों को भवप्रत्यय नामका कुअवधि ज्ञान था। उसके द्वारा पूर्वजन्म का वृत्तान्त जानकर वे दोनों नारकी आपस में कहते-'तन्दुलमत्स्य ! मैंने बड़ा पाप किया इसलिए मेरा यहाँ आना तो उचित ही था। किन्तु तुम तो मेरे कान के बिल में कान का मैल ही खाया करते थे। तुम यहाँ कैसे आये ?' तब तन्दुल मत्स्य उत्तर देता - 'तुम्हारे कर्म से भी बुरे, महादुःखके कारण अशुभ ध्यान से मरकर मैं यहाँ पैदा हुआ हूँ।'

इस विषयमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है

क्षुद्रमत्स्यः किलैकस्तु स्वयम्भूमणोदधौ ।

महामत्स्यस्य कर्णस्थः स्मृतिदोषादधो गतः ॥311॥ -वरांगचरित 5,103

स्वयंभूरमण समुद्र में महामत्स्य के कान में रहने वाला तन्दुलमत्स्य बुरे संकल्प से नरक में गया ॥311॥

इत्युपासकाध्ययने मांसाभिलाषमात्रफलप्रलपनो नाम चतुर्विंशतितमः कल्पः ।

इस प्रकार उपासकाध्ययन में मांस की इच्छा मात्र करने का फल बतलानेवाला चौबीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

मांस त्याग का फल

पचीसवाँ कल्प

ग्रन्थ :

(अब मांस त्याग के फल के सम्बन्ध में एक कथा कहते हैं, उसे सुनें)

मांस त्यागी चाण्डाल की कथा

श्रूयतामत्र मांसनिवृत्तिफलस्योपाख्यानम्-अवन्तिमण्डलनलिनाभिनिवाससरस्यामेकानस्यां पुरि पुरबाहिरिकायां

देविलामहिलाविलासविशिखवृत्तिकोदण्डस्य चण्डनाम्नो मातङ्गस्यैकस्यां दिशि निवेशितपिशितोपदंशस्यापरस्यां दिशि

विन्यस्तसुरासंभृतकलशस्य तां पलावदंशोदारां सुरां पायं पायं तदुभयान्तराले चर्मनिर्माणतन्त्रां वरत्रां। वर्तयतो

वियनिहारोडीनाण्डजडिम्भतुण्डखण्डनविनिष्पन्दिषधरविषदोषावसरा सुरासीत्। अत्रैवावसरे तत्समीपवर्त्मगोचरे

धर्मश्रवणजन्मान्तरादिप्रकाशनपथाभिः कथाभिर्विनेयजनोपकाराय

कृतकामचारप्रचारमम्बरान्मूर्तिमत्स्वर्गापवर्गमार्गयमलमिवावतरचारणर्षियुगलमवलोक्य संजातकुतूहलस्तं देशमनुगम्य नगरे तदर्शनेन

श्रावकलोकं व्रतानि समाददानमनुस्मृत्य समाचरितप्रणामः सुनन्दनाग्रेसरगमनमभिनन्दनं भगवन्तमात्मोचितं व्रतमयाचत ।

भगवानपि -

अवन्तिदेश की उज्जयिनी नाम की नगरी में नगर के बाहर चण्ड नाम का एक चाण्डाल रहता था । एक दिन वह चाण्डाल मौज ले रहा था।

उसके एक ओर मांस के व्यंजन रखे हुए थे। दूसरी ओर शराब से भरे कलश रखे थे । चाण्डाल मांस के व्यंजनों के साथ शराब पीता जाता

था और बीच-बीच में चमड़े की रस्सी बटता जाता था। आकाश में उड़ते हुए एक पक्षी शावक का मुँह खुल जाने से एक सर्प शराब में आ

गिरा था और उससे शराब विषैली हो गयी थी। इसी समय धर्मोपदेश तथा जन्मान्तर की कथाओं के द्वारा लोगों का उपकार करने के लिए

भ्रमण करते हुए दो चारण ऋद्धि के धारी मुनियों को पास में ही आकाशसे उतरते हुए देखकर चाण्डाल को बड़ा कुतूहल हुआ। वह भी

उनके समीप गया। वहाँ नगरके श्रावकों को व्रत ग्रहण करते हुए देखकर उसने उन्हें प्रणाम किया और सुनन्दन मुनि के अग्रवर्ती भगवान्

अभिनन्दन मुनि से अपने योग्य व्रतकी याचना की।

उपकाराय सर्वस्य पर्जन्य इव धार्मिकः ।

तत्स्थानास्थानचिन्तेयं वृष्टिवन्न हितोक्तिषु ॥312॥

जैसे मेघ सबके उपकार के लिए है वैसे ही धार्मिक पुरुष भी सबके उपकार के लिए हैं । और जैसे स्थान और अस्थान का विचार किये

बिना मेघ सर्वत्र बरसता है वैसे ही धार्मिक पुरुष भी हित की बात कहने में स्थान और अस्थान का विचार नहीं करते॥३१२॥

इत्यवगम्य सम्यगवधिबोधोपयोगादवंगतैतदासनपरासुतायोगस्तन्मातरमेवमवोचत्'अहो मातङ्ग, तदुभयान्तरालसज्जां रज्जुं सृजतस्तन्मध्ये तव तन्निवृत्तिव्रतम्' इति । मातङ्गस्तथा प्रतिपद्योपसंघं च तमवकोशं पिशितं प्राश्य 'यावदहमिदं स्थानकं नायामि तावन्मेऽस्य निवृत्तिः' इत्यभिधाय समासादितमदिरास्थानः प्रतिपन्नपानस्तदुग्रतरगरभरालघुलवित्तमतिप्रसरस्तन्निवृत्तिमलभमानचित्तोऽपि प्रेत्ये तावन्मात्रवतमाहात्म्येन यत्कुले यक्षमुख्यत्वं प्रतिपेदे। भवति चात्र श्लोकः --

और जैसे स्थान और अस्थान का विचार किये बिना मेघ सर्वत्र बरसता है वैसे ही धार्मिक पुरुष भी हित की बात कहने में स्थान और अस्थान का विचार नहीं करते॥३१२॥' ऐसा सोचकर भगवान् अभिनन्दन मुनिने अवधिज्ञान से जाना कि यह चाण्डाल जल्द ही मरने वाला है। अतः वे उससे बोले-'भाई चाण्डाल ! मांस खाने और शराब पीने के बीच में जितनी देर तुम रस्सी बाँटो उतनी देर के लिए तुम मांस और शराब का त्याग कर दो'।

चाण्डाल ने इस बात को स्वीकार कर लिया। और वहाँ से चलकर अपने स्थान पर आया। मांस के पास जाकर उसने मांस खाया और संकल्प किया कि जब तक फिर मैं इस स्थान पर नहीं आऊँगा तब तक के लिए मेरे मांस का त्याग है। इसके बाद वह शराब के पास गया और वहाँ उसने शराब पी। पीते ही तीव्र जहरके प्रभाव से उसकी बुद्धि कुण्ठित हो गयी। अतः यद्यपि वह उसका त्याग नहीं कर सका फिर भी मरकर उतने ही व्रत के प्रभाव से यक्षकुल में प्रधान यक्ष हुआ।

इस विषय में एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है -

चण्डोऽवन्तिषु माता पिशितस्य निवृत्तिः ।

अत्यल्पकालभाविन्याः प्रपेदे यक्षमुख्यताम् ॥313॥

अवन्ति देशमें चण्ड नाम का नाण्डाल बहुत थोड़ी देर के लिए मांस का त्याग कर देने से मरकर यक्षों का प्रधान हुआ ॥313॥

इत्युपासकाध्ययने मांसनिवृत्तिफलाख्यानो नाम पञ्चविंशतितमः कल्पः ।

इस प्रकार उपासकाध्ययन में मांस त्याग के फल को कहने वाला पचीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

अहिंसा का फल

छब्बीसवाँ कल्प

ग्रन्थ :

श्रावकों के उत्तरगुण

अथ के ते उत्तरगुणाः

अब श्रावकों के उत्तरगुण बतलाते हैं-

अणुव्रतानि पञ्चैव त्रिप्रकारं गुणवतम् ।

शिक्षाव्रतानि चत्वारि गुणाः स्युर्द्वादशोत्तरे ॥314॥

पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये बारह उत्तरगुण हैं ॥314॥

तत्र

हिंसास्तेयानृताब्रह्मपरिग्रहविनिग्रहाः।

एतानि देशतः पञ्चाणुव्रतानि प्रचक्षते ॥315॥

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहका एक देश त्याग करनेको पाँच अणुव्रत कहते हैं ॥315 ॥

व्रत का लक्षण

संकल्पपूर्वकः सेव्ये नियमो व्रतमुच्यते॥

प्रवृत्तिविनिवृत्ति वा सदसत्कर्मसंभवे ॥316॥

सेवनीय वस्तु का इरादापूर्वक त्याग करना व्रत है। अथवा अच्छे कार्यों में प्रवृत्ति और बुरे कार्यों से निवृत्ति को व्रत कहते हैं ॥316॥

(भावार्थ - किसी वस्तु के सेवन न करने का नाम व्रत नहीं है किन्तु उसका बुद्धिपूर्वक त्याग करके सेवन न करना व्रत कहलाता है,

क्योंकि किसी वस्तु के सेवन नहीं करने में तो अनेक कारण हो सकते हैं। कोई अच्छी न लगने के कारण किसी वस्तु का सेवन नहीं

करता। कोई न मिलने के कारण किसी वस्तु का सेवन नहीं करता। कोई स्वास्थ्य के अनुकूल न होने के कारण किसी वस्तु का सेवन नहीं करता। कोई बदनामी के भय से किसी वस्तु का सेवन नहीं करता। किन्तु यदि वह वस्तु उसे अच्छी लगने लगे, या बाजार में मिलने लगे, या स्वास्थ्यके अनुकूल पड़ने लगे या बदनामी का भय जाता रहे तो वह उस वस्तु को तुरन्त सेवन करने लगेगा। परन्तु जो किसी वस्तु के सेवन न करने का नियम ले लेता है वह अपने नियमकाल तक किसी भी अवस्था में उस वस्तुका सेवन नहीं करता। अतः केवल सेवन न करने का नाम व्रत नहीं है बल्कि समझ-बूझकर त्याग कर देनेका नाम व्रत है।)

पाँचों पापों में बुराई

हिंसायामनृते चौर्यामब्रह्मणि परिग्रहे।

दृष्टा विपत्तिरत्रैव परत्रैव च दुर्गतिः ॥317॥

हिंसा करने, झूठ बोलने, चोरी करने, कुशील सेवन करने और परिग्रह का संचय करने से इसी लोक में मुसीबत आती देखी जाती है और परलोक में भी दुर्गति होती है ॥317॥

(भावार्थ – भारतीय कोड में जिन जुर्मों के लिए सजा देने का विधान है वे सब जुर्म प्रायः इन पाँच पापों में ही सम्मिलित हैं। हिंसा करने से फाँसी तक हो जाती है। झूठी बात कहने, झूठी गवाही देने से जेलकी हवा खानी पड़ती है। चोरी करने से भी यही दण्ड भोगना पड़ता है। दुराचार करने से जेलखाने की साथ-ही-साथ बेटों की भी सजा मिलती है। और अनुचित तरीके से ज्यादा सामग्री इकट्ठी कर लेने पर भी सजा का भय बना ही रहता है। तथा परिग्रही को चोरों का डर भी सताता रहता है, इसके कारण वह रात को आराम से सो भी नहीं पाता। जब इसी लोक में इन पाँच पापों के कारण इतनी विपत्ति उठानी पड़ती है तब परलोक का तो कहना ही क्या है।)

अहिंसा

(अब अहिंसा धर्मका वर्णन करते हैं-)

यत्स्यात्प्रमादयोगेन प्राणिषु प्राणहापनम् ।

सा हिंसा रक्षणं तेषामहिंसा तु सतां मता ॥318॥

प्रमाद के योग से प्राणियों के प्राणों का घात करना हिंसा है और उनकी रक्षा करना अहिंसा है ॥318॥

विकथाक्षकषायाणां निद्रायाः प्रणयस्य च ।

अभ्यासाभिरतो जन्तुः प्रमत्तः परिकीर्तितः ॥319॥

जो जीव 4 विकथा, 4 कषाय, 5 इन्द्रियाँ, निद्रा और मोह के वशीभूत है उसे प्रमादी कहते हैं ॥319॥

(भावार्थ – प्रमादके पन्द्रह भेद हैं- 4 विकथा, 4 कषाय, 5 इन्द्रियाँ, एक निद्रा और एक मोह। विकथा खोटी कथा को कहते हैं जैसे स्त्रियों की चर्चा करना, भोजन की चर्चा करना, चोरों की चर्चा करना, ये चर्चाएँ प्रायः कामुकता और मनोविनोद के लिए की जाती हैं और उनसे लाभ के बजाय हानि होती है। अतः जो मनुष्य इस प्रकार की चर्चाओं में रस लेता है वह प्रमादी है। क्रोध, मान, माया और लोभ को कषाय कहते हैं। जो क्रोध करता है, मान करता है, मायाचार करता है या लोभी है वह तो प्रमादी है ही, क्योंकि ऐसा आदमी कभी भी अपने कर्तव्य के प्रति सावधान नहीं रह सकता। इसी तरह जो पाँचों इन्द्रियों का दाग है उन्हीं की तृप्ति में लगा रहा है वह भी प्रमादी है। ऐसे लोग किसी का घात करते हुए नहीं सकुचाते। यही बात निद्रा और मोह के सम्बन्ध में जाननी चाहिए। अतः प्रमादके योग से जो प्राणों का घात किया जाता है वह हिंसा है किन्तु जहाँ प्रमाद नहीं है वहाँ किसी का घात हो जाने पर भी हिंसा नहीं कहलाती है। इसका खुलासा पहले कर आये हैं।)

देवतातिथिपित्रर्थ मन्त्रौषधभयाय वा।

न हिंस्यात्प्राणिनः सर्वानहिंसा नाम तद्व्रतम् ॥320॥

देवता के लिए, अतिथि के लिए, पितरों के लिए, मंत्र की सिद्धि के लिए, औषधि के लिए, अथवा भय से सब प्राणियों की हिंसा नहीं करनी चाहिए। इसे अहिंसा व्रत कहते हैं ॥320॥

(भावार्थ – मनुस्मृति के तीसरे अध्याय में मांस से- श्राद्ध करने का विधान है तथा यह भी बतलाया है कि किस मांस से श्राद्ध करने से कितने दिन तक पितृ लोग तृप्त रहते हैं। पाँचवें अध्याय में यज्ञ के लिए पशुवध करने का तथा मांस खाने का विधान है। उत्तर रामचरित में

लिखा है कि जब वशिष्ठ ऋषि वाल्मीकि ऋषि के आश्रम में पहुंचे तो उनके आतिथ्य-सत्कार के लिए वाल्मीकि ऋषि ने गाय की बछिया का वध करवाया। ये सब कार्य हिंसा ही हैं। इसी तरह की बातों को देखकर ग्रन्थकार ने देवता वगैरह के लिए पशुघात करने का निषेध किया है। आश्चर्य है कि धर्म के नाम पर भी हिंसा का पोषण किया गया है। जब कि हिंसा से बड़ा कोई धर्म नहीं है। इसी तरह दवाई के लिए भी किसी का घात नहीं करना चाहिए, क्योंकि अपने जीवन की रक्षा के लिए दूसरों के जीवन को नष्ट कर देने का हमें क्या अधिकार है ?)

पानी वगैरह को छानकर काम में लाओ

गृहकार्याणि सर्वाणि रष्टिपूतानि कारयेत् ।

द्रवद्रव्याणि सर्वाणि पटपूतानि योजयेत् ॥321॥

पासनं शयनं मार्गमन्त्रमन्यव वस्त यत।

अदृष्टं तत्र सेवेत यथाकालं भजनपि ॥322॥

घर के सब काम देख-भाल कर करना चाहिए। और पतली वस्तुओं को कपड़े से छानकर ही काम में लाना चाहिए। आसन, शय्या, मार्ग, अन्न और भी जो वस्तु हो, समय पर उसका उपयोग करते समय बिना देखे उपयोग नहीं करना चाहिए ॥321-322॥

(भावार्थ – प्रत्येक वस्तु को देख-भाल कर काम में लाने की आदत डालने से तथा पानी वगैरह को छानकर काम में लाने से मनुष्य हिंसा से ही नहीं बचता, किन्तु बहुत-सी मुसीबतों से भी बच जाता है। उदाहरण के लिए प्रत्येक वस्तु को देख-भाल कर काम में लाने की आदत से साँप, बिच्छू वगैरह से बचाव हो जाता है। शय्या को बिना झाड़े उपयोग में लाने से अनेक मनुष्य साँप के शिकार बन चुके हैं। बिना देखे चाहे जहाँ हाथ डाल देने से भी ऐसी ही घटनाएँ प्रायः घटती हैं। बिना छाने या बिना देखे-भाले पानी पी लेने से मुरादाबाद जिले के एक गाँव में एक लड़के के मुँहमें बिच्छू चला गया था और उसके कारण उस लड़के की मौत बिच्छू के डंक मारते रहने से बड़ी कष्टकर हुई थी। अतः प्रत्येक वस्तु को देखकर ही काम में लाना चाहिए और पानी वगैरह कपड़े से छानकर ही काम में लाना चाहिए।)

भोजन के अन्तराय

दर्शनस्पर्शसंकल्पसंसर्गत्यक्तभोजिताः।

हिंसनाकन्दनप्रायाः प्राशप्रत्यूहकारकाः ॥323॥

अतिप्रसङ्गहानाय तपसः परिवृद्धये ।

अन्तरायाः स्मृता सबितबीजविनिक्रियाः ॥324॥

ताजा चमड़ा, हड्डी, मांस, लोह और पीब वगैरह का देखना, रजस्वला स्त्री, सूखा चमड़ा, कुत्ता वगैरह से छू जाना, भोजन के पदार्थों में 'यह मांस की तरह है' इस प्रकार का बुरा संकल्प हो जाना, भोजन में मक्खी वगैरह का गिर पड़ना, त्याग की हुई वस्तु को खा लेना, मारने, काटने, रोने, चिल्लाने आदि की आवाज सुनना, ये सब भोजन में विघ्न पैदा करनेवाले हैं। अर्थात् उक्त अवस्थाओं में भोजन छोड़ देना चाहिए ॥323॥ ये अन्तराय व्रत रूपी बीज की रक्षा के लिए बाड़के समान हैं। इनके पालने से अतिप्रसङ्ग दोष की निवृत्ति होती है और तप की वृद्धि होती है ॥324॥

(भावार्थ – भोजन करते समय यदि ऊपर कही हुई चीजों को देख ले या उनसे छू जाये या ऊपर बतलायी हुई बातों में से कोई और बात हो जाये तो भोजन छोड़ देना चाहिए। क्योंकि उस अवस्था में भी यदि भोजन नहीं छोड़ा जायेगा तो बुरी वस्तुओं से घृणा धीरे-धीरे दूर हो जायेगी और उसके दूर होने से मन कठोर होता जायेगा, बुरी वस्तुओं के प्रति अरुचि हटती जायेगी और फिर एक समय ऐसा भी आ सकता है जब उन बुरी वस्तुओं में प्रवृत्ति होने लगे। इस तरह यह अतिप्रसङ्ग दोष उपस्थित हो सकता है। इससे बचने के लिए अन्तरायों का पालन करना जरूरी है। तथा ऐसी अवस्था में भोजन के छोड़ देने से तप की वृद्धि भी होती है, क्योंकि इच्छा के रोकने को तप कहते हैं। भोजन के बीच में अन्तराय के आ जाने पर भी भूख तो भोजन चाहती है अतः मन भोजन के लिए लालायित रहता है। किन्तु समझदार व्रती भूख की परवाह न करके भोजन छोड़ देता है और इस तरह वह खाने की इच्छा पर विजय पाकर अपने तपको बढ़ाता है। अतः अन्तरायों का पालना आवश्यक है। वे व्रत रूपी बीज की बाड़के समान हैं। जैसे खेत में बीज बोकर उसकी रक्षा के लिए चारों ओर काँटे वगैरह की बाड़ लगा देते हैं उससे कोई पशु वगैरह भीतर घुसकर खेती को नहीं चर पाता ; वैसे ही अन्तरायों का पालन भी व्रतों की रक्षा

करता है।)

रात्रि- भोजन त्याग

अहिंसावतरक्षार्थं मूलव्रतविशुद्धये।

निशायां वर्जयेद्भुक्तिमिहामुत्र च दुःखदाम् ॥325॥

अहिंसा व्रत की रक्षा के लिए और मूल व्रतों को विशुद्ध रखने के लिए इस लोक और परलोक में दुःख देने वाले रात्रि-भोजन का त्याग करना चाहिए ॥325॥

(भावार्थ – रात में भोजन करने से हिंसा अवश्य होती है, क्योंकि सूर्य के सिवा अन्य जितने भी कृत्रिम प्रकाश हैं उनमें जीवों का बाहुल्य देखा जाता है। रात्रि में दीपक या बिजली की यदि रोशनी पर इतने जीव मँडराते देखे जाते हैं कि जिन की संख्या का अन्दाजा भी लगाना कठिन है। ऐसे समय में रात में खाने वाला कैसे उनसे बच सकता है ? उसके भोजन में वे जीव बिना पड़े रह नहीं सकते। और इस तरह भोजन के साथ उनका भी भोजन हो जाता है। ऐसी स्थिति में न तो अहिंसा व्रत की ही रक्षा हो सकती है और न अष्ट मूलगुण ही रह सकते हैं। - रात के खाने में केवल इतनी ही बुराई नहीं है। कभी-कभी तो विषेले जन्तुओं के संसर्ग से दूषित भोजन के कर लेने पर जीवन का ही अन्त हो जाता है। जैसा कि एक बार लाहौर में एक दावत में चायके साथ छिपकली के भी चुर जाने से बहुत-से आदमी उसे पीकर बेहोश हो गये थे। यदि मकड़ी भोजन में चली जाये तो कोढ़ पैदा कर देती है। यदि बालों की जू पेट में चली जाये तो जलोदर रोग हो जाता है। अतः दिनमें सूर्यके प्रकाश में ही भोजन करना चाहिए।)

आश्रितेषु च सर्वेषु यथावद्विहितस्थितिः ।

गृहाश्रमी समीहेत शारीरेऽवसरे स्वयम् ॥326॥

संधानं पानकं धान्यं पुष्पं मूलं फलं दलम् ।

जीवयोनिं न संग्राह्यं यद् जीवैरुपद्रुतम् ॥327॥

गृहस्थ को चाहिए कि जो अपने आश्रित हों पहले उनको भोजन कराये पीछे स्वयं भोजन करे ॥326॥ अचार, पानक, धान्य, फूल, मूल, फल और पत्तों के जीवों की योनि होने से ग्रहण नहीं करना चाहिए। तथा जिसमें जीवों का वास हो ऐसी वस्तु भी काम में नहीं लानी चाहिए ॥327॥

(भावार्थ – अधिक दिनों का मुरब्बा, अचार, मद्य और मांस के तुल्य हो जाता है अतः मर्यादा के भीतर ही उसका सेवन करना चाहिए। पेय भी सब ताजे और साफ होने चाहिए। अनाज घुना हुआ नहीं होना चाहिए और न इतना अन्न संग्रह ही करना चाहिए कि घुन लग जाये। फल, फूल, शाक-सब्जी वगैरह भी शोध कर ही काम में लाना चाहिए। गली सड़ी हुई या कीड़ा खायी सब्जी प्रत्येक दृष्टि से अभक्ष्य है।) अमिनं मिश्रमुत्सर्गि कालदेशदशाश्रयम् ।

वस्तु किञ्चित्परित्याज्यमपीहास्ति जिनागमे ॥328॥

जिनागम में कोई वस्तु अकेली त्याज्य बतलायी है, कोई वस्तु किसी के साथ मिल जाने से त्याज्य हो जाती है। कोई सर्वदा त्याज्य होती है और कोई अमुक काल, अमुक देश और अमुक दशा में त्याज्य होती है ॥328॥

अहिंसा पालन के लिए अन्य आवश्यक बातें

यदन्तःशुषिरप्रायं हेयं नालीनलादि तत् ।

अनन्तकायिकमायं बल्लीकन्दोदिकं त्यजेत् ॥329॥

जिसके बीच में छिद्र रहते हैं ऐसे कमलडंडी वगैरह शाकों को नहीं खाना चाहिए। और जो अनन्तकाय हैं, जैसे लता, सूरण वगैरह, उन्हें भी नहीं खाना चाहिए ॥329॥

द्विदलं द्विदलं प्राश्यं प्रायेणानवतां गतम् ।

शिम्बयः सकलास्त्याज्याः साधिताः सकलाच याः ॥330॥

तत्राहिंसा कुतो यत्र बहारम्भपरिग्रहः ।

वशं च कुशीले च नरे नास्ति दयालुता ॥331॥

पुराने मूंग, उड़द, चना वगैरह को दलने के बाद ही खाना चाहिए, बिना दले सारा मूंग, सारा उड़द वगैरह नहीं खाना चाहिए और जितनी साबित फलियाँ हैं चाहे वे कच्ची हों या आग पर पकायी गयी हों, उन्हें नहीं खाना चाहिए। उन्हें खोलकर शोधने के बाद ही खाना चाहिए ॥ 330 ॥ जहाँ बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह है वहाँ अहिंसा कैसे रह सकती है ? तथा ठग और दुराचारी मनुष्य में दया नहीं होती ॥ 331 ॥ (भावार्थ – बहुत आरम्भ करने वाले और बहुत परिग्रह रखने वाले कभी अहिंसक हो ही नहीं सकते क्योंकि आरम्भ और परिग्रह हिंसा का मूल है। इसीलिए सागारधर्मामृत में लिखा है कि जो सन्तोष धारण करके अल्प आरम्भ करता है और अल्प परिग्रह रखता है उसी का मन शुद्ध रहता है और वही अहिंसाणु व्रत का पालन कर सकता है। इसी तरह व्यभिचारी और ठग भी निर्दय हो जाते हैं। जो दूसरों को सताते हैं, खूब क्रोध वगैरह करते हैं उनके परिणाम भी सदा खराब रहते हैं और उससे उन्हें अशुभ कर्म का बन्ध होता है।)

शोकसंतापसकन्दपरिदेवनदुःबधीः ।

भवन्स्वपरयोजन्तुरसोर्चाय जायते ॥ 332 ॥

कषायोदयतीवात्मा भावो यस्योपजायते ।

जीवो जायेत चारित्रमोहस्यासौ समाश्रयः ॥ 333 ॥

जो मनुष्य स्वयं शोक करता है तथा दूसरों के शोकका कारण बनता है, स्वयं सन्ताप करता है तथा दूसरों के संताप का कारण बनता है, स्वयं रोता है तथा दूसरों को रुलाता या कलपाता है, स्वयं दुःखी होता है और दूसरों को दुःखी करता है, वह असातावेदनीय कर्म का बन्ध करता है ॥ 332 ॥ जिसके कषाय के उदय से अति संक्लिष्ट परिणाम होते हैं वह जीव चारित्र मोहनीय कर्म का बध करता है ॥ 333 ॥

मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावना का स्वरूप

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाभ्यस्थानि यथाक्रमम् ।

सत्वे गुणाधिक क्लिष्टे निर्गुणेऽपि च भावयेत् ॥ 334 ॥

कायेने मनसा वाचाऽपरे सर्वत्र देहिनि ।

अदुःखजननी वृत्तिमैत्री मैत्रीविदां मता ॥ 335 ॥

तपोगुणाधिके पुंलि प्रश्रयाश्रयनिर्भरः ।

जायमानो मनोरागः प्रमोदो विदुषां मतः ॥ 336 ॥

दीनाभ्युद्धरणे बुद्धिः कारुण्यं करुणात्मनाम् ।

हर्षाम!ज्मिता वृत्तिर्माध्यस्थ्यं निर्गुणात्मनि ॥ 337 ॥

इत्थं प्रयतमानस्य गृहस्थस्यापि देहिनिः ।

करस्थो जायते स्वर्गो नास्य दूरे च तत्पदम् ॥ 338 ॥

पुण्यं तेजोमयं प्राहुः प्राहुः पापं तमोमयम् ।

तत्पापं पुंसि किं तिष्ठेहयादीधितिमालिनि ॥ 336 ॥

सा क्रिया कापि नास्तीह यस्यां हिंसा न विद्यते ।

विशिष्यते परं भावावत्र मुख्यानुषङ्गिकौ ॥ 340 ॥

अनन्नपि भवेत्पापी निन्नन्नपि न पापभाक् ।

अभिध्यानविशेषेण यथा धीवरकर्षकौ ॥ 341 ॥

सब जीवों से मैत्री भाव रखना चाहिए। जो गुणों में अधिक हों उनमें प्रमोद भाव रखना चाहिए। दुःखी जीवों के प्रति करुणा भाव रखना चाहिए। और जो निर्गुण हों, असभ्य और उद्धत हों उनके प्रति माध्यस्थ्य भाव रखना चाहिए ॥ 334 ॥ 'अन्य सब जीवों को दुःख न हो' मन, वचन और काय से इस प्रकार का बर्ताव करने को मैत्री कहते हैं ॥ 335 ॥ तप आदि गुणों से विशिष्ट पुरुष को देखकर जो विनयपूर्ण हार्दिक प्रेम उमड़ता है उसे प्रमोद कहते हैं ॥ 336 ॥ दयालु पुरुषों की गरीबों का उद्धार करने की भावना को कारुण्य कहते हैं। और उद्धत तथा असभ्य पुरुषों के प्रति राग और द्वेष के न होने को माध्यस्थ्य कहते हैं ॥ 337 ॥ जो प्राणी गृहस्थ होकर भी इस प्रकार का प्रयत्न करता है, स्वर्ग तो उसके हाथ में है और मोक्ष भी दूर नहीं है ॥ 338 ॥ पुण्य को प्रकाशमय कहते हैं और पाप को अन्धकारमय कहते हैं ।

दयारूपी सूर्य के होते हुए क्या पुरुष में पाप ठहर सकता है ? ॥339॥ ऐसी कोई क्रिया नहीं है जिसमें हिंसा नहीं होती। किन्तु हिंसा और अहिंसा के लिए गौण और मुख्य भावों की विशेषता है ॥340॥ संकल्प में भेद होने से धीवर नहीं मारते हुए भी पापी है और किसान मारते हुए भी पापी नहीं है ॥341॥

(भावार्थ – हिंसा और अहिंसा का विवेचन करते हुए पहले बतला आये हैं कि किसी का घात हो जाने से ही हिंसा का पाप नहीं लगता। संसार में सर्वत्र जीव पाये जाते हैं और वे अपने निमित्त से मरते भी हैं फिर भी मात्र इतने से ही उसे हिंसा नहीं कह सकते। वास्तव में तो हिंसा रूप परिणाम ही हिंसा है। जहाँ हिंसा रूप परिणाम है वहाँ किसी अन्य का घात न होने पर भी हिंसा होती है और जहाँ हिंसा रूप परिणाम नहीं है वहाँ अन्य का घात हो जाने पर भी हिंसा नहीं होती। उदाहरणके लिए धीवर और किसान को उपस्थित किया जा सकता है। एक मच्छीमार धीवर मछली मारने के उद्देश्य से पानी में जाल डालकर बैठा है। उसके जाल में एक भी मछली नहीं आ रही है फिर भी धीवर हिंसक है क्योंकि उसके परिणाम मछली मारने में लगे हैं। दूसरी ओर एक किसान है वह अन्न उपजाने की भावना से खेत में हल चलाता है। हल चलाते समय बहुत से जीव उसके हल से मरते जाते हैं किन्तु उसका भाव जीवों के मारने का नहीं है बल्कि खेत जोत-बोकर अन्न उत्पन्न करनेका है अतः वह मारते हुए भी पापी नहीं है। इसीलिए गृहस्थ को सबसे पहले संकल्पी हिंसा का त्याग करना आवश्यक बतलाया है।)

कस्यचित्सन्निविष्टस्य दारान्मातरमन्तरा।

वपुःस्पर्शविशेषेऽपि शेमुषी तु विशिष्यते ॥342॥

एक आदमी पत्नी के समीप बैठा है और एक आदमी माता के समीप बैठा है। दोनों ही नारी के अंग का स्पर्श करते हैं किन्तु दोनों की भावनाओं में बड़ा अन्तर है ॥342॥

कहा भी है -

"परिणाममेव कारणमाहुः खलु पुण्यपापयो कुरालाः ।

तस्मात्पुण्योपचयः पापापचयच सुविधेयः" ॥343॥

(-आत्मानुशासन, श्लो० 23)

कुशल मनुष्य परिणामों को ही-पुण्य और पापका कारण बतलाते हैं। अतः पुण्य का संचय करना चाहिए और पाप की हानि करनी चाहिए' ॥343॥

वपुषो वचसो वापि शुभाशुभसमाश्रया।

क्रिया चित्तादचिन्त्येयं तदत्र प्रयतो भवेत् ॥344॥

क्रियान्यत्र क्रमेण स्यात्क्रियत्स्वेव च वस्तुषु ।

जगत्त्रयादपि स्फारा चित्ते तु क्षणतः क्रिया ॥345॥

मन के निमित्त से ही शरीर और वचन की क्रिया भी शुभ और अशुभ होती है। मन की शक्ति अचिन्त्य है। इसलिए मन को ही शुद्ध करने का प्रयत्न करो ॥344॥ शरीर और वचन की क्रिया तो क्रम से होती हैं और कुछ ही वस्तुओं को अपना विषय बनाती हैं। किन्तु मनमें तो तीनों लोकों से भी बड़ी क्रिया क्षण-भर में हो जाती है। अर्थात् मन एक क्षण में तीनों लोकों के बारेमें सोच सकता है ॥345॥

तथा च लोकोक्तिः

इसी विषयमें एक कहावत भी है

"एकस्मिन्मनसः कोणे पुंसामुत्साहसालिनाम् ।

अनायासेन समान्ति भुवनानि चतुर्दश" ॥346॥

उत्साही मनुष्यों के मन के एक कोने में बिना किसी प्रयास के चौदह भुवन समा जाते हैं ॥346॥

(भावार्थ – पहले बतला आये हैं कि जो काम अच्छे भावों से किया जाता है उसे अच्छा कहते हैं और जो काम बुरे भावों से किया जाता है उसे बुरा कहते हैं। अतः वचन की और काय की क्रिया तभी अच्छी कही जायेगी जब उसके कर्ताके भाव अच्छे हों। अच्छे इरादे से बच्चों को पीटना भी अच्छा है और बुरे इरादे से उन्हें मिठाई खिलाना भी अच्छा नहीं है। अतः मन की खराबी से वचन की और काय की क्रिया

खराब कही जाती है और मन की अच्छाई से अच्छी कही जाती है। इसीलिए मन की शक्तिको अचिन्त्य बतलाया है। मन एक ही क्षण में दुनिया भर की बातें सोच जाता है किन्तु जो कुछ वह सोच जाता है उसे एक क्षण में न कहा जा सकता है और न किया जा सकता है। अतः मनका सुधार करना चाहिए।)

भूपयःपवनाग्नीनां तृणादीनां च हिंसनम् ।

यावत्प्रयोजनं स्वस्य तावत्कुर्यादेजन्तु यत् ॥347॥

पृथ्वी, जल, हवा, आग और तृण वगैरह की हिंसा उतनी ही करनी चाहिए जितनेसे अपना प्रयोजन हो ॥347॥

(भावार्थ-जीव दो प्रकार के बतलाये हैं त्रस और स्थावर। त्रस जीवों की हिंसा न करने के विषयमें ऊपर कहा गया है। स्थावर जीवों की भी उतनी ही हिंसा करनी चाहिए जितने के बिना सांसारिक काम न चलता हो। व्यर्थ जमीन का खोदना, पानी को व्यर्थ बहाना, व्यर्थ हवा करना व आग जलाना और बिना जरूरत के पेड़-पत्तों को तोड़ना आदि काम नहीं करना चाहिए। आशय यह है कि मिट्टी, पानी, हवा, आग और सब्जी का भी दुरुपयोग नहीं करना चाहिए।)

ग्रामस्वामिस्वकार्येषु यथालोकं प्रवर्तताम् ।

गुणदोषविभागेऽत्र लोक एव यतो गुरुः ॥348॥

नागरिक कार्यों में, स्वामी के कार्यों में और अपने कार्यों में लोकरीति के अनुसार ही प्रवृत्ति करनी चाहिए, क्योंकि इन कार्यों की भलाई और बुराई में लोक ही गुरु है। अर्थात् लौकिक कार्यों को लोकरीति के अनुसार ही करना चाहिए ॥348॥

प्रायश्चित्त का विधान

दर्पण वा प्रमादाद्वा द्वीन्द्रियादिविराधने।

प्रायश्चित्तविधि कुर्यायथादोष यथागमम् ॥349॥

मद से अथवा प्रमाद से द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवों का घात हो जाने पर दोष के अनुसार आगम में बतलायी गयी विधिपूर्वक प्रायश्चित्त करना चाहिए ॥349॥

प्रायश्चित्त का स्वरूप

प्राय इत्युच्यते लोकस्तस्य चित्तं मनो भवेत् ।

एतच्छुद्धिकरं कर्म प्रायश्चित्तं प्रचक्षते ॥350॥

'प्रायः' शब्द का अर्थ (साधु) लोक है। उसके मन को चित्त कहते हैं। अतः साधु लोगों के मन को शुद्ध करने वाले काम को प्रायश्चित्त कहते हैं ॥350॥

प्रायश्चित्त देने का अधिकार

द्वादशाङ्गधरोऽप्येको न कृच्छ्र दातुमर्हति ।

तस्माद्बहुश्रुताः प्राज्ञाः प्रायश्चित्तप्रदाः स्मृताः ॥351॥

द्वादशांग का पाठी होने पर भी एक व्यक्ति प्रायश्चित्त देने का अधिकारी नहीं है। अतः जो बहुश्रुत अनेक विद्वान् होते हैं वे ही प्रायश्चित्त देते हैं ॥351॥

मनसा कर्मणा वाचा यदुष्कृतमुपार्जितम् ।

मनसा कर्मणा वाचा तत् तथैव विहापयेत् ॥352॥

मन के द्वारा, वचन के द्वारा अथवा काय के द्वारा जो पाप किया है उसे मन के द्वारा, वचन के द्वारा अथवा कायके द्वारा ही छुड़वाना चाहिए ॥352॥

योग का स्वरूप, भेद और कार्य

आत्मदेशपरिस्पन्दो योगो योगविदां मतः ।

मनोवाकायतलेधा पुण्यपापानवाश्रयः ॥353॥

योग के ज्ञाता पुरुष आत्मा के प्रदेशों के हलन-चलन को योग कहते हैं। वह योग मन, वचन और काय के भेद से तीन प्रकार का होता है

और उसी के निमित्त से पुण्य कर्म और पाप कर्मका आस्रव होता है ॥353॥

(भावार्थ – जीवकाण्ड गोमट्टसार में योग का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है - पुद्गल विपाकी शरीर नाम कर्म के उदय से मन, वचन और काय से युक्त जीव की जो शक्ति कर्मों के ग्रहण करने में कारण है उसे योग कहते हैं। इस योग शक्ति के द्वारा जीव शरीर, वचन और मन के योग्य पुद्गल वर्गणाओं का ग्रहण करता है और उनके ग्रहण करने से आत्मा के प्रदेशों में कम्पन होता है। यदि वह कम्पन काय-वर्गणा के निमित्त से होता है तो उसे काययोग कहते हैं, यदि वचन वर्गणा के निमित्त से होता है तो उसे वचन योग कहते हैं और यदि मनोवर्गणा के निमित्त से होता है तो मनोयोग कहते हैं। इन योगों के होने पर जीव के पुण्य और पाप कर्मों का आस्रव होता है। ये तीनों योग शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकारके होते हैं।)

शुभाशुभ योग

हिंसनाब्रह्मचौर्यादि काये कर्माशुभं विदुः ।

असत्यासभ्यपारुष्यप्रायं वचनगौचरम् ॥354॥

मासूयनादि स्यान्मनोव्यापारसंश्रयम् ।

एतद्विपर्ययाज्यं शुभमेतेषु तत्पुनः ॥355॥

हिंसा करना, कुशील सेवन करना, चोरी करना आदि कायसम्बन्धी अशुभ कर्म जानना चाहिए। झूठ बोलना, असभ्य वचन बोलना और कठोर वचन बोलना आदि वचनसम्बन्धी अशुभ कर्म जानना चाहिए ॥354॥ घमण्ड करना, ईर्ष्या करना, दूसरों की निन्दा करना आदि मनोव्यापार सम्बन्धी अशुभ कर्म हैं। तथा इससे विपरीत करने से काय, वचन और मन सम्बन्धी शुभ कर्म जानना चाहिए। अर्थात् हिंसा न करना, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य पालन करना आदि कायिक शुभ कर्म हैं। सत्य और हित मित वचन बोलना आदि वचन सम्बन्धी शुभ कर्म हैं। अर्हन्त आदि की भक्ति करना, तप में रुचि होना, ज्ञान और ज्ञानियों की विनय करना आदि मानसिक शुभ कर्म हैं ॥355॥

पाप से बचने का उपाय

हिरण्यपशुभूमीनां कन्याशय्यानवाससाम् ।

दानैर्बहुविधैश्चान्यैर्न पापमुपशाम्यति ॥356॥

लवनौषधसाध्यानां व्याधीनां बाघको विधिः ।

यथाकिञ्चित्करो लोके तथा पापोऽपि मन्यताम् ॥357॥

निहत्य निखिलं पापं मनोवाग्देहदण्डनैः ।

करोतु सकलं कर्म दानपूजादिकं ततः ॥358॥

सोना, पशु, जमीन, कन्या, शय्या, अन्न, वस्त्र तथा अन्य अनेक वस्तुओं के दान देने से पाप शान्त नहीं होता ॥356॥ जो रोग उपवास करने और औषधी का सेवन करने से दूर होते हैं जैसे उनके लिए केवल बाह्य उपचार व्यर्थ होता है वैसे ही पापके विषय में भी समझना चाहिए। अर्थात् मन वचन और काय को वश में किये बिना केवल बाह्य वस्तु का त्याग कर देने मात्र से पाप रूपी रोग शान्त नहीं होता ॥357॥

इसलिए पहले मन, वचन और काय को वशमें करके समस्त पाप के कारणों को दूर करो। फिर दान-पूजा वगैरह सब काम करो ॥358॥

रात्रि का कर्तव्य

आप्रवृत्तिनिवृत्तिर्मे सर्वस्येति कृतक्रियः।

संस्मृत्य गुरुनामानि कुर्यान्निद्रादिकं विधिम् ॥359॥

दैवादायुविरामे स्यात्प्रत्याख्यानफलं महत् ।

भोगशून्यमतः कालं नावहेद्व्रतं व्रती ॥360॥

रात्रि को जब सोओ तो सन्ध्याकाल का कृति कर्म करके यह प्रतिज्ञा करो कि जब तक मैं गार्हस्थिक कार्यों में फिर से न लगूँ तब तक के लिए मेरे सबका त्याग है। और फिर पञ्च नमस्कार मंत्रका स्मरण करके निद्रा वगैरह लो ॥359॥ क्योंकि दैववश यदि आयु समाप्त हो जाये तो त्याग से बड़ा लाभ होता है। इसलिए व्रती को चाहिए कि जिस काल में वह भोग न करता हो उस कालको बिना व्रत के न जाने दे। अर्थात् उतने समयके लिए भोग का व्रत ले ले ॥360॥

जीव दया का महत्त्व

एका जीवदयकत्र परत्र सकलाः क्रियाः ।

परं फलं तु पूर्व कृषेच्छिन्तामणेरेव ॥361॥

आयुष्मान्सुभगः श्रीमान्सुरूपः कीर्तिमानरः ।

अहिंसावतमाहात्म्यादेकस्मादेव जायते ॥362॥

अकेली जीव दया एक ओर है और बाकी की सब क्रियाएँ दूसरी ओर हैं । अर्थात् अन्य सब क्रियाओं से जीव दया श्रेष्ठ है । अन्य सब क्रियाओं का फल खेती की तरह है और जीवदया का फल चिन्तामणि रत्न की तरह है जो चाहो सो मिलता है। अकेले एक अहिंसा व्रत के प्रताप से ही मनुष्य चिरजीवी, सौभाग्यशाली, ऐश्वर्यवान्, सुन्दर और यशस्वी होता है ॥361-362॥

अहिंसावत के पालक मृगसेन धीवर की कथा

श्रूयतामत्र हिंसाफलस्योपाख्यानम्-अवन्तिदेशेषु सकललोकमनोहरागमारामे शिरीषप्रामे मृगसेनाभिधानो मत्स्यबन्धः

स्कन्धावलम्बितगलजालाधुपकरणः पृथुरोमसमानयनोपनीतविहरणः कल्लोलजलप्लावितकूलशालेयमालवां सिमां

सरितमनुसरनशेषमहर्षिपरिषद्वर्यमखिलमहाभागभूपतिपरिकल्पितसपर्य मिथ्यात्वविरहितधर्मचर्यं श्रीयशोधराचार्यं निचाय्य

समासन्नसुकृतासाद्यहृदयत्वाहरादेव परित्यक्तपापसंपादनोपकरणग्रामः "ससंभ्रमं संपादितदीर्घप्रणामः प्रकामप्रगलदेनाः समाहितमनाः

'साधुसमाजसत्तम, समस्तमहामुनिजनेत्तम, दैवादुपपन्नपुण्यगृह्यभावोऽनुगृह्यतां कस्यचिद्व्रतस्य प्रदानेनायं जनः' इत्यभाषत।

भगवान् - 'ननु कथमस्य 'पयःपतङ्गस्येव सदैव शकुलिविनाशनिःसंकाशयवशस्य व्रतग्रहणोपदेशे प्रवीणमन्तःकरणमभूत् । अस्ति हि लोके प्रवादः, न खलु प्रायेण प्राणिनां प्रकृतेर्विकृतिरायत्यां शुभमशुभं वा विना भवति' इत्युपयुक्तावधिः

सम्यगवबुद्धसैविद्युतज्जीवितावर्धितमेवमवादीत-'अहो शुभाशयायतन, अद्यतनाहनि यस्तवादावेवानाये मीनः समापतति स त्वया न प्रमायितव्यः। यावश्चात्मवृत्तिविषयमामिषं न प्राप्नोषि तावत्तव तन्निवृत्तिः'। अयं पुनः पञ्चत्रिंशदक्षरपवित्रो मन्त्रः सर्वदा सुस्थितेन दुःस्थितेन च

त्वया ध्यातव्यः' इति । मृगसेनः-'यथादिशति बहुमानस्तथास्तु' इत्यभिनिविश्य तां शैवलिनीमनुसृत्य जनितजालक्षेपोऽकालक्षेपमत करणं वैसारिणमासाद्य स्मृतव्रतस्तस्य "श्रवसि चिह्नाय" चीरचीरी" निबध्यात्याक्षीत्" । पुनरपरावकाशे' तीरीणीप्रदेशे तथैवादूरतरशर्मा

समाचरितकर्मा तमेवाषडक्षीणमक्षीणायुषमवाप्यामुञ्चत । तदेवमेतस्मिन्ननिषे पाठीनवरिष्ठे पञ्चकृत्वो लग्ने विपदमग्ने मुच्यमाने सति,

"अस्तमस्तकमध्यास्त घनघुसृणरसारुणितवरुणपुरपुरन्ध्रीकपोलकान्तिशाली गभस्तिमाली । तदनु तं गृहीतव्रतापरित्यागमोदमानचेतनं

मृगसेनमधार्मिकलोकव्यतिरिक्त रिक्तमगिच्छन्तं परिच्छिंचे, अतुच्छकोपापरिहार्या तद्भार्या घण्टाख्या यमघण्टेव किमपि कर्णकटु क्वणन्ती कुटीरान्तःश्रितशरीरा निर्विवरमरं प्रदायास्थात् । मृगसेनोऽपि तया निरुद्धवेशमप्रवेशनस्तन्मन्त्रस्मरणशक्तचित्तः पुराणतरतरुभिसमुच्छीर्षे

विधाय सान्द्रं निद्रायत्रेतत्तरुभित्ताभ्यन्तरविनिःसृतेन सरोसपसृतेन दष्टः कष्टमवस्थान्तरमाविष्टो "व्युष्टसमये घण्टया दृष्टः। पुनरनेन सार्धमुर्षुर्धमध्यानुगमोचितनिश्चययात्मनि विहितबहुनिन्दया शोचितश्च । ततः सा 'यदेवास्य व्रतं तदेव ममापि । जन्मान्तरे चायमेव मे पतिः'

इत्यावेदितनिदाना समित्समिद्धमहसि द्रविणोदसि हव्यसमस्नेहं देहं जुहाव । __ अथ विलासिनीविलोचनोत्पलपुनरुक्तचन्दनमालायां

विशालायां" पुरि विश्वगुणा महादेवीश्वरो विश्वम्भरो विश्वम्भरो नाम नृपतिः धनश्रीपतिः पिता च दुहितुः "सुबन्धोगुणपालो नाम श्रेष्ठी । तस्य

किल गुणपालस्य मनोरथपान्थप्रीतिप्रपापालिकायामेतस्यां "कुलपालिकायामनेन मृगसेनेन समापन्नसत्त्वायां" सत्याम्, असौ

वसुधापतिर्विदकथासंसृष्टतया प्रतिपन्नपाञ्चजनीनभावो नर्मभर्मनाम्नो नर्मसचिवस्य सुताय नर्मधर्मणे

गुणपालश्रेष्ठिनमखिलकलाकलापालंकृतरूपसमन्वितां सुतामयाचत । श्रेष्ठी दुष्प्रक्षेप राज्ञा तथा याचितः 'यदि नर्मसचिवसुताय सुतां विरामि

तदावश्यं कुलक्रमव्यतिक्रमो दुरपवादोपक्रमश्च । अथ "स्वामिशासनमतिक्रम्यात्रैवासे तदा सर्वस्वापहारः प्राणसंहारश्च' इति निश्चित्य

प्रियसुहवः श्रीवत्तस्य वणिक्पतेनिकेतने समणिमेखलकलत्रं कलत्रमवस्थाप्य स्वापतेयसारं दुहितरं चात्मसात्कृत्य

सुलभकेलिवनवनाशयनिवेशं कौशाम्बीदेशमयासीत् । . अत्रान्तरे श्रीमहरिद्रमन्दिरनिर्विशेषमाचरितचर्यापर्यटनौ शिवगुप्तमुनिगुप्तनामानौ

मुनी श्रीदत्तप्रतिनिवेशनिवासिनोपासकेन यथाविधिविहितप्रतिग्रही कृतोपचारविग्रहौ च तामगणाश्रयां धनश्रियमपश्यताम् । तत्र

मुनिगुप्तभगवान्किल

केवलखलिस्नानपरुषवपुषमुद्रमनीयसंगतानाभोगविषमवैधव्यचिह्नदवरकमात्रालंकारजुषमाप्तकान्तापत्यपरिजनविरहदेहसादां

गर्भगौरवखेदां च शिशिराजसवाजवशवर्तिनी स्थलकमलिनीमिव मलिनच्छविमुदवसितं परिसरे परगृहवास'विशीर्यमाणमुखश्रियं धनश्रियं निध्याय' 'अहो, महीयसां खलु एनसामावासः कोऽप्यस्याः कुक्षौ महापुरुषोऽवतीर्णः, येनावतीर्णमात्रेणापि दुष्पुत्रेण्यं वराकी इयदावेशां दशामशिश्रयत्' इत्यभाषत । मुनिवृषा शिवगुप्तः- 'मुनिगुप्त मैवं भाषिष्ठा यतो यद्यपीयं श्रेष्ठिनी कानिचिदिनान्येवम्भूता सती "पराधिष्ठाने तिष्ठति, तथाप्येतनन्दनेन सकलवणिक्पतिना राजश्रेष्ठिना निरवधिशेव धीश्वरेण विश्वम्भरेश्वरसुतावरेण च भवितव्यम्' इत्यवोचत् । एतच्च स्वकीयमन्दिरालिन्दगतः श्रीदत्तो निशम्य 'न खलु प्रायेणासत्यमिदमुक्तं भविष्यति महर्षेः' इत्यवधार्य सूचीमुखसर्पवहरीहितदत्तचेतोवृत्तिरासीत् । धनश्रीश्च परिप्राप्तप्रसवदिवसा सती सुतमसूत । श्रीदत्तः- 'चित्रभानुरिवायमाश्रयाशः स्खलु बालिशः । तदसंजातस्नेहायामेवास्य जनन्यामुपांशुदण्डः श्रेयान्' इति परामृश्य प्रसूतिदुःखेनातुच्छमूर्छापाश्रयां धनश्रियमाकलय्य निजपरिजनजरतीमुखेन 'प्रमीत एवायं तनयः संजातः' इति प्रसिद्धिं विधायाकार्यं चैकमाचरितोपचारप्रपञ्चं श्वपचं जिलाझीरहस्यनिकेतः कृतापायसंकेतस्तं स्तन्यपमेतस्मै समर्पयामास । सोऽपि जनंगमः स्वर्भानुप्रभेण करेण रामरश्मिमिव तं स्तनन्धयमुपरुध्य निःशेलाकावकाशं देशमाश्रित्य पुण्यपरमाणुपुजमिव शुभशरीरभाजमेनमवेक्ष्य संजातकरुणारसप्रसरप्रसन्नमुखः सुखेन विनिधाय स्वकीयमेटीकत । पुनरस्यैवाधरभवभगिनीपतिरशेषापणिकपणपरमेष्ठी इन्द्रदत्तश्रेष्ठी विक्रयाडम्बरितशण्डमण्डलाधीनं पेठोपकण्ठगोष्ठीनमनुसृतो वत्सीयविषय सनीडक्रीडागतगोपालबालकलेपनपरम्परालापाद्वत्सेतरतानकसंतानपरिवृतमनेकचन्द्रकान्तोपलान्तरालनिलीनमरुणमणिनिधानमिव तं जातेमुपलभ्य स्वयमदृष्टनन्दनवदनत्वात् बुद्ध्या साध्वनुरुभ्य 'स्तनन्धयावधानधृतबोधे राधे, तवायं गूढगर्भसंभवस्तनूद्वयः' इति प्रवर्धितप्रसिद्धिर्महान्तमपत्योत्पत्तिमहोत्सवमकार्षीत् । श्रीदत्तः श्रवणपरम्परया तमेन वृत्तान्तमुपश्रुत्याश्रित्य च शिशुविनाशनाशयेन कीनाश इव तन्निवेशम् 'इन्द्रदत्त, अयं महाभागधेयो भागिनेयो ममैव तावद्भ्राम्नि वर्धताम्' इत्यभिधाय सभगिनीकं 'तोकमात्मावासमानीय पुरावत्करप्रक्षः संज्ञपनार्थमन्तावसायिने' प्रायच्छत । सोऽपि दिवाकीर्तिरुपात्तपुत्रभाण्डः सत्त्वरमुपहरगहरानुसारी समीरवेशविगलितधनाम्बरावरणं हरिणकिरणमिव ईक्षणरमणीयं गुणपालतनयमालोक्य सदयहृदयः प्रबलवितपिसंकटे सरित्तटनिकटे परित्यज्य यथायथमश्राल्लीत् । तत्राप्यसौ पुरोपार्जितपुण्यप्रभावादुपातृभिरिव एतद्वीक्षणान्तरत्क्षीरस्तनीभिरानन्दोदीरितनिर्भरहम्भाध्वनिभिः 'प्रचारायागतभिः कुण्डोनीभिर्बज लोकधेनुभिरुपर"सविधभागोऽपदान्तरमागतेन तद्रक्षणदक्षणा गोपालजनेन "अस्तावतंसंभासिन्यशोकस्तबकसुन्दरे "सरोजसुहृदि सति विलोकितः । कथितश्च सकलगोष्ठज्येष्ठाय बल्लवकुलवरिष्ठाय निजाननापहसितारविन्दाय गोविन्दाय । सोऽपि पुत्रप्रेम्णा प्रमोदगरिम्णा चानीय जनितहृदयानन्दायाः सुनन्दायाः समर्पितवान् । अ(क)रोश्वास्येन्दिरामन्दिरस्य धनकीर्तिरिति नाम । ततोऽसौ क्रमेण मकरन्दपरित्यक्तशैशवदशः कमलेश इव युवजनमनःपण्यतारुण्योत्फुल्लबलवीलोचनालिकुलावे ले लावण्यमकरन्दमन्दानन्दकामदमतिकान्तरूपायतनं यौवनमासादितः पुनरपि प्राज्याज्यवणिज्योपार्जनसजागमनेन तेन श्रीदत्तेन दृष्टः । पृष्ठश्च गोविन्द स्तदवाप्तिप्रपञ्चम् । श्रीदत्तः-गोविन्द, मदीये सदने किमपि महत्कार्यमात्मजस्य निवेद्यमस्ति । तदयं 'प्रबुरिमं लेखं प्राहयित्वा सत्वरं प्रहेतेव्यः ।' गोविन्दः- 'श्रेष्ठिन्, एवमस्तु । ' लेखं चैवमलिखत्- 'अहो विदितसमस्तपौतवकल महाबल, एष खल्वस्मद्वंशविनाशवैश्वानरोऽवश्यं विष्यो मुशल्यो वा विधातव्यः' इति । धनकीर्तिस्तथा तातवणिकपतिभ्यामादिष्टः सार्वष्टम्भं गलालङ्कारसखं लेखं कृत्वा गत्वा च जन्मान्तरोपकाराधीनमीनावतारसरसीमेकानी तत्प्रवेशपदिरपर्यन्तवर्तिनि वने पद्मश्रमापनयनाय "पिकप्रियालवालपरिसरे "निःसंज्ञमस्वाप्सीत् । । अत्रावसरे विहितपुष्पावचयविनोदा सपरिच्छदा निखिलविद्याविदग्धा पूर्वभवोपकारस्निग्धा संजीवनौषधिसमानानङ्गसेनानामिका गणिका तस्यैव सहकारतरोस्तलमुपदौक्य विलोक्य च निस्पन्दलोचना चिराय तमनङ्गमिव "मुक्तकुसुमास्त्रतन्त्रं "लोकान्तरमित्रमशेषलक्षणोपलक्षितमूर्तिं धनकोतिं पुनरायुःश्रीसरस्वतीसमागमादेशरेखात्रयेणेव प्रकटवितर्कितकर्कोटत्रयेण बन्धुरमध्यप्रदेशात्कण्ठदेशादादायापायप्रतिपादनाक्षरालेख लेखमवाचयत् । लिलेख च तं वाणिजकापसदं हृदयेन "विकुर्वती लोचनाअनकरणडादुपातेन वनवल्लीपल्लवनिर्वाससरसद्रुतेन कजलेनार्जुनशलाकया तत्रैव परिम्लिष्टपुरातनसूत्रे पत्रे लेखान्तरम् । तथा हि- 'यदि श्रेष्ठिनी मामवधेयेवंचनं श्रेष्ठिनं मन्यते, महाबलश्च यदि मामनुल्लङ्घनीय वाक्प्रसरं पितरं गणयति, तदास्मै निकामं सप्तपुरुषपर्यन्तपरीक्षितान्वयसंपत्तये धनकीर्तये कूपदप्रक्रमेण 'विजदेवमुखसमक्षमविचारापेक्षं श्रीमतिर्दातव्या' इति । ततो यथाम्नातविशिखमिमं लेखमामुर्घ्य समाचरितगमनायामनगसेनायां धनकीर्तिंश्चिरेण "विद्वानसान्द्रनिद्रोद्रेक सोत्सेकमुत्थाय प्रयाय च श्रीदत्तनिकेतनं जननीसमन्विताय महाबलाय प्रदर्शितलेखः श्रीमतीसखोऽभवत् । श्रीदत्तो वार्तामिमामाकर्ण्य प्रतूर्णं प्रत्यावर्त्य निधीय च तबधाय राजधानीबाहिरिकायां चण्डिकायतने कृतसंकेतं

संनद्धवपुषं पुरुषं कश्चराचरणपिशाची "देवद्वीची च परिप्राप्तोदवसितो रहसि धनकीर्तिं मुहुराहूय बहुकूटकपटमतिरेवमावभाषे- 'वत्स, मदीये कुले किलैवमाचारो यदुत यामिनीमुखे कात्यायिनीप्रेमुखे प्रदेशे प्रतिपन्नाभिनवकङ्कणबन्धेन स्तनन्धयागोघेन महारजेनरसरकांकसमाश्रयः स्वयमेव मार्षमयमोरमौकुलिबलिरुपहर्तव्यः।' धनकीर्तिः- 'तात, यथा तातादेशः' इति निगीर्य गृहीतकुलदेवतादेयहन्तकारोपकरणस्तेन श्यालेन महाबलेन पुरप्रदेशाभिःसरमवलोकिताः। समालापितध- 'हहो धनकीत, प्रवर्धमानान्धकारावभ्यायामस्यां लायामवर्गणः कोचलितोऽसि । ' 'महाबल, मातुलनिदेशान मसितनिवेदनाय दुर्गालये । ' 'यद्येवं नगरजनासंस्तुतत्वात्त्वं निवासं प्रति निवर्तस्व ।

अहमेतदुपयाचितमैशान्याः स्पर्शयितुं प्रगच्छामि । यद्यत्र तातो रोषिष्यति तदा तद्रोषमहमपनेष्यामि । ' ततो धनकीर्तिमन्दिरमगात्, महायलश्च कृतान्तोदरकन्दरम् । श्रीदत्तः सुतमरणशोकातोपान्तः प्रकाशिताशेषवृत्तान्तः 'सकलनिकाय्यकार्यानुष्ठानपरमेष्ठिनि श्रेष्ठिनि मन्मनोहादचन्द्रलेखे विशाखे, कथमयं वैधेयो ममान्धयोपायहेतुः प्रयुक्तोपायविलोपनकेतुः प्रवाशयितव्यः।' विशाखा- 'भेष्ठिन्, भेलभावात्सर्वमनुपपन्नं त्वया चेष्टितम् । अतः कुरुण्डतो भीतः कुक्कुटपोत इव तूष्णीमास्व । भविष्यति भवतोऽ. शेषं मनीषितम्' इत्याभाष्य अपरेधुर्दयितजीवितव्यतोदकेषु मोदकेषु विषं संचार्य 'सुते श्रीमते, य एते कुन्दकुमुदकान्तयो मोदकास्ते स्वकीयाय कान्ताय देयाः, "श्यावश्यामाकश्यामलरुचयश्च जनकाय' इति समर्पितसमया' समासनमरणसमया सरिति संवैनायानुससार । श्रीमतिः 'यज्जोक्ष भक्ष्यन्तत् प्रतीक्षाय ताताय वितरीतव्यम्' इत्यवगत्याविज्ञातसवित्रीचित्तकौटिल्या निःशल्यहृदया तानेतयोर्विपर्ययेणावीवृधत् । विशाखा पतिशन्यमरण्यसामान्यमगारमाप्य परिदेव्यय सुचिरं पुनः 'पुत्रि, किमन्यथा भवति महामुनिभाषितम् । केवलं तव "वापेन मया च' थोत्मीयान्वयविलोपाय कृत्योत्थापनमाचरितमदलमत्र बहुप्रलापेन । कल्पद्रुमेण कल्पलतेव त्वमनेन देवदेयदेहरक्षाविधानेन धवेन सार्धमाकल्पमिन्द्रियैश्वर्यसुखमनुभव' इति संभाविताशीर्वादा तमेकं मोदकमास्वाद्य पत्युः पथि प्रेतस्थे। __ एवं विहितदुरीहितवशादुपाचामिततोक्तशोकावस्थे दर्शमीस्थे तस्मिञ्श्वशुरे श्वश्रूजने च सति स पुरातनपुण्यमाहात्म्यादुल्लवितघोरप्रतिघंपञ्चकापत्प्रतिदिनमुदीयमानसंपदेकदा तेन विश्वम्भरेण तितीश्वरेण निरीक्षितः। तद्रूपसंपत्तौ जातबहुविस्मयेन तनूजया सह उभयेन विशामाधिपत्यपदेन योजितश्च । गुणपालः किंवदन्तीपरम्परया अस्य कल्याणपरम्परामुपश्रुत्य कौशाम्बीदेशात्पमार्वतीपुरमागत्य अनेनाश्चर्यैश्वर्यभाजा तुजी सह संजग्मे । अथान्यदा सकलत्रपुत्रमित्रतन्त्रेण धनकीर्तिना दर्शनायागतयानङ्गसेनया चानुगतिनिष्ठो गुणपालश्रेष्ठे मतिश्रुतावधिमनःपर्ययविषयसम्राजमखिलमुनिमण्डलोराजं श्रीयशोध्वजनामभाजं भगवन्तमभिवन्ध सबहुप्रश्रयमेवमपृच्छत्- 'भगवन्, किं नाम जन्मान्तरे धर्ममूर्तिना धनकीर्तिना सुकृतमुपार्जितम्, येन बालकालेऽपि तानि तानि दैवैकशरणप्रतीकाराणि व्यस. नानि व्यतिक्रान्तः, येनास्मिन्न्यतिरिक्तरसारूपसंपन्नोऽभूत्, येनाद भ्रात्रियविभावसुप्रभासंभार इव देवानामप्यप्रतिहतमहः समजनि, येन चापरेषामपि तेषां तेषां महापुरुषकक्षा"वग्रहाणां गुणानां समवायोऽभवत् । तथा हि-स्थानं "वदन्त्यतायाः, समाश्रयो वदान्य भावस्य, निकेतनमवदानकर्मणः, क्षेत्र मैत्रेयिकायाः, स्वप्नेऽपि न स्वजनस्याजनि मनोमतः कन्तुरिव च कामिनीलोकस्य । तदस्य भदन्त, 'प्रापणिकपरिषत्प्रवणस्य निःशेषशास्त्रप्रवीणान्तःकरणस्य निसर्गादेव निखिलपरिजनालापनसक्तस्य विनेयजनमनःकुवलयानन्दिकथावतारामृत तः सुकीर्तैर्धनकीर्तः पुरोपार्जितं सुकृतं कथयितुमर्हसि । ' भगवान्- 'श्रेष्ठिन्, श्रूयताम् । ' तत्संबन्धसक्तं पूर्वोक्तं वृत्तान्तमचकथत्- 'या चास्य पूर्वभवनिकटा घण्टा वधूटी सा कृतनिदानादनसिप्रवेशादियं संप्रति श्रीमतिः संजाता। यश्च स मीनः स कालक्रमेण व्यतिक्रम्य पूर्वपर्यायपर्वयमनङ्गसेनाभूत्। अतोऽस्य महाभागस्यैकदिवसाऽहिंसाफलमेतद्विजम्भते । धनकीर्तिरितद्वचत्रपवित्रश्रोत्रवा तथा श्रीमतिरनङ्गसेना च पुराभवं भवं संभाल्योन्मूल्य च तमःसंतानतरुनिवेशमिव केशपाशं तस्यैव दोषेशंस्यान्तिके यथायोग्यताविकल्पं तपःकल्पमादाय जिनमार्गाचितेनाचरितेन चिरायाराध्य रत्नत्रयं विधाय च विधिवन्निरजन्ममनोवर्तनं प्रायोपवेशनम् । तदनु धनकीर्तिः सर्वार्थसिद्धिसाधनकीर्तिर्बभूव । श्रीमतिरनङ्गसेना च 'कल्पान्तरसंयोज्यं देवसायुज्यमभजत् । (अब अहिंसा व्रत के फल के सम्बन्ध में एक कथा सुनें)

अवन्ति देश के शिरीष नामक गाँव में मृगसेन नाम का धीवर रहता था। एक दिन वह कन्धे पर जाल रखकर मछली लाने के लिए सिप्रा नदी की ओर चला। रास्ते में उसने मुनियों की परिषद्के बीच में बैठे हुए तथा राजाओं से पूजित और मिथ्यात्व से रहित धर्म का आचरण करने वाले आचार्य श्री यशोधर को देखा। अपने पापार्जन में सहायक जाल वगैरह उपकरणों को दूरसे ही छोड़कर वह आचार्य के पास गया और जल्दी से साष्टांग नमस्कार करके बड़ी धीरता के साथ बोला- 'हे साधु-समाज में श्रेष्ठ और समस्त महामुनियोंमें उत्तम मुनिराज !

आज भाग्य से ही पुण्य संचय का यह अवसर मिला है अतः कोई व्रत देकर मुझे अनुगृहीत करें।'

यह सुनकर मुनिराज सोचने लगे- 'बगुले की तरह सदैव मछलियों के मारने में निःशङ्कचित्त इस धीव रका मन व्रतग्रहण करने के लिए कैसे हुआ ? लोकमें किंवदन्ती है कि प्रायः उत्तर काल में होनेवाले शुभाशुभ के बिना प्राणियों का स्वभाव नहीं बदलता' यह सोचकर उन्होंने अवधिज्ञान का उपयोग किया और उसे अल्पायु जानकर बोले- 'हे सदाशय ! आज तुम्हारे जाल में जो पहली मछली आये उसे मत मारना । तथा जब तक अपनी जीविकारूप मांस तुम्हें प्राप्त न हो तब तकके लिए. तुम्हारे मांसका त्याग है। और यह पैतीस अक्षरका पवित्र नमस्कार मन्त्र है, सदा सुख-दुःख में इसका ध्यान करना।'

मृगसेन ने 'जो आज्ञा' कहकर व्रत ग्रहण कर लिये और नदी पर जाकर जाल डाल दिया। जल्दी ही उसके जाल में एक बड़ी मछली आ गयी। उसने अपने व्रत को स्मरण करके पहचान के लिए उसके कानमें कपड़े की चिन्दी बाँधकर जल में छोड़ दिया। फिर उसने दूसरे स्थान से नदी में जाल डाला किन्तु वही मछली जाल में फिर आ गयी। अतः उसे अबध्य जानकर छोड़ दिया। इस प्रकार पाँच बार वही मछली जाल में आयी और पाँचों बार उसने उसे जलमें छोड़ दिया । इतने में प्रचुर केसर से युक्त स्त्री के कपोल की तरह कान्तिवाला सूर्य अस्त हो गया । और मृगसेन स्वीकार किये हुए व्रत का पालन करने से प्रसन्नचित्त होता हुआ खाली हाथ घर लौटा। उसे खाली हाथ आता देखकर उसकी पत्नी घण्टा बड़ी क्रुद्ध हुई और यमराज के घण्टे की तरह गाली-गलौज बकती-झकती अपनी झोपड़ी में चली गयी और अन्दर से दरवाजा बन्द करके बैठ गयी। मृगसेन भी अपनी पत्नी के द्वारा घर में प्रवेश करने से रोक दिये जाने पर पञ्च-नमस्कार मन्त्र का स्मरण करते हुए एक पुराने वृक्ष की जड़ को तकिया बनाकर गाढ़ नींद में सो गया । जब वह गाढ़ नींद में था तभी उस वृक्ष की जड़ से निकलकर एक साँपने उसे डस लिया और वह बड़े कष्ट से मर गया। प्रभात होने पर घण्टा ने उसे उस अवस्था में देखा । उसने अपनी निन्दा करते हुए बड़ा पश्चात्ताप किया। और उसी के साथ अग्नि में जल जाने का निश्चय किया। तथा उसने निदान किया कि जो इसका व्रत था वही मेरा भी है और दूसरे जन्म में भी यही मेरा पति हो । उसके बाद उसने आग प्रदीप्त की और उसमें होम सामग्री के समान स्नेह से पूरित शरीर को होम दिया।

विशाला नगरी में विश्वम्भर नाम का राजा राज्य करता था। उसकी पटरानी का नाम विश्वगुणा था। वहीं गुणपाल नाम का सेठ रहता था। उसकी पत्नी का नाम धनश्री था और पुत्रीका नाम सुबन्धु था। गुणपाल सेठ की पत्नी धनश्री गर्भवती हुई और मृगसेन धीवर का जीव उसके गर्भमें आया। राजा विश्वम्भर को विटों की संगति के कारण भाण्डजन बहुत प्रिय थे। अतः उसने नर्मभर्म नामके विदूषक के पुत्र नर्मधर्म के लिए गुणपाल से उसकी समस्त कलाओं में प्रवीण सुन्दरी कन्या की याचना की । दुर्बुद्धि राजा की इस माँग से गुणपाल विचार में पड़ गया । 'यदि विदूषक के पुत्र को कन्या देता हूँ तो अवश्य ही कुल परम्परा का लंघन होता है और अपवाद भी फैलता है। और यदि राजाज्ञा को न मानकर भी यहाँ रहता हूँ तो सर्वस्व अपहरणके साथ-साथ प्राण भी जाते हैं।' ऐसा सोचकर उसने रलजटित करधौनी से शोभित अपनी पत्नीको तो अपने प्रिय मित्र श्रीदत्त सेठ के घरमें रखा और पुत्री को साथ लेकर बाग-बगीचों से शोभित कौशाम्बीपुरी को चला गया। इसी बीच में धनी और गरीब के मकान का भेद न करके चर्या के लिए भ्रमण करते हुए शिवगुप्त और मुनिगुप्त नाम के दो मुनि श्रीदत्तके मकान के सामनेसे निकले । श्रीदत्त के पड़ोस में रहनेवाले गृहस्थ ने उन्हें विधिपूर्वक पड़गाहा । और जब वे भोजन कर चुके तो आँगनमें बैठी हुई धनश्री पर उनकी दृष्टि पड़ी। तेल के बिना स्नान करने से उसका शरीर रूक्ष हो गया था, केवल दो वस्त्र और सधवाके चिह्न स्वरूप बहुत थोड़े अलंकार पहने हुए थी, पति पुत्री और परिजनों के वियोगसे उसका शरीर खेद खिन्न था, गर्भ के भारसे पीड़ित थी, शीतऋतु के निरन्तर आगमन से कुम्हलायी हुई स्थलकमलिनीकी तरह उसकी कान्ति मलिन हो गयी थी, दूसरे के घरमें रहने से मुख की शोभा चली गयी थी। घर के आँगन में बैठी हुई धनश्री को इस रूप में देखकर मुनिगुप्त मुनि बोले- 'इसकी कोख में कोई बड़ा पापी महापुरुष आया जान पड़ता है, जिसके गर्भ में आने मात्र से इस वेचारी की यह दुर्दशा हुई है।' यह सुनकर शिवगुप्त मुनि बोले- 'मुनिगुप्त ! ऐसा मत कहो। यद्यपि यह सेठानी कुछ दिन तक इस तरह पराये घर में रहेगी, फिर भी इसका पुत्र समस्त वैश्यों का स्वामी और अपार सम्पत्तिशाली राजश्रेष्ठी होगा तथा राजा विश्वम्भर की पुत्री को वरण करेगा।' यह बात अपने मकान के बाहर चबूतरेपर खड़े श्रीदत्त ने सुनी। 'मुनियों का कथन झूठा नहीं होता' यह सोचकर श्रीदत्त ने विषधर सर्प की तरह अपना मन अपने दुष्ट संकल्प की ओर लगाया। पूरे दिन होनेपर धनश्री ने पुत्र को जन्म दिया। श्रीदत्त ने सोचा- 'यह बालक आग की तरह अपने आश्रय को ही खाने वाला है। इसलिए माता का इस पर स्नेह उत्पन्न होने के पहले ही इसका गुप्त वध करा डालना श्रेष्ठ है।' प्रसूति के कष्ट से धनश्रीको एकदम बेहोश देखकर उसने

अपने कुटुम्ब की एक बुढ़िया के द्वारा यह प्रसिद्ध करा दिया कि बच्चा मरा हुआ ही पैदा हुआ है। और घूस वगैरह देकर एक चाण्डाल को इस कार्यके लिए तैयार किया तथा उसे बुलाकर उस कुटिल भाषा के रहस्यमें विशारद श्रीदत्त ने उसे मारनेका संकेत करके बालक को सौंप दिया। राहु के समान हाथ के द्वारा सूर्य के समान उस बालक को उठाकर वह चाण्डाल एकान्त स्थान में ले गया। वहाँ पुण्य परमाणुओं के पुंज की तरह इस सुन्दर बालक को देखकर उसे दया आ गयी और प्रसन्न मुख होकर उसने उस बालकको वहीं सुख से लिटा दिया तथा अपने घर चला आया। श्रीदत्त का छोटा बहनोई इन्द्रदत्त श्रेष्ठी व्यापार के लिए उधर गया था। वहाँ उसने शिशु के पास खेलने के लिए आये हुए ग्वाल-बालकों के मुखसे उस बालकका समाचार सुना और वह उस स्थानपर गया। वहाँ उसने अनेक बछड़ों से घिरे हुए उस शिशु को देखा जो ऐसा प्रतीत होता था, मानो अनेक चन्द्रकान्त मणियों के बीच में स्थित लालमणि का खजाना है। उसके कोई पुत्र नहीं था। अतः उसने उसे अपना पुत्र मानकर उठा लिया और पुत्र के लिए अत्यन्त लालायित अपनी पत्नी राधा से बोला- 'राधे! तुम्हारे गूढ गर्भ से इस शिशुने जन्म लिया है।' उसने सर्वत्र यह बात फैला दी और पुत्रोत्पत्ति की खुशी में बड़ा भारी उत्सव किया। श्रीदत्तने कानों-कान यह समाचार सुना और बच्चे को मार डालने के विचार से यमराज की तरह इन्द्रदत्त के घर आया और बोला- 'इन्द्रदत्त ! यह भाग्यशाली भानजा मेरे ही घर में बड़ा होना चाहिए।' यह कहकर बहिन के साथ बच्चे को अपने घर ले आया और पहले की ही तरह मार डालने के लिए उसे वधिक को दे दिया। वह बधिक भी उस बच्चे को लेकर शीघ्र ही एकान्त गुफा की ओर चल दिया। हवाके चलने से जिसके ऊपर से मेघपटलका आवरण हट गया है उस चन्द्रमा के समान नयनाभिराम उस बालक को देखकर उसका हृदय भी दयालु हो गया। और नदीके किनारे वृक्षों के एक झुण्ड में उस बालक को रखकर वह चला गया।

इसके पूर्वोपार्जित पुण्य के प्रभाव से वहाँ भी चरने के लिए जो गायें आयी थीं वे इसे देखते ही आनन्द से रभाती हुई इसके पास चली आयीं और उनके थनों से दूध झरने लगा। सन्ध्या के समय जब सूर्य डूबने लगा तो उन गायों के रखवाले ग्वालों ने यह कौतुक देखा और समस्त ग्वालों के सरदार गोविन्दसे कहा। पुत्र स्नेह वश आनन्द से गद्गद होता हुआ गोविन्द भी उस बालक को घर ले आया और अपनी पत्नी सुनन्दा को सौंप दिया। बालक का नाम धनकीर्ति रखा गया।

धीरे-धीरे बचपन को छोड़कर धनकीर्ति असीम आनन्द को देनेवाली तथा अत्यन्त मनोहर रूपकी दात्री युवावस्थाको प्राप्त हुआ। श्री कृष्णकी तरह युवाजनों के मन को खरीदने के लिये पण्य रूप तारुण्य से विकसित गोपिकाओं के लोचनरूपी भ्रमर उसके लावण्यरूपी मकरन्द का पान करने के लिए आकुल रहते थे। एक दिन घी के व्यापार के निमित्त से श्रीदत्त उधर आ निकला। उसने देखा और गोविन्दसे पूछा कि यह लड़का उसे कहाँ से मिला ? सुनकर श्रीदत्त बोला 'गोविन्द, मुझे अपने घर पर अपने लड़के से कुछ जरूरी बात कहलाना है। अतः इस लड़के को यह पत्र देकर शीघ्र भेज दो।'

गोविन्द ने श्रीदत्तकी बात स्वीकार कर ली। पत्रमें लिखा था- 'माप-तौल में कुशल महाबल! यह लड़का हमारे वंश का विनाश करने के लिए आग के समान है। अतः या तो इसे विष दे देना या मूसल से मार डालना।'

पिता और वैश्यपति की आज्ञा पाकर उस मुद्राङ्कित पत्र को अपने गले में बाँधकर धनकीर्ति उस उज्जैनी नगरी की ओर चल दिया जिसमें उसके द्वारा पूर्व जन्म में उपकृत मछली ने जन्म लिया था। नगरी के निकट पहुँचकर वह नगरी के प्रवेश मार्ग के निकटवर्ती वन में रास्ते की थकान दूर करने के लिए आम की क्यारियों के निकट गहरी नींद में सो गया।

इसी बीचमें वस्त्रालंकार से सुसज्जित, समस्त विद्याओं में निपुण और पूर्व जन्मके उपकार से उपकृत अनङ्गसेना नामक वेश्या पुष्प चयन करके उसी आम के पेड़के नीचे आयी और कामदेव के समान सुन्दर समस्त लक्षणों से युक्त तथा पूर्व जन्म के मित्र धनकीर्ति को देखकर देखती ही रह गयी। उसके कण्ठमें तीन रेखाएँ थीं जो मानो आयु, लक्ष्मी और सरस्वती के आगमन को ही सूचित करती थीं। अचानक अनङ्गसेना की निर्निमेष दृष्टि गले में बँधे पत्र पर पड़ी। उसने उस अशुभ पत्र को खोलकर पढ़ा, और उस निकृष्ट वणिक का हृदय से तिरस्कार करते हुए अपने लोचन रूपी अञ्जन की डिबिया से काजल लेकर उसे लताओं की नयी कोंपलों के रसमें भिगोया तथा चाँदी की सलाई से अथवा तृण से उसी पत्रपर पहले के लेखको मिटाकर दूसरा लेख लिखा जो इस प्रकार था— 'यदि सेठानी मेरे वचनों को मानती है और यदि महाबल मुझे अपना पिता मानता है तथा मेरे वचनों को अनुल्लंघ्य समझता है तो इस धनकीर्ति को, जिसके वंशकी श्रेष्ठता की परीक्षा सात जनों के सामने कर ली गयी है, बिना किसी विचारके अग्नि की साक्षी पूर्वक दहेज के साथ श्रीमती को सौंप देना।' पहले की ही तरह इस लेख को उसके गले में बाँधकर अनङ्गसेना चली गयी। धनकीर्ति बहुत देर तक गहरी नींद में सोता रहा। फिर उठकर

श्रीदत्त के घर पहुंचा और माता सहित महाबल को पत्र देकर श्रीमती का पति बन गया। श्रीदत्त इस समाचार को सुनकर शीघ्र ही लौट आया और राजधानी के बाहर स्थित चण्डीदेवी के मन्दिरमें धनकीर्ति को मारनेके लिए एक सशस्त्र मनुष्य को तथा कुत्सित काम करने में पिशाचीसमान देवीको नियुक्त करके घर आया। और एकान्त में धनकीर्ति को बुलाकर वह कपटी बोला-'वत्स ! मेरे कुल की ऐसी रीति है कि जिस कन्या का नया विवाह होता है उसका पति रात्रि के समय कुसुम्भे के रंग से रंगे हुए वस्त्र पहनकर स्वयं ही चण्डी के मन्दिरमें उड़द से बने हुए मोर और कौवे की बलि देता है।'

'जैसी आज्ञा' कहकर धनकीर्ति कुलदेवता को अर्पित करने की सामग्री लेकर घर से निकला। सामने से आते हुए उसके साले महाबल ने उसे देखा और पूछा- 'धनकीर्ति ! इस अन्धेरी रात में अकेले कहाँ जाते हो ?' ।

'महाबल ! मामा की आज्ञा से बलि देने के लिए दुर्गा के मन्दिर को जाता हूँ।'

'यदि ऐसा है तो तुम्हारा जाना ठीक नहीं है। नगरके आदमी क्या कहेंगे ! अतः तुम घरको लौट जाओ। देवी को यह भेंट समर्पित करने के लिए मैं जाता हूँ। यदि पिताजी रुष्ट होंगे तो उनके रोष को मैं दूर कर दूंगा।'

इस बातचीत के बाद धनकीर्ति घर को चला गया और महाबल यमराज के पेटमें समा गया।

पुत्र-मरण के शोक से विह्वल होकर श्रीदत्त ने अपनी पत्नी विशाखा से सब समाचार कह दिया और बोला--सब गृहकार्यों के करने में चतुर सेठानी! यह अभाग मेरे वंश का अनिष्ट करने वाला है, इसके मारने का जो-जो उपाय किया जाता है वही व्यर्थ हो जाता है। इसे कैसे मारना चाहिए।'

'सेठजी ! अविचार के कारण आपके सब उपाय व्यर्थ हुए। अतः बिलाव से डरे हुए मुर्गे के बच्चे की तरह आप चुप होकर बैठो। आपकी सब इच्छाएँ पूर्ण होंगी।' ।

दूसरे दिन सेठानी ने अपने पति के जीवनको नष्ट करने वाले लड्डूओं में जहर मिलाकर अपनी पुत्री श्रीमती से कहा--'पुत्री ! ये जो सफेद कमल की तरह स्वच्छ लड्डू हैं इन्हें अपने पति को देना और ये जो काले धान्य के समान काले रंग के लड्डू हैं इन्हें अपने पिताको देना । '

इतना कहकर सेठानी नदी में स्नान करने चली गयी। श्रीमती को माता के चित्तकी कुटिलता का पता नहीं था। उसने सोचा कि जो सुन्दर लड्डू हैं उन्हें पूज्य पिता को देना चाहिए। अतः उसने जहर मिले सफेद लड्डू तो पिता को दिये और काले लड्डू अपने पति को दिये। जब विशाखा लौटी तो उसका पति मर चुका था। वह बहुत रोई फिर बोली-'पुत्री ! महामुनियों का कथन कैसे झूठा हो सकता है ? तेरे पिता ने और मुझ वृद्धा ने अपने वंश का नाश करने के लिए ही यह गढ़ा खोदा था। अब रोने से क्या होता है ? कल्पवृक्ष के साथ कल्पलता के समान तू अपने इस दैवरक्षित पति के साथ कल्पकाल तक ऐश्वर्य और इन्द्रिय सुखको भोग।' ऐसा आशीर्वाद देकर उसने भी एक जहरीला लड्डू खा लिया और पति की अनुगामिनी बन गयी।

इस प्रकार पूर्व उपार्जित पुण्य के प्रताप से पाँच भयानक विपत्तियों से बचकर धनकीर्ति अपने ही द्वारा की गयी दुर्भावनाओं के कारणसे सास और श्वसुर के चल बसने पर प्रतिदिन सम्पत्तिशाली होने लगा। एक दिन राजा विश्वम्भर ने उसे देखा। उसका सौन्दर्य देखकर राजा को बहुत अचरज हुआ। उसने उसके साथ अपनी पुत्री का विवाह कर दिया और उसे वैश्यों का अधिपति बना दिया। धनकीर्ति के पिता गुणपाल ने लोगों के मुख से जब अपने पुत्र के अभ्युदय का समाचार सुना तो वह कौशाम्बी नगरी से उज्जयिनी आकर आश्चर्यजनक सम्पत्तिशाली पुत्रसे मिला ।

एक बार मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ज्ञानके धारी श्री यशोध्वज मुनिराज वहाँ पधारे। गुणपाल सेठ, सकुटुम्ब धनकीर्ति और उससे मिलने के लिए आयी हुई अनंगसेना के साथ मुनिराज के दर्शन के लिए गया, और उन्हें नमस्कार करके विनयपूर्वक बोला—'भगवन् ! धर्ममूर्ति धनकीर्ति ने पूर्व जन्ममें कौन-सा पुण्य कमाया था, जिसके कारण बचपन में भी यह उन कष्टों को पार कर गया जो दैव के द्वारा ही दूर किये जा सकते थे तथा इस जन्म में इसने बड़ी भारी सम्पत्ति और सौन्दर्य पाया, सूर्यके तेज की तरह देवों से भी न रोका जा सकनेवाला इसे तेज प्राप्त हुआ। इसके सिवाय महापुरुषों के योग्य अन्य भी गुण इसे प्राप्त हो सके। जैसे, यह बड़ा दानी है, प्रियवादी है, सत्कर्म करता है, मित्रता के उपयुक्त है, स्वप्न में भी स्वजनों के मन को कष्ट नहीं पहुँचाता और स्त्रियों के लिए तो मानो कामदेव ही है। इसलिए भगवन् ! समस्त शास्त्रों में प्रवीण और स्वभाव से ही समस्त कुटुम्बीजनों से मीठे वचन बोलने वाले इस वैश्यपति धनकीर्ति के पूर्वोपार्जित पुण्यको कथा कहें। इसकी कथा सुनकर सबके मन प्रफुल्लित होंगे।'

मुनिराजने धनकीर्ति के पूर्व जन्म की कथा कह सुनायी और बोले- 'इसके पूर्वभव की पत्नी घण्टा यह निदान करके कि 'जो इसका व्रत है वही मेरा भी व्रत है और मैं दूसरे भवमें भी इसकी पत्नी होऊँ ' अग्निमें जल मरी थी। वही मरकर श्रीमती हुई है। और जो मछली थी जिसे मृगसेन धीवर ने जलमें छोड़ दिया था, वह पूर्व पर्याय को छोड़कर अनङ्गसेना हुई है। अतः एक दिन हिंसा न करने का यह फल इस महाभाग को मिला है।

' पूर्वभव के इस वृत्तान्तको सुनकर धनकीर्ति, श्रीमती और अनङ्गसेना ने केशलोंच करके उन्हीं मुनिराज के पास में जिनदीक्षा ले ली। और अपनी अपनी शक्ति के अनुसार तप ग्रहण करके जैनमार्ग के अनुसार चिरकाल तक रत्नत्रय का आराधन किया। तथा अन्त में विधिपूर्वक निर्विघ्न समाधि मरण करके धनकीर्ति तो सर्वार्थसिद्धि में देव हुआ और श्रीमती तथा अनङ्गसेना स्वर्गलोक में उत्पन्न हुई। इस कथा के विषयमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है -

पञ्चकत्वः किलैकस्य मत्स्यस्याहिंसनात्पुरा ।

अभूत्पश्चापदोऽतीत्य धनकीर्तिः पतिः श्रियः ॥363॥

"पूर्व जन्ममें पाँच बार एक मछली को न मारने से धनकीर्ति पाँच बार आपत्ति से बचकर लक्ष्मी का स्वामी बना" ॥363॥

इत्युपासकाध्ययने अहिंसाफलावलोकनो नाम षड्विंशः कल्पः ।

इस प्रकार उपासकाध्ययन में अहिंसा का फल बतलाने वाला छब्बीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

चोरी का फल

सत्ताईसवाँ कल्प

ग्रन्थ :

(अब चोरी न करने का उपदेश करते हैं)

अदत्तस्य परस्वस्य ग्रहणं स्तेयमुच्यते ।

सर्वभोग्यात्तदन्यत्र भावात्तोयतृणादितः ॥364॥

पानी, घास वगैरह जो वस्तु सब के भोगने के लिए हैं उनके सिवा शेष सब विना दी हुई परवस्तुओं को ले लेना चोरी है ॥364॥

शातीनामत्यये वित्तमदत्तमपि संमतम् ।

जीवतां तु निदेशेन व्रतक्षतिरतोऽन्यथा ॥365॥

यदि कोई ऐसे कुटुम्बी मर जायें जिनका उत्तराधिकार हमें प्राप्त है तो उनका धन बिना दिये हुए भी लिया जा सकता है। किन्तु यदि वह जीवित हों तो उनकी आज्ञा से ही उनका धन लिया जा सकता है। उनकी जीवित अवस्था में ही उनसे पूछे बिना उनका धन ले लेने से अचौर्याणुव्रत की क्षति होती है ॥365॥

संक्लेशाभिनिवेशेन प्रवृत्तिर्यत्र जायते।

तत्सर्वं रायि विशेषं स्तेयं स्वान्यजनाश्रये ॥366॥

अपना धन हो या दूसरों का हो, जिसमें चोरी के भाव से प्रवृत्ति की जाती है तो वह सब चोरी ही समझना चाहिए ॥366॥

रिक्थं निधिनिधानोत्थं न राक्षोऽन्यस्य युज्यते।

यत्स्वस्यास्वामिकस्येह दायादो मेदिनीपतिः ॥367॥

जमीन वगैरह में गड़ा हुआ धन राजा का होता है किसी दूसरे का नहीं। क्योंकि जिस धन का कोई स्वामी नहीं है उसका स्वामी राजा होता है ॥367॥

आत्मारजितमपि द्रव्यं द्वापरायान्यथा भवेत् ।

निजान्धयादतोऽन्यस्य व्रती स्वं परिवर्जयेत् ॥368॥

अपने द्वारा उपार्जित द्रव्य में भी यदि संशय हो जाये कि यह मेरा है या दूसरे का, तो वह द्रव्य ग्रहण करने के अयोग्य है अतः व्रती को

अपने कुटुम्ब के सिवा दूसरों का धन नहीं लेना चाहिए ॥368॥

मन्दिरे पदिरे नीरे कान्तारे धरणीधरे ।

तन्नान्यदीयमादेयं स्वापतेयं व्रताश्रयैः ॥369॥

अतः मकान में, मार्ग में, पानी में, जंगल में या पहाड़ में रखा हुआ दूसरों का धन अचौर्याणुव्रती को नहीं लेना चाहिए ॥369॥

पौतर्वन्यूनताधिक्ये स्तेनकर्म ततो ग्रेहः ।

विग्रहे संग्रहोऽर्थस्यास्तेयस्यैते निवर्तकाः ॥370॥

बाँट तराजू का कमती-बढ़ती रखना, चोरी का उपाय बतलाना, चोरी का माल खरीदना, देश में युद्ध छिड़ जाने पर पदार्थों का संग्रह कर रखना, ये सब अचौर्याणुव्रत के दोष हैं ॥370॥

रत्नरत्नाङ्गरत्नस्त्रीरनाम्बरविभूतयः।

भवन्त्यचिन्तितास्तेषामस्तेयं येषु निर्मलम् ॥371॥

जो निर्दोष अचौर्याणुव्रत को पालते हैं उनको रत्न, सोना, उत्तम स्त्री, उत्तम वस्त्र आदि विभूति स्वयं प्राप्त होती है, उसके लिए उन्हें चिन्ता नहीं करनी पड़ती ॥371॥

परप्रमोषतोषेण तृष्णाकृष्णाधियां नृणाम् ।

अत्रैव दोषसंभूतिः परत्रैव च दुर्गतिः ॥372॥

जो मनुष्य दूसरों की वस्तुओं को चुराकर प्रसन्न होते हैं, तृष्णा से कलुषित बुद्धि वाले उन मनुष्यों में इसी जन्म में अनेक बुराइयाँ पैदा हो जाती हैं और दूसरे जन्म में भी उनकी दुर्गति होती है ॥372॥

चोरी में आसक्त श्रीभूति पुरोहित की कथा

श्रूयतामत्र स्तेयफलस्योपाख्यानम्-प्रयागदेशेषु निवासविलासवारलाप्रलापवाचालितविलासिनीनूपुरे सिंहपुरे

समस्तसमुद्रमुद्रितमेदिनीप्रसाधनसेनः पराक्रमेण सिंह इव सिंहसेनो नाम नृपतिः। तस्य निखिलभुवनजनस्तवनोचितवृत्ता रामदत्ता

नामाग्रमहिषी। सुतौ चानयोरश्वर्यसौन्दर्यौदार्यपरितोषितानिमिषेन्द्रौ सिंहचन्द्र-पूर्णचन्द्रौ नाम । निःशेषशास्त्रविशारदमतिः श्रीभूतिरस्य

पुरोहितः सूनृताधिकधिषणतया सत्यघोषापरनामधेयः ।

धर्मपत्नी चास्य पतिहितैकचित्ता श्रीदत्ता नामाभूत् ।

स किल श्रीभूतिर्विश्वाससरसनिर्विघ्नतया परोपकारनिघ्नतया च विभक्तानेकापवरकरचनाशालिनीभिर्महाभाण्डवाहिनीभिर्गोशालोपशल्याभिः

कुल्याभिः समन्वितमतिसुलभजलयवसेन्धनप्रचारं भण्डनारम्भोद्भटर्भटीरपेटकपक्षरक्षासारं गोरुतप्रमाणं

वप्रपाकारप्रतोलिपरिखापरिसूत्रितत्राणं प्रपासत्रसभासनाथवीथिनिवेशनं पण्यपुटभेदनं विदुरितकितवटिविदूषकपीठमर्दावस्थानं

पेण्ठास्थानं विनिर्माप्य नानादिदेशोपसर्पणयुजां वणिजां "प्रशान्तशुल्कभाटकभागहारव्यवहारमचीकरत् । __अत्रान्तरे

पमिनीखेटपट्टनविनिविष्टावासतन्त्रस्य सुदत्ताकलनचरित्रपवित्रितगोत्रस्य वणिकपतेः सुमित्रस्य निजसनाभिजनाम्भोजभानुः सूनुर्भद्रमित्रो

नाम समानधनचारित्रैर्वणिकपुत्रैः "सत्रं "वहित्रयात्रायां यियासुः -

चोरी के फल के सम्बन्ध में एक कथा है उसे सुनें प्रयागदेश के सिंहपुर नामक नगर में सिंह की तरह पराक्रमशाली सिंहसेन नाम का राजा राज्य करता था। उसकी पटरानी का नाम रामदत्ता था। उनके आश्चर्यजनक सौन्दर्य और उदारता से देवों के इन्द्र को भी सन्तुष्ट करने वाले सिंहचन्द्र और पूर्णचन्द्र नाम के दो पुत्र थे। समस्त शास्त्रों में कुशल श्रीभूति राजा का पुरोहित था। सत्य की ओर अधिक रुझान होने के कारण उसका नाम सत्यघोष पड़ गया था। उसकी धर्मपत्नी का नाम श्रीदत्ता था। वह सदा पति का हित चाहती थी। श्रीभूति पुरोहित का सब विश्वास करते थे और वह सदा परोपकारमें लगा रहता था। उसने एक बाजार बनवाया था। उसमें अनेक गलियाँ थीं, जिनमें अनेक दूकानें बनी हुई थीं, जो माल से भरी रहती थीं और उनके पास में ही गोशालाएँ बनी हुई थीं। पानी, घास व ईंधन वगैरह बहुत सहूलियत से मिल जाता था। लड़ने के लिए तत्पर अनेक सुभट वीर उसकी रक्षा करते थे। दो कोसका उसका विस्तार था। खाई, कोट, गली-चा आदि से सुरक्षित था। मार्गों में प्याऊ और सदाव्रतशालाएँ बनी हुई थीं, धूर्त, जार और विलासी पुरुषों से रहित था। उसमें नाना देशों के व्यापारी व्यापार के लिए आते थे। उनसे बहुत थोड़ा टैक्स, भाड़ा और दान लिया जाता था। एकबार पद्मिनीपुर के निवासी, सुदत्ता नाम की सुशील स्त्री के पति, वणिक पति सुमित्र के पुत्र भद्रमित्र ने धन और चारित्र में अपने समान अन्य वणिक पुत्रों के साथ समुद्र-यात्रा करनेकी इच्छा की। नीति में कहा है--

पादमीयानिवि कुर्यात्पादं वित्ताय कल्पयेत् ।

धर्मोपभोगयोः पादं पादं भर्तव्यपोषणे ॥373॥

अपनी आमदनी का एक चौथाई तो जमा करके रखना चाहिए। एक चौथाई से व्यापार करना चाहिए। एक चौथाई धार्मिक कार्यों और भोग में खर्च करना चाहिए और एक चौथाई से अपने आश्रितोंका पालन करना चाहिए ॥373॥

'कक्षमनुगताप्तकं रलसप्तकं निधाय विधाय च जलयात्रासमर्थमर्थमेकवर्णप्रजाप्रलापसुवर्णद्वीपमनुससार। पुनरगण्यपण्यविनिमयेन तत्रत्यमचिन्त्यमात्माभिमतवस्तुस्कन्धमादाय 'प्रत्यावर्तमानस्यादरसागरावसानस्याकाण्डप्रचण्डबलादनिलात्परिवर्तितपोतपात्रस्य यद्भविष्यत्तयाँ आयुषः शेषत्वात्तस्यैकस्य प्रमादफलकावलम्बनोद्यतस्य कण्ठप्रदेशप्राप्तजीवितस्य कथंकथमपि क्षणदायाः क्षयिणि चरमयामक्षणेऽधिरोधोपलब्धिर्भवत् । १ ततोऽसौ सुखैधितशरीरत्वादपाराकूपारक्षारवारिवशवशिकाशयधिरायापचितमूर्योदयः करप्रचारचूर्णितचक्रवाकचिन्तामणौ प्रागचलचूलिकाचक्रवालचूडामणौ कमलिनीकुलविकासाहितहंसवासिताशमणि विश्वकर्मणि देर नलिनान्तरालरुचिरे लोचनगोचरे संजाते सति बान्धवजनमरणावविणे संद्रवणाचातीवान्तर्मनस्तयोँ छातच्छायकायः पेटंचरचेलचीरीनिचिताङ्गशेकेटिः कर्पटिः परपस्त्योपास्तिनिरस्ताभिमानावनिरवैतनिः सन् क्रमेण सिंहपुरं नगरमागत्य गीम्रावसेयपूर्वपर्यायस्तं महामोहरसोत्सारितप्रीतिः" श्रीभूतिमभिक्षानाधिकवाक्यो माणिकसप्तकमयाचत । परप्रतारणाभ्यस्तभुतिगीतिः श्रीभूतिः --

इस नीति को मानकर भद्रमित्र ने अपने संचित धन को किसी सुरक्षित स्थान में रखने का विचार किया और सोच-विचार कर समस्त लोक में अति विश्वस्त माने जाने वाले उसी श्रीभूति के हाथ में उसकी पत्नी के सामने अत्यन्त मूल्यवान् सात रल सौंपकर जल-यात्रा में समर्थ एक जहाज के द्वारा सुवर्ण द्वीप को चल दिया ।

वहाँ बहुत-सा माल बेचकर तथा उसके बदले में वहाँ की बहुत-सी मनपसन्द वस्तुएँ खरीद कर वह घरके लिए लौटा । जब समुद्र का किनारा थोड़ी दूर रह गया, बड़ी जोर का तूफान आ गया और उससे उसका जहाज उलट गया। दैववश आयु शेष होने से उसे जहाज का टूटा हुआ एक लकड़ी का पटिया मिल गया और उसने उसे पकड़ लिया। उसे पकड़े-पकड़े जब उसके प्राण कण्ठ में आ गये तब जिस किसी तरह रात्रि का अन्तिम पहर बीतते-बीतते उसे समुद्र का किनारा मिल गया।

एक तो वणिक पुत्र जन्म से ही सुखमें पला था दूसरे अपार समुद्र के खारी पानी ने उसे धनशून्य ही नहीं संज्ञाशन्य भी बना दिया था। अतः किनारे पर लगकर वह बहुत देर तक मूर्छित पड़ा रहा । जब सूर्योदय हुआ तो उसकी आँख कमलों की तरह कुछ खुलीं । बन्धुजनों के मर जाने और धन के नष्ट हो जाने से उसका मन बहुत दुखी था और मुख पीला पड़ गया था। जिस किसी तरह फटे हुए वस्त्र के टुकड़े से अपने शरीर को ढाँककर वह वहाँ से उठा।

दूसरों की चाकरी करते-करते उसका सब अभिमान जाता रहा । अन्तमें आजीविका के न मिलने से घूमता-घूमता सिंहपुर पहुंचा और श्रीभूति के पास जाकर उससे अपने सात रत्न माँगे। इस समय उसकी दशा बिलकुल हीन थी। उसकी पूर्व दशा को उसके बचन से ही जाना जा सकता था । अन्य कुछ प्रमाण उसके पास नहीं था। अतः दूसरों को ठगने में कुशल श्रीभूति ने सोचा --

सुप्रयुक्तेन दम्भेन स्वयंभूरपि वज्यते ।

का नामालोचनान्यत्र संवृत्तिः परमा यदि ॥374॥

'यदि अच्छी तरह से छलका प्रयोग किया जाये तो ब्रह्मा को भी ठगा जा सकता है। और यदि दूसरे मनुष्य में बड़ा परिवर्तन हो गया हो तब तो आलोचना की बात ही दूर है' ॥374॥

' इति परामृश्य महाघवाघ्रातचेतास्तमायातशुवमेवमवोचत्- 'अहो दुर्दुरुट किराट, किमिह खलु त्वं केनचित्पिशाचेन छलितः, किमु मनोमहामोहावहानुरोधेन मोहनौषधेना तिलहितः, किंवा कितवव्यवहारेषु हारितसमस्तचित्तवृत्तिः, उत अहो परचित्तवज्जनपिशाचिकया कयाचिल्लजिकयाँ जनितदुष्प्रवृत्तिः, आहोस्वित्फलवतः पादपस्येव श्रीमतः क्रियमाणोऽभियोगो न खलु किमपि फलमसंपाद्य विश्राम्यतीति चेतसा केनचौघसा विप्रलब्धबुद्धिर्येनैवमतिविरुद्धमभिघत्से । काहम् , क भवान् , क मणयः, कश्चावयोः सम्बन्धः । तत्कूटकपटचेष्टिताकर पट्टनपोटघर, अणकपणिक, सकलमण्डलप्रतीतप्रत्ययिकशीलमति"वेलमेवं मामकाण्डे चण्डकर्मन्पर्यनुयुजानः कथं न लजसे' ।

पुनश्चैनमर्थप्रार्थनपथमनोरथविशालं शब्दालं" बलात्पोलिन्दमन्दिरमनुचरैरानाय्यानायमतिः', 'देव, अयं वणिनिष्कारणमस्माकं

दुरपवादमृदङ्गवन्मुखमुखः सुखेनानस्तितस्तानक इवासितुं न ददाति' इत्यादिभि रुदितैरवाप्तप्रसरतयोत्तेजितराजहृदयस्तथैव पृथिवीनाथेनापि निराकारयन्त । भूमित्रः 'चित्रमेतभनु यन्मामपि परविप्रेलम्भाय कुलक्रमायाताखिलकमलानिलयमनन्यसामान्यसाहसालयमेष मोधिषणानिधिरपर इवापायजलनिधिनगरमध्येऽपि मोषितुमभिलषति' इति जातामर्षोत्कर्षस्तं न्यासार्पणेऽतिचिक्कर्णचित्तं निश्चित्य स्वाध्यायिपरिषदि महापरिषदि च तदन्यायोपविन्यासेन साध्यसिद्धिमनवबुद्धयानंधीनधीः अशङ्कथुकमतिर्महादेवीधामनेमें निवेशमल्लिकानोकहशिखादेशमारुह्यापद्भयः "कुररीविरहावसरः कुरर इव तस्विनीप्रथमपश्चिमयामसमये 'सुहृदराहुतिः श्रीभूतिरेवंविधकरण्डकविन्यस्तम्, इयसंस्थानसम्, एतद्वर्णम्, अदः संख्याभ्यर्ण व मदीयं मणिगणमुपनिधिनिधेयं न प्रतिददातीत्यत्र चास्यैव धर्मरमणी साक्षिणी । यदि च यवदतयैतदन्यथा मनागपि भवति तदा मे चित्रवधो विधातव्यः' इति दीर्घघोषपूर्णितमूर्धमध्यमूर्वबाहुः सर्वतुपरिवर्ताथ पूत्कुर्वन्नेकदा नगराङ्गनाजनस्य चन्द्रामृतपात्रयन्त्रधारागृहावगाहगौरितजगत्त्रयं कौमुदीमहोत्सवसमयमालोकमानया तमलोत्सङ्गसमासीनया" निपुणिकाभिधानोपसवित्री समेतया अनाथलोकलोचनचकोरकौमुदीकल्पवृत्तया रामदत्त्या करुणारसप्रचारपदव्या महादेव्याकर्णितोऽनुक्रोशाभिनिवेशानिर्वर्णितश्च । । तदस्मन्मनःसंधात्रि धात्रि, न खल्वेष मनुष्यः पिशाचपरिप्लुतो नाप्युन्मत्ताचरितो यतस्तं दिवसमादिं कृत्वा सकलमपि परिवत्सरदलमेकवाक्यव्याहाराकुण्ठपाठकठोरकण्ठनालः । तद्विचारयेयं तावदचिरकालं 'शारविशारहृदयाम्बुजस्य एतत्कीडाव्याजेन मन्त्ररन्तःकरणम् । अम्बिके, स्वयापि 'पतदेवनावसरे यद्यहमेनमनेककुचराचारनिचितचित्तमतिबाहुकुटिचेष्टितं बकोटवृत्तमुदन्तजातं पृच्छामि, यद्यचास्य कटकोर्मिकांशुकादिकं जयामि, तत्तदेवाभिमानिकृत्य मृगीमुखव्याघ्रीसमाचारकुट्टनी श्रीदत्ता भटिनी तिमितीकातरुभाजोऽस्य वणिजो विषमरुचिमरीचिसंख्यासंपन्नानि" रत्नानि याचयितव्या इति निपुणिकायाः कृतसंगीतिः श्वस्येऽहनि' 'सदैव मदीयहृदयानन्ददुन्दुभे दुन्दुभे, त्वयापि भगवत्या साधु विजृम्भितव्यम्, यद्यस्य चिञ्चापुरुषस्यास्ति सत्यता' इत्यध्येष्य" तथैवाचरिताचरणा शतशस्तत्तदभिज्ञानशापनानुबन्धतन्त्रात्तत्कलत्रान्मणीनुपप्रणीय" राक्षः समर्पयामास । स राजाद्भुतांशी स्वकीयरत्नराशौ तानि संकीर्य आकार्य चैनमासन्नलक्ष्मीकल्पलताविलासनन्दनं वैदेहकनन्दनम्, 'अहो वणिक्तनय, यान्यत्र रत्ननिचये तव रत्नानि सन्ति तानि त्वं विचिन्त्य गृहाण' इत्यभाणीत् । भद्रमित्रः 'चित्राय ननु दिष्टेया वर्धेऽहम्' इति मनस्यभिनिविश्य 'यथादिशति विशांपतिः' इत्युपादिश्य विमृश्य च तस्यां माणिक्यपुऔर निजान्येव मनाविलम्बितपरिचयचित्ररत्नानि रत्नानि समग्रहीत् । ततः स नरवरः सपरिवारः प्रकामं विस्मितमतिः 'वणिक्पते, त्वमेवात्रान्वर्ततः सत्यघोषः, त्वमेव च परमनिस्पृहमनीषः, यत्तव चेतसि वचसि च न मनागप्यन्यथाभावः समस्ति' इति प्रतीतिमिः पारितोषिकप्रदानपुरःसरप्रकृतिभिस्तत्तदोपयिकोपचितिवसतिभिश्च भणितिभिस्तमखिलब्रह्मस्तम्बस्तिभीविजम्भमाणगुणस्तोत्रं भद्रमित्रं कथंकारं न श्लाघयामास । पुनरदूरीशिवतातिं श्रीभूति निखिललोकलपनालवालमूलकोली तालताश्रयशाखिनं न्युब्जाननं निसर्गेण हरिणीसमच्छायमपि महासाहसानुष्ठानात्सूर्मीसमानकायमनल्पवैलक्ष्यस्फुटदास्वनितमतीवभयाविभूतोत्पथवेपथुस्तिमितमवेक्ष्य बह्वाक्षेपम्, 'श्राः सोमपायिनामपक्तिय' वैधेय', विश्वासघातपातकप्रसव श्रोत्रियकितव दुराचार प्रवर्तितनूनरलापहार, कुसिककुलपांसन, बकानुष्ठानसदन, साधुजनमनःशेकुनिबन्धनायातनुतन्त्रीजालमिव खलु तवेदं यज्ञोपवीतम् । असदाचारावधिक वेदवैवधिक', सद्धर्मधामध्यामलताविधानाय विश्वभोजः समेधैर्न, अकृत्यचैत्य वात्योमात्य जरायमदूतिकोपैतिक दुर्गतिक, किमात्मनो न पश्यसि चर्मितरुत्वचमिवातिप्रवृद्धविश्रो वात्योन्माथशिलिलितां, 'प्रभातप्रदीपिकामिवास्तासन्नजीवितरविमङ्गच्छवि येनाधावियोधसि पयसि वर्तमान इव चेष्टसे । तदिदानीं यदि घनाभिघारघोरतेजसि विश्ववेदसि निक्षिप्यसे, तदा चिरोपचितदुराचारप्रहस्य स तवाचिरदुःखदायिपरिग्रहोऽनुग्रहो इव । ततो द्विजापसद, कदाचित्त्वयेदमति दुर्गन्धगोर्वरोर्द्वर्तितमध्याशयं शालाजिरत्रयमशितव्यम्, नो चेदशरोलबलोत्कुलगलानां मलानां त्रयस्त्रिंशदपहस्तप्रहतानि सहितव्यानि । ध्रुवमन्यथा तव सर्वस्वापहारः।' प्रणाशावकाशविभूतिः श्रीभूतिराद्यनयं दण्डवयं क्रमेणातितिक्षमाणः 'पर्याप्तसमस्तद्रविणः क्रिमिकिर्मोरपरिषत्परिकल्पितमाष्टिः, कृतकलशकपालमालावासिकसृष्टिरुत्सृष्टं सरावनपरिष्कृतः पुरोदवालवालेयकमारोह्य सनिकारं निष्कासितः पापविपाकोपपन्नाप्रतिष्फुटो दुष्परिणामकनिष्ठः शुभाशयारण्यविनाशमहसि "हिरण्यरेतसि तनुविसर्गादतिरौद्रसर्गादाहेयेऽम्बेवाये प्रादुर्भूय चिरायापराध्ये च प्राणिषु जातजीवितावधिरधःप्रधाननिधिर्बभूव । भवति चात्र श्लोकः -- ऐसा विचारकर वह महातृष्णालु उस शोकमग्न वणिक्पुत्र से इस प्रकार बोला- 'अरे दुराग्रही नीच वणिक् ! क्या तुझे किसी पिशाच ने छला है ? या मन को मोहित करने वाली किसी मोहन औषध ने तुझे बदहोश कर दिया है ? या जुए में अपनी चित्तवृत्ति को भी हार गया

है ? या दूसरों के मनको ठगनेवाली किसी दुराचारिणी ने तेरी यह दुर्गति की है ? या 'फलवान वृक्ष की तरह किसी श्रीमान के विरुद्ध लगाया गया अभियोग बिना फल दिये नहीं रहता' इस विचार से किसी दुर्बुद्धिने तुझे ठगा है जिससे तू ऐसी बेसिर-पैर की बात बोलता है ? कहाँ मैं, कहाँ तू, कहाँ रत्न ? हमारा तुम्हारा सम्बन्ध ही क्या ? छल-कपट में चतुर, नगरचोर, निन्दनीय वणिक ! सर्वत्र देशों में मेरी विश्वसनीयता की ख्याति है। इस तरह असमय में मुझसे पूछते हुए तुझे लज्जा नहीं आती ?'

इसके पश्चात् उस पिशाच श्रीभूति ने अपने रत्न प्राप्त करने के लिए चिल्लाते फिरते उस वणिक पुत्र को जबरदस्ती नौकरों के द्वारा राजमन्दिर में बुलवाकर राजासे कहा—'महाराज ! यह वणिक व्यर्थ ही सर्वत्र हमारा अपवाद करता फिरता है । ना नाथके बैल की तरह सुखसे बैठने भी नहीं देता।' इत्यादि बातों के द्वारा उसने राजा का हृदय भी उसकी ओर से उत्तेजित कर दिया। और राजा के द्वारा भी उसे महल से निकलवा दिया।

तब भद्रमित्र विचारने लगा- 'मेरे घर में वंश परम्परा से लक्ष्मी का निवास चला आता है, तथा मैं असाधारण साहसी भी हूँ फिर भी आश्चर्य है कि यह पक्का ठग नगर के बीच में ही मेरा माल हड़प लेना चाहता है।' यह सोचकर उसे बड़ा क्रोध ही आया। उसे निश्चय हो गया कि श्रीभूति मेरी धरोहर को कभी नहीं देगा तथा समझदारों और धर्माधिकारियों के सामने उसके अन्यायको रखने से भी कुछ लाभ नहीं होगा। तब उस बुद्धिशाली ने एक दूसरा उपाय किया।

राजा की पटरानी के महलके समीप एक इमली का वृक्ष था। रात के समय वह उसकी चोटी पर चढ़ जाता और जैसे सारसी के विछोह में सारस चिल्लाता है उस तरह रात्रि के प्रथम और अन्तिम पहर में हाथ ऊपर उठाकर बड़े जोर से चिल्लाता--"मेरा पूर्व मित्र किन्तु अव शत्रु श्रीभूति अमुक प्रकारकी पेटीमें रखे हुए, अमुक आकार और अमुक रंग के तथा अमुक संख्यावाले मेरे रत्नोंको नहीं देता । मैंने उसके पास धरोहरके रूपमें रखे थे । इसकी साक्षी उसी की धर्मपत्नी है। यदि मेरा कथन रंच मात्र भी असत्य हो तो मुझे मरवा दिया जाये।"

ऐसा चिल्लाते-चिल्लाते उसे छह माह बीत गये। एकबार अनाथ लोगों के लोचनरूपी चकोर के लिए चाँदनी के समान आचरण वाली दयावती राजमहिषी रामदत्ता कौमुदी महोत्सव देखती थी ।उसके पास में उसकी धाय निपुणिका बैठी थी। उस समय रामदत्ता ने उस वणिककी पुकार सुनी और दयापूर्ण भाव से अपनी धाय से बोली 'धाय ! न तो यह मनुष्य पिशाच से ही ठगा गया है और न इसका आचरण पागलों के जैसा ही है। क्योंकि उस दिन से लेकर पूरे छह माह तक यह एक ही बात चिल्लाता है। अतः धूर्त क्रीडा के शौकीन श्रीभूति के साथ धूर्त क्रीडा के बहाने से उसके मनकी बात शीघ्र जाननी चाहिए । जुआ खेलते समय मैं उस अनाचारी बगुला भगत से जो-जो बात पूछू तथा जो उसके कंकण, अँगूठी, वस्त्र वगैरह जीतूँ उन सबको प्रमाण रूप से उपस्थित करके तुम्हें उस मृगी के समान मुख किन्तु सिंहनी के समान आचरणवाली कुटनी श्रीदत्ता से इमली के वृक्षपर चढ़े हुए इस वणिकके सात रत्न माँग लाने चाहिए।'

इस प्रकार निपुणिका को समझाकर दूसरे दिन रानी ने हे मेरे हृदय को आनन्द देनेवाले पाशदेवता ! यदि इस इमली के वृक्षवाला मनुष्य सच्चा है तो तुम्हें भी उसमें सहायता करनी चाहिए ऐसी प्रार्थना करके वैसा ही किया और बार-बार जुए में जीते हुए पदार्थों को प्रमाण रूप से उपस्थित करके श्रीभूति की पत्नीसे रत्न माँग लिये तथा उन्हें राजा को दे दिया । राजा ने उन रत्नों को अपने अद्भुत रत्नों में मिलाकर उस वणिक-पुत्रको बुलाया और कहा--'वणिक-पुत्र ! इन रत्नों में-से जो रत्न तुम्हारे हों उन्हें चुनकर ले लो।' 'चिरकालके बाद मेरा भाग्योदय हुआ है' ऐसा मनमें सोचकर भद्रमित्र बोला- 'जो आज्ञा महाराज । ' चूंकि रत्नों को देखे हुए बहुत दिन हो गये थे इसलिए उन्हें चुनने में थोड़ा समय लगा। किन्तु उसने विचारकर उन रत्नों में-से अपने रत्नोंको खोज लिया।

यह देखकर सपरिवार राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। वह बोला-'वणिकपति ! तुम ही वास्तव में सत्यघोष हो, तुम ही अत्यन्त निस्पृही हो; क्योंकि तुम्हारे मन और वचन में जरा भी छलछिद्र नहीं है।' इस प्रकारके वचनों के द्वारा, पारितोषिक वगैरहके द्वारा तथा उस समय के योग्य अन्य उपायों के द्वारा राजाने सबके द्वारा प्रशंसित भद्रमित्र की बहुत-बहुत सराहना की।

बेचारा अभागा श्रीभूति नीचा मुख किये हुए खड़ा था । यद्यपि वह स्वभाव से ही देखने में हरिणी के समान दीन था तथापि उसने बड़ा साहस किया था और उसके कारण वह ऐसा प्रतीत होता था मानो लोहे की कोई मूर्ति है। उसके मुखपर असीम लज्जा बोलती थी। भय के कारण वह थर-थर काँप रहा था। उसे देखकर राजा बड़े तिरस्कार के साथ बोला-'ब्राह्मण कुल कलंक, मूर्ख, विश्वासघाती, जुएके द्वारा नये-नये रत्नोंको अपहरण करनेवाले, बगुला भगत ! तुम्हारा यह यज्ञोपवीत साधु पुरुषों के मनरूपी पक्षियोंको फंसानेके लिए बड़ा भारी ताँतका जाल है। अरे दुराचारी, वेदों के भारवाही ! समीचीन धर्मरूपी मन्दिर को मलिन करने वाले, कुकर्म के घर, दुष्ट मन्त्री ! क्या तुम

वृद्धता के कारण भोजवृक्ष की छाल की तरह शिथिल हुए और तेज हवा के झोंके से बुझने के उन्मुख हुए प्रभातकालीन दीपक की तरह अथवा अस्त होने के उन्मुख हुए सूर्य की तरह अपने शरीर की दशा को नहीं देखते हो, जिससे अब भी ऐसी चेष्टाएँ करते हो मानो तुम युवा हो। अतः अब यदि तुम्हें खूब जलती हुई अग्नि में डाल दिया जाये तो यह तुम्हारे जैसे पुराने पापी पर अनुग्रह ही होगा; क्योंकि इससे तुम थोड़ी ही देर तक दुःख उठा सकोगे। इसलिए नीच ब्राह्मण ! या तो तुम्हें अत्यन्त दुर्गन्धित गोबर से भरे हुए तीन प्याले खाने चाहिये, या खूब मोटे ताजे बलशाली पहलवानों के हाथके तेतीस प्रहार सहने चाहिएँ। नहीं तो अवश्य ही तुम्हारा सर्वस्व हर लिया जायेगा।'

विनाश से बचाव को विभूति मानने वाला श्रीभूति पहल के दो दण्ड तो क्रम से नहीं सह सका। अतः उसका सब धन हर लिया गया और समस्त बदन पर चितकबरे रंग से चित्रकारी करके तथा घड़े के खप्परो की और फूटे हुए शकोरों की माला पहना कर गधे पर बैठाकर उसे तिरस्कारपूर्वक नगर से निकाल दिया। पाप कर्म का उदय आने से उसे कोढ़ हो गया और वह अत्यन्त नीच परिणामों से आग में जलकर मर गया। तथा साँपों के वंशमें उत्पन्न हुआ। वहाँ उसने अनेक प्राणियों को डसा और आयु पूरी करके नरक में गया।

इसके सम्बन्ध में एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है --

श्रीभूतिः स्तेयदोषेण पत्युः प्राप्य पराभवम् ।

रोहिदश्च प्रवेशेन दंशेरः सन्नधोगतः ॥375॥

'चोरीके दोष के कारण श्रीभूति राजा के द्वारा तिरस्कृत हुआ। और आगमें जलकर मर गया। फिर सर्पयोनि में जन्म लेकर नरकगामी हुआ' ॥375॥

इत्युपासकाध्ययने स्तेयफलप्रलपनो नाम सप्तविंशतितमः कल्पः।

इस प्रकार उपासकाध्ययन में चोरी का फल बतलाने वाला सत्ताईसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

सुलसा का सगर के साथ संगम

अठाईसवाँ कल्प

ग्रन्थ :

(अब सत्य व्रत का वर्णन करते हैं-)

अत्युक्तिमन्यदोषोक्तिमसभ्योक्तिं च वर्जयेत् ।

भाषेत वचनं नित्यमभिजातं' हितं मितम् ॥376॥

किसी बात को बढ़ाकर नहीं कहना चाहिए, न दूसरे के दोषों को ही कहना चाहिए और न असभ्य वचन ही बोलना चाहिए। किन्तु सदा हित-मित और सभ्य वचन ही बोलना चाहिए ॥376॥

तत्सत्यमपि नो वाच्यं यत्स्यात्परविपत्तये ।

जायन्ते येन वा स्वस्य व्यापदश्च दुरास्पदाः ॥377॥

किन्तु ऐसा सत्य भी नहीं बोलना चाहिए, जिससे दूसरों पर विपत्ति आती हो अपने ऊपर दुर्निवार संकट आता हो ॥377॥

प्रियशीलः प्रियाचारः प्रियकारी प्रियंवदः ।

स्यादानृशंसंधीनित्यं नित्यं परहिते रतः ॥378॥

मनुष्य को सदा प्रिय स्वभाववाला, प्रिय आचरणवाला, प्रिय करने वाला, प्रिय बोलने वाला, सदा दयालु और सदा दूसरों के हित में तत्पर होना चाहिए ॥378॥

केवलिश्रुतसषु देवधर्मतपःसु च ।

अवर्णवादवाअन्तु वेहर्शनमोहवान् ॥379॥

जो जीव केवली, शास्त्र, संघ, देव, धर्म और तप में मिथ्या दोष लगाता है, वह दर्शन मोहनीय कर्म का बन्ध करता है ॥379॥

मोक्षमार्गं स्वयं जाननर्थिने यो न भाषते ।

मदापह्नवमात्सर्यैः स स्यादावरणद्वयी ॥380॥

जो मोक्ष के मार्ग को जानता हुआ भी, जो उसे जानने को इच्छुक है उसे भी नहीं बतलाता, वह अपने ज्ञान का घमण्ड करने से, ज्ञान को

छिपाने से तथा उसके सिवा दूसरा कोई न जानने पावे इस ईर्ष्या भाव से ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म का बन्ध करता है ॥380॥

मन्त्रभेदः परीवादः पैशून्यं कूटलेखनम् ।

मुधासाक्षिपदोक्तिश्च सत्यस्यते विघातकाः ॥381॥

संकेत वगैरह से दूसरे के मनकी बात को जानकर उसे दूसरों पर प्रकट कर देना, दूसरे की बदनामी फैलाना, चुगली खाना, जो बात दूसरे ने नहीं कही या नहीं की, दूसरों का दबाव पड़ने से ऐसा उसने कहा या किया है इस प्रकार का झूठा लेख लिखना, और झूठी गवाही देना, ये सब काम सत्यव्रत के घातक हैं ॥381॥

परस्त्रीराजविद्विष्टलोकविद्विष्टसंश्रयाम् ।

अनायकसमारम्भां न कथां कथयेद्बुधः ॥382॥

समझदार मनुष्य को परायी स्त्रियों की कथा, राजविरुद्ध कथा, लोकविरुद्ध कथा और कपोलकल्पित व्यर्थ कथा नहीं कहनी चाहिए ॥ 382॥

असत्यं सत्यं किंचित्किंचित्सत्यमसत्यगम् ।

सत्यसत्यं पुनः किंचिदसत्यासत्यमेव च ॥383॥

वचन चार प्रकार का होता है। कोई वचन असत्य-सत्य होता है, कोई वचन सत्य-असत्य होता है। कोई वचन सत्य-सत्य होता है और कोई वचन असत्य-असत्य होता है ॥383॥

अस्येदमैदंपर्यम्-असत्यमपि किंचित्सत्यमेव, यथान्धांसि रन्धयति वयति वासांसीयाति। सत्यमप्यसत्यं किंचिद्यथार्थमासतमे दिवसे तवेदं देयमित्यास्थाय मासतमे संवत्सरतमे वा दिवसे ददातीति। सत्यसत्यं किंचिद्यवस्तु यद्देशकालाकारप्रमाणं प्रतिपन्नं तत्र तथैवाविसंवादः। असत्यासत्यं किंचित्सत्त्वस्यासत्संगिरते कल्ये दास्यामोति।

इसका यह अभिप्राय है कि कोई वचन असत्य होते हुए भी सत्य होता है, जैसे-'भात पकाता है, या कपड़ा बुनता है'। ये वचन यद्यपि असत्य हैं क्योंकि न भात पकाया जाता है और न कपड़ा बुना जाता है किन्तु पके हुए को भात कहते हैं, और बुन जाने पर कपड़ा कहलाता है, फिर भी लोकव्यवहार में ऐसा ही कहा जाता है इसलिए इस तरहके वचनोंको सत्य मानते हैं। इसी तरह कोई वचन सत्य होते हुए भी असत्य होता है। जैसे-किसी ने वादा किया कि पन्द्रह दिन में मैं तुम्हें अमुक वस्तु दे दूँगा। किन्तु पन्द्रहवें दिन न देकर वह एक मास में या एक वर्षमें देता है। यहाँ चूंकि उसने वस्तु दे दी इस लिए उसका कहना सत्य है किन्तु समय पर नहीं दी इस लिए सत्य होते हुए भी असत्य है। जो वस्तु जिस देश में, जिस काल में, जिस आकार में और जिस प्रमाण में जानी है उसको उसी रूपमें कहना सत्य-सत्य है। जो वस्तु अपने पास नहीं है उसके लिए ऐसा वचन देना कि मैं तुम्हें कल दूँगा असत्य-असत्य वचन है।

तुरीयं वर्जयेन्नित्यं लोकयात्रा प्रये स्थिता ।

सा मिथ्यापि न गीमिथ्या या गुर्वादिप्रसादिनी ॥384॥

इनमें से चौथे असत्य असत्य वचन को कभी नहीं बोलना चाहिए। क्योंकि लोकव्यवहार शेष तीन प्रकार के वचनों पर ही स्थित है। जो वचन गुरुजनों को प्रसन्न करनेवाला है, वह मिथ्या होते हुए भी मिथ्या नहीं है ॥384॥

न स्तूयादात्मनात्मानं न परं परिवादयेत् ।

न सतोऽन्यगुणान् हिंस्यानासतः स्वस्य वर्णयेत् ॥385॥

न स्वयं अपनी प्रशंसा करनी चाहिए और न दूसरों की निन्दा करनी चाहिए। दूसरों में यदि गुण हैं तो उनका लोप नहीं करना चाहिए और अपने यदि गुण नहीं हैं तो उनका वर्णन नहीं करना चाहिए कि मेरे में ये गुण हैं ॥385॥

तथा कुर्वन्प्रजायेत नीचैर्गोत्रोचितः पुमान् ।

उच्चैर्गोत्रमवाप्नोति विपरीतकृतेः कृती ॥386॥

ऐसा करनेसे मनुष्य नीच गोत्रका बन्ध करता है, और उससे विपरीत करने से अर्थात् अपनी निन्दा और दूसरों की प्रशंसा करने से तथा दूसरों में गुण न होनेपर भी उनका वर्णन करने से और अपने में गुण होते हुए भी उनका कथन न करने से उच्चगोत्र का बन्ध करता है ॥

386॥

यत्परस्य प्रियं कुर्यादात्मनस्तत्प्रियं हि तत् ।

अतः किमिति लोकोऽयं पराप्रियपरायणः ॥387॥

जो दूसरों का हित करता है वह अपना ही हित करता है फिर भी न जाने क्यों यह संसार दूसरों का अहित करने में ही तत्पर रहता है ॥ 387 ॥

यथा यथा परेवेतज्जतो वितनुते तमः।

तथा तथात्मनाडीषु तमोधारा निषिञ्चति ॥388॥

जैसे-जैसे यह चित्त दूसरों के विषय में अन्धकार फैलाता है वैसे-वैसे अपनी नाड़ियों में अन्धकार की धारा को प्रवाहित करता है । अर्थात् दूसरों का बुरा सोचने से अपना ही बुरा होता है ॥388॥

दोषतोयैर्गुणग्रीष्मः संगन्तृणि शरीरिणाम् ।

भवन्ति चित्तवासांसि गुरूणि च लघूनि च ॥389॥

प्राणियों के चित्तरूपी वस्त्र यदि दोष रूपी जल में डाले जाते हैं तो भारी हो जाते हैं और यदि गुण रूपी ग्रीष्म ऋतु में फैलाये जाते हैं तो हल्के हो जाते हैं ॥389॥

सत्यवाक्सत्यसामर्थ्याद्वचासिद्धिं समश्नुते ।

वाणी चास्य भवेन्मान्या यत्र यत्रोपजायते ॥390॥

सत्यवादी को सदा सच बोलने के कारण वचन की सिद्धि प्राप्त होती है। जहाँ-जहाँ वह जो कुछ कहता है उसकी वाणी का आदर होता है ॥390॥

तामर्षहर्षयिमुषाभाषामनीषितः।

जिह्वाच्छेदमवाप्नोति परत्र च गतिक्षतिम् ॥391॥

इसके विपरीत जो तृष्णा, ईर्ष्या, क्रोध या हर्ष वगैरह के वशीभूत होकर झूठ बोलता है उसकी जिह्वा कटवा दी जाती है और परलोक में भी उसकी दुर्गति होती है ॥391॥

असत्यभाषी वसु और पर्वत-नारद की कथा

श्रूयतामत्रासत्यफलस्योपाख्यानम्-जाङ्गलदेशेषु हस्तिनागनामावनीश्वरकुअरजनितावतारे हस्तिनागपुरे

प्रचण्डदोर्दण्डमण्डलीमण्डनमण्डलानखण्डितभण्डनकण्डूलारातिकीर्तिलतानिबन्धनोऽभूदयोधनो नाम नृपतिः।

अनवरतवसुविधाणनप्रीणितातिथिरतिथि मास्य महादेवी। सुता चानयोः सकलकलावलोकानलसा सुलसा नाम । सा किल तया महादेव्या

गर्भगतापि मातेयेनैकोदरेशालिनो रम्यकदेशनिवेशोपेतपोदनपुरनिवेशिनो निर्विर्षक्षलक्ष्मीलक्षिताणमङ्गलस्य पिङ्गलस्य

गुणगीर्वाणाचलरत्नसानवे सूनवे दुरवैरिवक्षःस्थलोहलनावंदानोद्योगलागलाय मधुपिङ्गलाय परिणिता बभूव । । भूभुजा च महोदयेन तेन

विदितमहादेवीहृदयेनापि 'यस्य कस्यचिन्महाभागस्य भाग्यैर्भोग्यतया योग्यमिदं स्त्रैणं द्रविणं तस्यैतद्भयात् । अत्र सर्वेषामपि

वपुष्मतामचिन्तितसुख दुःखागमानुमेयप्रभावं दैवमेव शरणम्' इति विगणेष्वयं स्वयंवराय भीम-भीष्म-भरत-भागसङ्ग सगर-सुबन्धु-

मधुपिङ्गलादीनामवनिपतीनामुपदानुकूलं मूलं प्रस्थायाम्बभूवे । अत्रान्तरे मगधमध्यप्रसिद्धयाराध्यायामयोध्यायां नरवरः सगरो नाम । स

किल लास्यादिविलासकौशलसरसायाः सुलसायाः कर्णपरम्परया श्रुतसौरप्यातिशयो मनागुपरमत्तारुण्यलावण्योदयः प्रयोगेण

तामात्मसाचिकीर्षुस्तौर्यत्रिकसूत्रे प्रतिकर्मविकल्पेषु संभोगसिद्धान्ते विप्रश्रविद्यायां स्त्रीपुरुषलक्षणेषु कथाख्यायिकाख्यानप्रवाहीकास्वपरासु

च तासु तासु कलासु परमसंवीणतालताधरित्री मन्दोदरी नाम धात्री ज्योतिषादिशास्त्रनिशितमतिप्रसूति विश्वभूतिं च बहुमानसंभावितमनसं

पुरोधसं तत्र पुरि प्राहिणोत् । "विशिकाशयशार्दूलदरी" मन्दोदरी तां पुरमुपगम्य परप्रतारणप्रगल्भमनीषा कृत"कात्यायिनीवेषा

तत्तत्कलावलोकनकुतूहलमयोधनधरापालं निजनाथार्थसिद्धिपरवती" रजितवती सती'शुद्धान्तोपाध्यायी भूत्वा सुलसां सगरे संगरं

प्राहयामास । तथा बकोटवृत्तिवेधाः स पुरोधाश्च तैस्तैरादेशैस्तस्य नृपस्य महादेव्याश्च वशीकृतचित्तवृत्तिः -

अब झूठ बोलने का क्या फल होता है इसके विषय में एक कथा सुनें -

जांगल देश में हस्तिनागपुर नाम का नगर है, वहाँ अयोधन नाम का राजा था। उसके अतिथि नामकी राजमहिषी थी। उनके समस्त

कलाओं में निपुण सुलसा नामकी पुत्री थी। जब वह गर्भ में थी तभी रानी ने अपने सहोदर भाई पोदनपुर नरेश पिंगल के गुणी पुत्र मधुपिंगल के साथ उसका वाग्दान करने का संकल्प कर लिया था।

राजा को यद्यपि रानी के हृदयकी बात ज्ञात थी फिर भी उसने सोचा कि 'यह स्त्रीधन जिस किसी महाभाग के भाग्य में भोगने के योग्य है उसी का यह होना चाहिए। इस विषय में सब शरीरधारियों का दैव ही शरण है और दैव का प्रभाव अचानक सुख-दुःख के आगमन से अनुमेय है।' ऐसा जानकर उसने स्वयंवर के लिए भीम, भीष्म, भरत, भाग, संग, सगर, सुबन्धु और मधुपिंगल वगैरह राजाओं के पास भेट पूर्वक पत्र भिजवा दिये।

इसी बीचमें एक दूसरी घटना घटी। अयोध्या के राजा सगर ने कानों-कानों नृत्य आदि कला में कुशल सुलसा के सौन्दर्य की चर्चा सुनी। इस राजा का तारुण्य अपने लावण्य के साथ थोड़ा ढल चला था। अतः उसने उसे उपाय से अपनाने के लिए ज्योतिष आदि शास्त्रों में प्रवीण विश्वभूति नामक पुरोहित के साथ मन्दोदरी नाम की धाय को सुलसा की नगरीमें भेजा। वह धाय सब कलाओं में प्रवीण थी, गाना-बजाना और नाचना जानती थी। साज-शृङ्गार करने में चतुर थी। सम्भोग के सिद्धान्त, सामुद्रिक विद्या, स्त्री पुरुष के लक्षण, कथा-कहानी और पहेली में पूरी पण्डिता थी।

उस नगरमें पहुँचकर दूसरों को ठगने में पटु उस धाय ने प्रौढ़ा स्त्री का वेष बनाया और अपने स्वामी का प्रयोजन सिद्ध करने के लिए तरह-तरह की कलाएँ दिखाकर राजा अयोधन को प्रसन्न कर लिया तथा उसके अन्तःपुर में अध्यापिका बनकर सुलसा से यह प्रतिज्ञा करा ली कि वह सगर को ही वरण करेगी। बगुला भगत पुरोहित ने भी तरह-तरहके आदेशों से राजा और रानी का मन अपने वशमें कर लिया।

उसने स्वयं श्लोक रच-रचकर राजा-रानी को सुनाये जिनका भाव इस प्रकार था --

कुण्टे षष्टिरशीतिः स्यादेकाक्षे बधिरे शतम् ।

वामने च शतं विंशं दोषाः पिङ्गे त्वसंख्यया ॥392॥

टुण्टे में 60 दोष होते हैं, काने में अस्सी और बहरे में सौ दोष होते हैं। बौने में एक सौ बीस दोष होते हैं। किन्तु जिसकी आँखें पीतवर्ण की होती हैं, उसमें तो अगणित दोष होते हैं ॥392॥

मुखस्याधं शरीरं स्याद्वाणार्धं मुखमुच्यते।

नेत्रार्धं घ्राणमित्याहुस्तत्तेषु नयने परे ॥393॥

तथा, शरीर में मुख के आधे भाग का जो मूल्य है वह पूरे शरीर के बराबर है। नाक के आधे भागका मूल्य पूरे मुख के बराबर है। और आधे नेत्रका मूल्य पूरी नाकके बराबर है। इसलिए उन सबमें नेत्र ही वेशकीमत होते हैं ॥393॥

इत्यादिभिः स्वयं विहितविरचनैर्मधुपिङ्गले विप्रीतिं कारयामास । ततश्चाप्तेयमञ्जरीसौरभपयःपानलुब्धबोधस्तनन्धयेषु पुष्पन्धयेष्विव मिलितेषु तेषु स्वयंवराह्वानशृङ्गारिताहङ्कारेषु महोश्वरेषु सा मन्दोदरीवशमानसा सुलसा श्रुतिमनोहरं सगरमवृणीत्तन्निम्नधरोपगाँगेव सागरम् । भवति चात्र श्लोकः -

इस प्रकार के वचनों से उसने उन्हें मधुपिंगल के प्रति विरक्त बना दिया ।

इसके बाद स्वयंवर हुआ। जैसे चम्पे की कली की सुगन्धि रूपी दुग्ध का पान करनेके लिए भौंरे एकत्र हो जाते हैं उसी तरह स्वयंवर के निम्नतरण को पाकर मदमत्त हुए सब राजा उसमें सम्मिलित हुए। सुलसा का मन तो मन्दोदरी के वश में था। अतः जैसे नीची भूमिकी ओर बहनेवाली नदी सागर में जाकर मिल जाती है वैसे ही उसने उन राजाओं में-से सगर राजाको वरण कर लिया ।

इस विषय में एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है --

अल्पैरपि समर्थैः स्यात्सहायैर्विजयो नृपः।

कार्यायान्तो हि कुन्तस्य दण्डस्त्वस्यं परिच्छदः ॥364॥

शक्तिशाली थोड़े से भी सहायकों के द्वारा राजा विजयी होता है। जैसे भाले की नोक ही अपना काम करती है, उसमें लगा डंडा तो उसका सहायक मात्र है ॥364॥

इत्युपासकाध्ययने सुलसायाः सगरसंगमो नामाष्टाविंशः कल्पः ।

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें सुलसा का सगर के साथ संगम नाम का अठाईसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

वसु की रसातल-प्राप्ति

उन्तीसवाँ कल्प

ग्रन्थ :

प्ररूढनिर्वेदकन्दलो मधुपिङ्गलः 'धिगिदमभोगायतनं भोगार्थतनं यदेकदेशदोषादिमामुचितसमागमामपि मामतेन्द्रहामहं नाले प्सि' इति मत्वा विमुक्तसंसारपतः परिगृहीतदीक्षः क्रमेण तांस्तान्ग्रामारामनिवेशानिरनुको "जङ्घाकरिक इव लोचनोत्सवतां नयन्त्रशेनायाबुद्धयायोध्यामागत्यानेकोपवासपरवशहृदयोत्साहस्तीवातपातिश्रान्तदेहो "वाष्पीह इव क्रमथुन्यपोहाय सगरागारद्वारपदिरे मनायलम्बत । तत्र च पुराप्रयुक्तपरिणयापायनीतिविश्वभूतिः प्रगल्भमतये शिवभूतये रुचियाय शिष्याय रहितरहस्यमुद्रकं सामुद्रकमशेषविदुषविचक्षणो व्याचक्षाणो बभूव । परामर्शवशाशीतिः शिवभूतिस्तं न्यक्षलक्षणपेशलं मधुपिङ्गलमवलोक्य- 'उपाध्याय, घनघृताहुतिवृद्धिमद्भामशालिनि ज्वालामालिनि दह्यता. मेतदेति स्वाध्यायो यदेवंविधमूर्तिरप्ययमीहगवस्थाकीर्तिः' । सदाचारनिगृहीतिर्विश्वभूतिःअपर्याप्तपूर्वापरसंगीते शिषभूते, मागाः खेदम्, यदेष नृपवरस्य सगरस्य निदेशादस्मदुपदेशादनन्यसामान्यलावण्यविनिवासां सुलसामलभमानस्तपस्वी तपस्वी समभूत् । . एतच्चासन्नारिष्टतातेर्विश्वभूतेर्वचनमेकायनमनाः स यतिर्निश्चयः प्रवृद्धक्रोधानलः कालेन "विपद्योत्पद्य चासुरेषु कालासुरनामा भवप्रत्ययमाहात्म्यादुपजातावधिसन्निधिस्तपस्याप्रपञ्चमसुरान्वयोदञ्च चात्मनो विनिश्चित्य यदीदानीमेव महापराधनगरं सगरमकारणप्रकाशितदोषजाति विश्वभूतिं च चूर्णपेषं पिनष्मि, तदानयोः सुकृतभूयिष्ठत्वात्प्रेत्यापि' सुरश्रेष्ठत्वावाप्तिरिति न साध्वपराधः स्यात् । ततो यथेहानयोबहुविडम्बनावरोधो वधः, परत्र च दुःखपरम्परानुरोधो भवति, तथा विधेयम् । न चैकस्य बृहस्पतेरपि कार्यसिद्धिरस्ति' इत्यभि प्रायेणात्मवैकारिकद्विप्रदर्शनातिथिं वैरनिर्यातनमनोरथरथसारथिमन्वेषमाणमतिरासीत् । अथ कामकोदण्डकारणकान्तारैरिवेवणावतारविराजितमण्डलायां डहालायामस्ति स्वस्तिमती नाम पुरी । तस्यामभिचन्द्रापरनामवसुर्विश्वावसुर्नाम नृपतिः । तस्य निखिलगुणमणिप्रसूतिवसुमती वसुमती नामाग्रमहिषी । सूनुरनयोः समस्तसपत्नभूरुहविभावसुर्वसुः । पुरोहितश्च निश्चिताशेषशास्त्ररहस्यनिकुरम्बः क्षीरकदम्बः । कुटुम्बिनी पुनरस्य सतीव्रतोपास्तिमती स्वस्तिमती नाम । जैन्युरनयोरनेकनमसितपर्वतप्राप्तः पर्वतो नाम । स किल सदाचारणभूरिः क्षीरकदम्बकसूरिः शिष्यशेमुष्यामिव स्वाध्यायसंपादनविशालायां सुवर्णगिरिगुहाङ्गणशिलायामेकदा तस्मै मुदा गतस्मंयाय यथाविधि संमधिजिगांसवे वसवे प्रगलितपितृपाण्डित्यगर्वपर्वताय तस्मै पर्वताय गिरिकूटपत्तनवसतेर्विश्वनाम्नो विश्वम्भरापतेः पुरोहितस्य विहितानवद्यविद्याचार्यचरणसेवस्य विश्वदेवस्य नन्दनाय नारदाभिधानाय च निखिलभुर्वनव्यवहारतन्त्रमागमसूत्रमत िमधुरस्वरीपदेशमुपदिशन्नम्बरादवतरद्भ्यांसूर्याचन्द्रमस्समाभ्याममितगत्यनन्तगतिभ्यामृषिभ्यामीक्षांचके । तत्र समासनसुगतिरनन्तगतिभंगवान्किलैवमभाषत- 'भगवन्, एत एव मलु विदुष्याः शिष्याः यदेवमनवचं "ब्रह्मोद्यविद्यमेतस्माद्ग्रन्थार्थप्रयोगभङ्गीषु यथार्थप्रदर्शनतया "विधूतोपाध्यायादुपाध्यायादेसर्गधियोऽधीयते' । प्रयुक्तावधिबोधस्थितिरमितगतिभगवान्- 'मुनिवृषन्, सत्यमेवैतत् । किन्त्वेतेषु चतुषु मध्ये द्वाभ्यामम्भसि गौरवोपेतपदार्थ वधःप्रबोधोचितमतिभ्यामिदमतिपवित्रमपि सूत्रं विपर्यासयितव्यम् ॥ एतच्च प्रवचनलोचनालोकितब्रह्मस्तम्बः क्षीरकदम्बः संश्रुत्य 'नूनमस्मिन्महामुनिवाक्येऽर्थात्सप्तरुचिमरीचिवद्वाभ्यामूर्ध्वगाभ्यां भवितव्यमिति प्रतीयते । तत्राहं तावदेकदेशयतिव्रतपूतात्मानमात्मानमधरधामसंनिधानं न संभावयेयम् । नरकान्तं राज्यम्, बन्धनान्तो नियोगः. मरणान्तः स्त्री विश्वासः, विपदन्ता खलेषु मैत्री, इति वचनादिन्दिरामदिरामदमलिनमनःप्रचारे राज्यभारे प्रसरदसुं वसुं च नोर्ध्वं यियासुम् । तन्नारदपर्वती परीक्षाधिकृतौ' इति निश्चित्य समिथमयमूर्णायुद्वयं निर्माय प्रदाय च ताभ्याम् 'अहो, द्वाभ्यामपि भवभ्यामिदमुरंगयुगलं यत्र न कोऽप्यालोकते तत्र विनाशय प्राशितव्यम्' इत्यादिदेशः । तावपि तदादेशेन हव्यवाहे वाहनद्वितयं प्रत्येकमादाय यथायथमयासिष्टाम् । तत्र सत्ख्याति खर्वः पर्वतः पस्त्यपाश्चात्यकुम्बा, पसद्यापार्थे च भटित्रमुरभ्रपुत्रमुदरानलपात्रमकार्षीत् । शुभाशयविशारदो नारदस्तु 'यत्र न कोऽप्यालोकते' इत्युपाध्यायोक्तं ध्यायन् 'को नामात्र पुरे कान्तारे वा सद्रघणो योऽधिकरणं नात्मेक्षणस्य व्यन्तरगणस्य महामुनिजनान्तःकरणस्य च' इति विचिन्त्य तथैव तं वृष्णिमुपाध्यायाय समर्पयामास । उपाध्यायो नारदमप्यूर्ध्वगमवबुद्धयः संसारतरुस्तम्बमिव कचनिकुरम्बमुत्पाटय स्वर्गलथमोसपक्षां दीक्षामादाय निखिलागमसमीक्षां शिक्षामनुश्रित्य चातुर्वर्ण्यश्रमणसङ्घसंतोषणं गणपोषणमात्मसात्कृत्य एकत्वादिभावनापुरस्कारमात्मसंस्कारं विधाय कायकषायकर्शनां सल्लेखनामनुष्ठाय निःशेषदोषालोचनपूर्वकाङ्गविसर्गसमर्थमुत्तमार्थं च

प्रतिपद्य सुरसुखकृतार्थो बभूव । पूर्वमेव तदादेशादात्मदेशोपदेशदः सकलसिद्धान्तकोविदो नारदः सद्गुणभूरेः क्षीरकदम्बसूरेः प्रव्रज्याचरणं स्वर्गावरोहणं चावगत्य 'गुरुवद्गुरुपुत्रं च पश्येत्' इति कृतसूक्तस्मरणः । पर्योत्ततदाराधनोपकरणस्तद्विरहदुःखदुर्मनसमुपाध्यायानीं जननीं सहपांसुक्रीडितं पर्वतं च द्रष्टुमागतः । अपरेधुस्तं पर्वतम् 'अजैर्यष्टव्यम्' इति वाक्यम् 'अजैरजात्मजैर्यष्टव्यं हव्यकव्यार्थो विधिविधातव्यः' इति श्रद्धामात्रावभासिभ्योऽन्तेवासिभ्यो व्याहरन्तमुपश्रुत्यवहस्पतिप्रज्ञःपर्वत, मैवं व्याख्यः । किंतु 'न जायन्त इत्यजा वर्षयप्रवृत्तयो व्रीहयस्तैर्यष्टव्यं शान्तिपौष्टिकार्था क्रिया कार्या' इति परीयेवाचार्यादिदं वाक्यमेवमश्रौवं परुत्सजुंस्तथैवाचिन्तयाव । तत्कथमैषम एव तव मतिर्दापरवसतिः समजनीति बहुविस्मयं मे मनः । प्राचार्यनिकेत पर्वत, यद्येवमाश्चिनेऽप्यर्थाभिधाने भवानपरेवानपि 'विपर्यस्यति, तदा पराधीने माहविधीने को नाम संप्रत्ययः' ।

पर्वतः-नारद, नेदमस्तुकारं' यदस्य पदस्य मन्त्रिरुक्त पवातिसूक्तोऽर्थः । यदि चायमन्यथा स्यात्तदा रसवाहिनीखण्डनमेव मे दण्डः' । नारदः- 'पर्वत, को नु खल्वत्र विवदमानयोरावयोनिकषभूमिः' । पर्वतः- 'नारद, वसुः' । कर्हि तर्हि तं समयानुसतव्यम् । इदानीमेव नात्रोद्धारः' इत्यभिधाय द्वावपि तौ वसुं निकषा प्रास्थीताम्, ऐक्षिषातां च तथोपस्थितौ तेन वसुना गुरुनिर्विशेषमाचरितसम्मानौ यथावत्कृतकशिपुविधानौ विहितांचितोचितकाञ्चनदानौ समागमनकारणमापृष्टौ स्वाभिप्रायमभाषिषाताम् । वसुः- 'यथाह तुस्तत्र भवन्तौ तथा प्रातरेवानुतिष्ठेयम्' । अत्रान्तरे वसुलक्ष्मीक्षयक्षपेव क्षपायां सा किलोपाध्याया नारदपक्षानुमतं क्षीरकदम्बाचार्यकृतं तद्वाक्यव्याख्यानं स्मरन्ती स्वस्तिमती पर्वतपरिभवापायबुद्ध्या वसुमनुसृत्य 'वत्स वसो, यः पूर्वमुपाध्यायादतर्धानापराधलक्षणावसरो वरस्त्वयादायि, स मे संप्रति समर्पयितव्यः' इत्युवाच । सत्यप्रतिपालनासुर्वसुः- 'किमम्ब, संदेहस्तत्र । यद्येवं यथा सहाध्यायी पर्वतो वदति, तथा त्वया साक्षिणा भवितव्यम्' । वसुस्तथा स्वयमाचार्याण्याभिहितः- 'यदि साक्षी भवामि तदावश्यं निरये पतामि । अथ न भवामि तदा सत्यात्प्रच. लामि' इत्युभयाशयशार्दूलविद्रुतमनोमृगश्चिरं विचिन्त्य न व्रतमस्थिग्रहणं शाकपयोमूलभैक्षवर्या वा । व्रतमेतदुन्नतधियामङ्गीकृतवस्तुनिर्वहणम् ॥395॥

इति च विमृश्य निरयनिदानदत्तं चरमपक्षमेव पक्षमाप्सीत् । तदनु मुमुदिषमाणारविन्दहृदयविनिद्रेन्दिरचरणप्रचारोदश्चन्मकरन्दसिन्दूरितनारदेवतासीमन्तान्तराले प्रभातकाले, सेवासमागतसमस्तसामन्तोपास्तिपर्यस्तोत्तंसकुसुमसंपादितोपहारमहीयसि च सति सदसि मृगयाव्यसनव्याजशरव्यीकृते कुरङ्गपोते, अपराद्धेपुरिघुप्रत्यावृत्यासादितस्पर्शमात्रावसेयाकाशस्फटिकघटितविलसनं सिंहासनमुपगत्य 'सत्यशौचादिमाहात्म्यादहं विहायसि गतो जगदव्यवहारं निहालयामि' इत्यात्मनात्मानमर्कवाणो विवादसमये तेन विनतवरदेन नारदेन 'अहो, मृषोद्योद्भिदविभावसो वसो, अद्यापि न किञ्चिन्नत यति तत्सत्यं ब्रूहि' इत्यनेकशः कृतोपदेशः काश्यपीतलं यियासुर्वसुः' नारद, यथैवाह पर्वतस्तथैव सत्यम्' इत्यसमीक्ष्य साक्ष्यं वदन् 'देव, अद्यापि यथायथं वद यथायथं धद' इत्यालापबहुले समन्युमानसविलासिनीस्खलितोक्तिलोहले विषादासादिहृदयप्रजाप्रजल्पकाहले स्फुटब्रह्माण्डखण्डध्वनिकुतूहले समुच्छलति परिच्छदकोलाहले सत्यधर्मकर्मप्रवर्तनकुपितपुरदेवतावशदुर्विलसनः ससिंहासनः क्षणमात्रमप्यनासादितसुख कालं पातालमूलं जगाहे । अत एवाद्यापि प्रथममाहुतिषेलायां प्रजो जल्पन्ति- 'उत्तिष्ठ वसो, स्वर्गे गच्छ' इति । भवति चात्र श्लोकः --

इस घटना से मधुपिंगल को बड़ा वैराग्य हुआ— 'इस भोगशून्य शरीर को धिक्कार हो जिसके एक भाग में दोष होने से मैं समागम के योग्य भी मामा की पुत्री नहीं प्राप्त कर सका' । ऐसा सोचकर उसने संसार को छोड़ दिया और जिन-दीक्षा ले ली । इसके बाद एकाकी पादचारी की तरह अनेक ग्रामों और नगरों में भ्रमण करता हुआ एक दिन अचानक वह भोजनके लिए अयोध्या नगरी में आया । कई दिन से उपवास होने के कारण उसके हृदयका उत्साह मन्द पड़ गया था और तेज घाम से उसका शरीर अत्यन्त खिन्न था । अतः चातक की तरह थकान दूर करने के लिए सगर राजाके महलके द्वार-मण्डप पर थोड़ी देर के लिए ठहर गया ।

वहाँ समस्त विद्वानों में प्रवीण विश्वभूति, जिसने पहले सुलसा का सगरके साथ विवाह कराने में दुर्नीति का प्रयोग किया था, अपने प्रिय शिष्य बुद्धिशाली शिवभूति को खुले तौरपर सामुद्रिक विद्याका व्याख्यान दे रहा था । विचारचतुर शिवभूति ने समस्त लक्षणों से युक्त मधुपिंगलको देखकर अपने गुरुसे कहा- 'गुरुजी ! घीकी आहुति से प्रज्वलित अग्नि में इस सामुद्रिक विद्या को जला देना चाहिए; क्योंकि इस प्रकार के लक्षणों से युक्त होनेपर भी इस आदमी की यह अवस्था है।' सदाचार का शत्रु विश्वभूति बोला-- 'पूर्वापर सम्बन्धसे अनजान

शिवभूति ! खेद मत करो, क्योंकि राजा सगर की आज्ञा से और हमारे कहने से असाधारण सुन्दरी सुलसा को न पा सकने के कारण यह बेचारा तपस्वी हो गया है।'

विश्वभूतिका अमङ्गल निकट था। अतः उसकी बात उस एकाग्रमन तपस्वीने सुन ली। सुनते ही उसकी क्रोधाग्नि भड़क उठी और वह मरकर कालासुर नामका देव हुआ। वहाँ उसे भवप्रत्यय नामका अवधिज्ञान प्राप्त हुआ। उसके द्वारा उसने अपने पूर्व भवका सब वृत्तान्त जान लिया। तब वह सोचने लगा कि यदि मैं इसी समय महा अपराधी सगर को और दुष्ट विश्वभूति को पीस डालूँगा तो पुण्य अधिक होने से ये दोनों मरकर भी देव हो जायेंगे और यह प्रतिशोध ठीक नहीं होगा। इसलिए ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि इनका वध भी कष्ट से हो और ये मरकर परलोक में भी बहुत दुःख उठा सके। किन्तु अकेले तो बृहस्पति का भी काम सिद्ध नहीं हो सकता।' ऐसा सोचकर वह ऐसे व्यक्ति की खोज में चला, जिसके द्वारा वह अपनी विक्रिया शक्ति का चमत्कार दिखला कर अपने बैरका परिशोध ले सके।

इक्षुवन से सुशोभित डहाला देश में स्वस्तिमती नाम की नगरी है। उसमें विश्वावसु नाम का राजा राज्य करता था। उसकी पटरानी का नाम वसुमती था। उनके वसु नामका पुत्र था। समस्त शास्त्रों के रहस्य का ज्ञाता क्षीरकदम्ब राजा का पुरोहित था। उसकी पत्नी स्वस्तिमती थी। उन दोनों के पर्वत नामका पुत्र था जो बहुविध देवाराधन से प्राप्त हुआ था।

एक दिन क्षीरकदम्ब सुवर्ण गिरि की गुफा के आँगन में एक शिलापर पढ़ने के इच्छुक मदरहित वसु को, अपने पिता के पाण्डित्यके गर्व से गर्वित पर्वत को और गिरिकूट नगर के स्वामी राजा विश्व के पुरोहित विश्वदेव के पुत्र नारद को अत्यन्त मधुर स्वर से समस्त लोकके व्यवहारों से पूर्ण आगम सूत्र का उपदेश देता था। उस समय आकाश से उतरते हुए सूर्य और चन्द्रमा के समान अमितगति और अनन्तगति नाम के दो मुनियोंने उन्हें देखा।

भगवान् अनन्तगति बोले-'भगवन् ! ये ही शिष्य विद्वान् हैं, जो ग्रन्थ के अर्थ को यथार्थ रूपसे बतलानेवाले गर्व रहित उपाध्याय से इस निर्दोष ब्रह्मज्ञान को एकाग्रतासे पढ़ रहे हैं।'

अवधिज्ञानसे जानकर भगवान् अमितमति ने उत्तर दिया-'मुनिश्रेष्ठ ! आपका कहना ठीक है, किन्तु इन चारोंमें से दो शिष्यों की बुद्धि पानी में पड़े भारी पदार्थ की तरह नीच ज्ञान की ओर जानेवाली है, ये दोनों इस अत्यन्त पवित्र शास्त्र को भी विपरीत कर देंगे।'

शास्त्र रूपी चक्षुसे ब्रह्माण्ड को देखनेवाले क्षीरकदम्ब ने मुनियों की बातचीत सुन ली। वह सोचने लगा-'महामुनि के वाक्य से ऐसा प्रतीत होता है कि हममें से दो निश्चय ही अग्निकी शिखा की तरह उर्ध्वगामी हैं। उनमें से मैं तो देशचारित्रिका पालक हूँ अतः अपने नरकगामी होनेकी सम्भावना तो मैं नहीं कर सकता। कहावत है कि-'राज्य का फल नरक है। शासन का फल वन्धन है। स्त्री में विश्वास करने का फल मरण है और दुर्जनों से मैत्री करनेका फल विपत्ति है।' अतः लक्ष्मीरूपी मदिरा के मदसे मन को कलुषित करनेवाले राज्यभारमें जिसके प्राण बसे हैं वह वसु ऊर्ध्वगामी हो नहीं सकता। शेष रह जाते हैं नारद और पर्वत। इनकी परीक्षा करनी चाहिए।' ऐसा निश्चय करके पुरोहित ने हविष्य के दो मेढ़े बनवाये और दोनों को एक-एक मेढ़ा देकर कहा-'तुम दोनों जहाँ कोई न देख सके, ऐसे स्थानपर इन मेढ़ों को मारकर खा जाओ।'

गुरुकी आज्ञा से वे दोनों उन मेढ़ों को लेकर चले गये। उनमें से पर्वतने तो घरके पिछवाड़े एक घिरे हुए स्थान पर जाकर उस मेढ़े के बच्चे को भूनकर अपने पेट में रख लिया। किन्तु शुभाशयी नारद ने गुरु के 'जहाँ कोई न देख सके' इस वचनका ध्यान करके विचारा-'नगर या जंगलमें ऐसा कौन-सा स्थान है जो अतीन्द्रिय दर्शी व्यन्तरादिक का और महामुनियों के अन्तःकरणका विषय न हो।' ऐसा विचारकर उसने वह मेढ़ा जैसा का-तैसा उपाध्याय को सौंप दिया। पुरोहित ने जान लिया कि नारद भी ऊर्ध्वगामी है। अतः संसार रूपी वृक्षके गुच्छों के समान केशों का लोच करके उसने स्वर्ग रूपी लक्ष्मी की सखी जिन-दीक्षा ले ली। तथा समस्त शास्त्रों की शिक्षा का अनुसरण करके आचार्य पदको सुशोभित किया और श्रमण संघ का पालन करके जब आयु थोड़ी शेष रह गयी, तब एकत्व आदि भावनाओं से आत्मा को सुसंस्कृत करके काय और कषाय की सल्लेखना रूप समाधिमरण धारण किया। तथा अपने समस्त दोषों की आलोचना पूर्वक शरीर को त्याग कर देवलोक में उत्पन्न हुआ।

गुरु की आज्ञा से नारद पहले ही अपने देश की ओर चला गया था। समस्त सिद्धान्त के पण्डित नारद ने जब गुणों से भूषित आचार्य क्षीरकदम्ब के दीक्षा ग्रहण और स्वर्गारोहण के समाचार सुने तो उसे 'गुरुके समान ही गुरु-पुत्र को मानना चाहिए' इस सूक्ति का स्मरण हो आया। और वह उनकी भेंटके लिए बहुत-सा सामान साथ लेकर गुरु के वियोग से दुःखी गुरुपत्नी और एक साथ खेले हुए मित्र पर्वत

को देखने के लिए आया।

दूसरे दिन नारद ने सुना कि पर्वत श्रद्धालु छात्रों को 'अजैर्यष्टव्यम्' का अर्थ 'बकरो से यज्ञ और श्राद्ध करना चाहिए' ऐसा बतला रहा है। नारद ने रोका- 'पर्वत ! ऐसी व्याख्या मत करो। किन्तु 'अज' अर्थात् जो उग न सके ऐसे तीन वर्षके पुराने धान्यसे शान्ति आदि क्रिया करनी चाहिए' ऐसा अर्थ करो। क्योंकि परार साल आचार्य से हम दोनों ने इस वाक्य का यही अर्थ सुना था, और गत वर्ष हम दोनों ने ऐसा ही विचार भी किया था। न जाने इसी वर्ष तुम्हारी मति संशय में क्यों पड़ गयी है ? मुझे यह देखकर बड़ा अचरज हो रहा है। पर्वत ! तुम आचार्य का काम करते हो। यदि तुम स्वतन्त्र होकर भी इस अर्थके करने में भूलं करते हो तो मेरे समान पराधीन का ही क्या विश्वास है ? पर्वत-नारद ! मैं इसे स्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि इस पदका मेख कहा हुआ अर्थ ही ठीक है। यदि वह ठीक न हो तो मैं अपनी जिह्वा कटवा दूंगा।

नारद-पर्वत ! हमारे विवाद का फैसला कौन करेगा ?

पर्वत-वसु

नारद-तो उसके पास कव चलना चाहिए ?

पर्वत—इसी समय। इसमें विलम्ब क्यों ? इस प्रकार बातचीत करके दोनों वसु के पास चल दिये। वसु ने जैसे ही उन दोनोंको आते हुए देखा, गुरु के समान ही उनका सम्मान किया और यथायोग्य भोजन, वस्त्राभरण तथा स्वर्ण प्रदान करके उनसे आनेका कारण पूछा। दोनों ने अपना-अपना अभिप्राय कह दिया। वसुने उनसे सुबह आने के लिए कहा।

इसी बीच में पर्वत की माता स्वस्तिमती गुरुवानी को अपने पति क्षीरकदम्ब के द्वारा बतलाया हुआ उस वाक्य का व्याख्यान स्मरण हो गया। उसे लगा कि नारद का व्याख्यान ही ठीक है। अतः पर्वत के अनिष्ट की आशंका से वह रात्रि में ही वसु के पास गयी और बोली- 'पुत्र वसु ! पहले गुरुसे छिपने का अपराध करने के समय तुमने मुझे जो वर दिया था वह मुझे अब दो।' सत्यका पालक वसु बोला- 'माता ! उसमें सन्देह मत करो।' 'तो जैसा तुम्हारा गुरुपुत्र कहता है वैसा ही तुम्हें भी कहना चाहिए।' गुरुपत्नीके ऐसा कहने पर वसु विचारमें पड़ गया- 'यदि पर्वतका कथन ठीक ठहराता हूँ तो नरक में गिरता हूँ। और यदि नहीं ठहराता हूँ तो सत्य से विचलित होता हूँ।' इस प्रकार उसका मनरूपी मृग द्विविधारूपी सिंह के फेरमें पड़ गया। बहुत देर तक विचार करने के बाद उसने सोचा -

हड्डी का धारण करना, शाक, पानी, कन्दमूल का लेना अथवा भिक्षा भोजन करना ये सब व्रत नहीं हैं। किन्तु स्वीकार की हुई वस्तु को निबाहना ही समझदार पुरुषों का व्रत है ॥395॥

ऐसा विचार कर उसने नरक में ले जाने वाले दूसरे पक्ष को ही स्वीकार कर लिया।

एक बार एक शिकारी जंगल में शिकार खेलने के लिये गया था वहाँ उसने एक हरिण के बच्चे पर तीर चलाया। किन्तु वह तीर किसी वस्तु से टकराकर लौट आया। तब शिकारी को बड़ा आश्चर्य हुआ और वह इसका कारण जानने के लिए आगे बढ़ा। मार्ग में उसे आकाश की तरह स्वच्छ स्फटिकमणि की एक शिला मिली, जो छूने से ही जानी जा सकती थी। उस शिला को मँगाकर वसुने अपनी सभा में रखा और उसपर अपना सिंहासन रखवाया। तथा उसपर बैठकर अपने ही मुख से अपनी प्रशंसा करते हुए यह घोषणा की कि मैं 'अपने सत्य धर्म के प्रभाव से आकाश में बैठकर जगत्का न्याय करता हूँ।'

दूसरे दिन प्रभात होने पर राजसभा लगी। वसु अपने उसी सिंहासन पर आकर बैठ गया। सेवा के लिए आये हुए सामन्तों ने भेटें चढ़ायीं। और विवाद प्रारम्भ हुआ। नारद ने विनय पूर्वक कहा- 'असत्यवादी वसु अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है अतः सच बोल,' बार-बार समझानेपर भी नरकगामी वसु ने यही कहा- 'जो पर्वत कहता है वही सत्य है।' इस प्रकार झूठी गवाही देते देखकर प्रजा को भी क्रोध आ गया और वह भी चिल्लाने लगी- 'महाराज ! 'अब भी सच बोलिए,' 'अब भी सच बोलिए।' सभा में ऐसा कोलाहल मचा मानो ब्रह्माण्ड के फटने की आवाज है। इसी समय सत्य धर्म-कर्म का लोप करने के कारण क्रुद्ध हुए नगर-देवता ने सिंहासन-सहित वसु को पाताल में भेज दिया। इसी से आज भी यज्ञ में पहली आहुति देते समय ब्राह्मणजन कहते हैं- 'वसु उठ ! स्वर्ग जा।'।

किसी ने ठीक ही कहा है -

अस्थाने बद्धकक्षाणां नराणां सुलभं द्वयम् ।

परत्र दुर्गतिदीर्घा दुष्कीर्तिश्चात्र शाश्वती ॥396॥

'झूठी बात का दुराग्रह करने वाले मनुष्यों के लिए दो चीज सुलभ हैं-परलोक में दीर्घकाल तक दुर्गति और इस लोक में स्थायी अपयश' ॥ 396 ॥

इत्युपासकाध्ययने वसो रसातलासादनो नामैकोनत्रिंशः कल्पः ।

इसप्रकार उपासकाध्ययन में वसु की रसातल-प्राप्ति को बतलानेवाला उनतीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

असत्य का फल

तीसवाँ कल्प

ग्रन्थ :

नारदस्तमेव निर्वेदमुररीकृत्य नर्तविभ्रमभ्रमरकुलनिलयनीलोत्पलस्तूपमिव कुन्तलकलापमुन्मूल्य परमनिष्किञ्चनतानिरूपं जातरूपमास्थाय सकलसत्त्वाभयप्रदानामृतवर्षाधिकरणं संयमोपैकरणमाकलेय्य मुक्तिलक्ष्मीसमागमसंचारिकाभिवोदकपरिचारिकामाहत्य शिवश्रीवशीकरणाध्यायमिव स्वाध्यायमर्नुबद्धय मनोमर्कटक्रीडाप्रकाममिन्द्रियाराममुपरम्य अन्तरात्महेमाशमेसेमस्तमलदहनं ध्यानदहनमुहीष्य संजातकेवलस्तत्पदाप्तिपेशलो बभूव । पर्वतस्तु तथा सर्वसभासमाजोदीरितोहीर्घदुरपवादरजसि मिथ्यासाक्षिपक्षविचक्षणवक्षसि दुराचारक्षणषुभितसहसाक्षाचरीक्षितजीवितमहसि कथाशेषतेजसि "वसौ सति मेहस्वहीणतया पौरापचिकीर्षयों च निरन्तरोदश्वरोमाञ्चनिकायः शललेशलाकानिकीर्णकाय इव निजागण्यदुरीहितामा तोदरचर्मपुटः स्फुटभिव च तैर्नृपतिविनाशवशामर्षिभिः संभूयोपदिष्टलोष्टवर्षिभिरतुच्छपिछोलेदलास्फालनप्रकर्षिभिः प्रतिघातोच्छलच्छकलकषाप्रहारतर्षिभि नगरनिवासहर्षिभिर्ज नैरगणितापकारं सरासमारोहणावतारं कण्ठप्रदेशप्राप्तप्राणः पुरुपूत्कतोल्बणकाणः सकलपुरवीथिषु विश्वरघुष्ठानुजातो निष्काशितः श्वपचस्मशानांशुकपिहितमेहनो विपरीतक्षुरधाराचरितमार्गमुण्डनः प्रकाशितशिखाश्रीफलजालो गलनालावलम्बितः शरावमालः प्रथीयसि वनगहनरहसि प्रविष्टः तुच्छोदकद्वीपिनीतटिनोतनिकटोपविष्टस्तेन कालासुरेण दृष्टः । प्रत्यवमृष्टहचेष्टेन 'चाहं तावद्वैकारिकप्रिचिकाशयिषुशक्तिः एषोऽपि स्वमतप्रतितिष्ठापयिषुमतिप्रसक्तिरतः निष्प्रतिघः खलु मे कार्योलाघः' इति निभृतं वितयं पर्याप्तपरिबाजकवेष्टेन मायामयमनीषेण भाषितश्च । तथा हि-'पर्वत, केन खलु समासन्नकीनाशकेलिनर्मणा दुष्कर्मणा विनिर्मापितनिर्वरोपकारः' ।

पर्वतः-'तात, को भवान् । 'पर्वत, भवत्यितुः खलु प्रियसुहृदहं सहाध्यायी शाण्डिल्य इति नामाभिधायी । यदा हि वत्स, भवान्चोडन्समभवत्तदाहं तीर्थयात्रायामगाम् । इदानीं चोगाम् । अतो न भवान्मां सम्यगवधारयति । तत्कथय हन्त कारणमस्य व्यतिकरस्य' । पर्वतः-'मत्प्राणितपरित्राणसन् भगवन्, समाकर्णय । समस्तागमरत्नसन्निधातरि सुकृतमणिसमाहर्तरि जिनरूपानुजातरि पितरि नाकलोकमिते सति स्वातन्त्र्यादेकदा प्रदीप्तनिकामकामोद्रमः संपन्नपण्यासनाजनसमागमः कृतपिशितकापिसायनस्वादः पापकर्मप्रासादः चेतनप्यार्योपदिष्टं विशिष्टं व्याख्यानमहं दुरात्माख्यानः" स्वव्यसनविवृद्धये धर्मबुया साधुमध्ये अजैर्यष्टव्यमितीदं वाक्यमशेषकल्मषनिषेक्योऽन्यथोपन्यस्यमानो नारदेनापादितवयमस्खलनः सन् एतावद्विपत्तिस्थामवस्थामवापम् । ' कालासुरः-'पर्वत, मा शोच । मुञ्च त्वमशेषं धिषणाकलुषम् । अङ्ग, साधु सम्बोधयात्मानम् । न खलु निरीहस्य नरस्यास्ति काचिन्मनीषितावाप्तिः । तदलं हन्तं हृदयदाहानुगेनावेगेन । हहो पुत्र पर्वत, यथा स्वकीयसंकेता ब्राह्मणोसवाश्वमेधसौत्रामणिवाजपेयराजसूयपुण्डरीकप्रभृतीनां सप्ततन्तूनां प्रतिपादकानि वाक्यानि विरचय्य अन्तरान्तरा वेदवचनेषु निवेशय । वत्स, मयि भूर्भुवःस्वस्त्रयीविपर्यासनसमर्थमन्त्रमाहात्म्ये, त्वयि च तरसासवसवित्रीप्रवृत्तिहेतुश्रुतिगीतिसमभ्यस्तसात्म्ये, किं नु नामेहासाध्यम्' इत्युत्साह्य स्वयं विद्यावष्टम्भसृष्टाभिरष्टाभिरैपीतिभिरुपयमाणजनपदहृदयमयोध्याविषयमागत्य नगरबाहिरिकायां स देवश्चतुराननोऽभूत् । 'अध्वर्युः पर्वतः समासीत् । मायामयसृष्टयः पिङ्गलमनु-मतङ्ग-मरोचि-गौतमादयश्च ऋत्विजोऽजनिषत । तत्र अतिधृतिश्चतुर्भिर्वदनरुपदिशति ।

पर्वतस्तु यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयम्भुवा ।

यज्ञो हि भूत्यै सर्वेषां तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥397॥

ब्राह्मणे ब्राह्मणमालभेत, इन्द्राय क्षत्रिय, मरुद्भ्यः वैश्य, तमसे शद्रम्, उत्तमसे तस्करं, आत्मने क्लीवं, कामाय पुंश्वलमप्रतिक्रुष्टाय मागधं, गीताय सुतम्, आदित्याय स्त्रियं गर्भिणी, सौत्रामणौ य एवंविधां सुरां पिवति, न तेन सुरा पीता भवति । सुराचे तिन एव श्रुतौ संमताः-पैष्टी, गौडी, माधवी चेति । गोसवे ब्राह्मणो गोसवेनेष्वा संवत्सरान्ते मातरमप्यमिलषति । उपेहि मातरम्, उपेहि स्वसारम् ।

इस घटना से नारद को बड़ा वैराग्य हुआ। उसने केशलौच करके नग्न दिगम्बर होकर सकल जीवों को अभयदान देनेवाले संयम के उपकरण पीछी और कमण्डलु ग्रहण कर लिये। और स्वाध्यायपूर्वक, मनरूपी बन्दरके खेलने के स्थान इन्द्रियरूपी उपवन को बन्द करके, अन्तरात्मारूपी स्वर्णपाषाण के समस्त मल को जलाने में समर्थ ध्यान रूपी अग्नि को प्रदीप्त किया। तथा केवलज्ञान प्राप्त करके मुक्त हो गया। राजा वसु के मर जाने पर अत्यन्त लजा तथा पुरवासी जनों के तीव्र तिरस्कार के कारण पर्वत को क्रोध से रोमांच हो आया। उसे ऐसी पीड़ा हुई मानो सेही के काँटों से उसका शरीर बीधा गया है। अपने असंख्य दुष्ट संकल्पों के कारण उसका पेट फटने-सा लगा। उधर नगरवासी लोग राजा की मृत्युसे ऋद्ध होकर उसके ऊपर ईट-पत्थरों की वर्षा करने लगे। उन्होंने उसे गधेपर चढ़ाकर समस्त नगर में घुमाया। पीछे-पीछे कुत्ते भौंकते जाते थे। ईट-पत्थरों की वर्षा होती जाती थी। मार्गमें उल्टे उस्तरे से सिर मुंडा जाता था। गलेमें फूटे ठीकरों की माला पड़ी थी। चाण्डाल के कफन के टुकड़े से उसकी नग्नता को ढाँक दिया गया था। बेचारा रास्ते-भर चिल्लाता जाता था। कष्ट से प्राण कण्ठमें आ गये थे। इस रूप में उसे नगरसे निकाल दिया गया और वह एक घने जंगल में घुसकर एक नदी के किनारे बैठ गया। वहाँ उसे कालासुर नाम के व्यन्तरने देखा। उसके मनकी दशा जानकर कालासुर ने सोचा- 'मैं अपनी विक्रिया शक्ति को दिखलाना चाहता हूँ और यह अपना मत चलाना चाहता है अतः मेरा काम निर्विघ्न होगा।' ऐसा विचारकर उसने संन्यासी का वेष धारण किया और मायावी बुद्धिसे बोला- 'पर्वत ! जल्दी ही यमराज की क्रीड़ा के शिकार बननेवा ले किस दुष्टने तुम्हारे साथ यह निष्ठुर व्यवहार किया है ?' पर्वत- पिता ! आप कौन हैं ?

'मैं तुम्हारे पिता का सहपाठी मित्र हूँ। मेरा नाम शाण्डिल्य है। जब तुम्हारे दाँत निकले थे तब मैं तीर्थयात्रा के लिए चला गया था। और अब लौटा हूँ। इसलिए तुम मुझे नहीं पहचानते हो। अपनी इस विपत्ति का कारण बतलाओ'।

पर्वत - 'मेरे प्राणों के रक्षक भगवन् ! सुनिए। समस्त आगमरूपी रत्नों के धारक और पुण्यरूपी मणियों के संग्राहक मेरे पिता जिन-दीक्षा धारण करके जब स्वर्गलोक को चले गये तो मैं स्वतन्त्र हो गया। एक दिन मैंने काम के वशीभूत होकर वेश्या सेवन किया और मांस-मदिरा का स्वाद लिया। 'अजैर्यष्टव्यम्' इस वाक्य का पिताजी ने जो व्याख्यान किया था उसे जानते हुए भी मुझ दुरात्मा ने अपने व्यसन की पुष्टि के लिए उसे बदल कर अन्यथा रूप से कहा। नारदने मेरी इस गलती को पकड़ लिया। बस, उसीसे मेरी यह दुर्दशा हुई है।'

कालासुर - 'पर्वत ! रंज मत कर, और इस सब बुद्धि विकार को दूर कर' अपने को सम्बोधित। जो मनुष्य निरीह है उसकी मनोवाञ्छा पूरी नहीं होती। अतः हृदयको जलाने वाले शोक को छोड़। और पुत्र पर्वत ! अपने संकेत से चिह्नित ब्राह्ममेध, गोमेध, अश्वमेध, सौत्रामणि, वाजपेय, राजसूय, पुण्डरीक आदि यज्ञों के प्रतिपादक वाक्यों को रचकर वेद में जगह-जगह मिला दो। पुत्र ! मेरे में 'भूर्भुवः स्वः' इत्यादि मन्त्र को बदलने की सामर्थ्य के होते हुए और मांस-मदिरा आदि में प्रवृत्ति कराने वाले वेदमन्त्रों की रचना में सिद्धहस्त तुम्हारे होते हुए ऐसा कौन काम है जो हम नहीं कर सकते।'

इस प्रकार पर्वत को उत्साहित करके उस कालासुर ने अपनी विद्या के बलसे अतिवृष्टि आदि आठ ईतियों को समस्त देश में फैला दिया। तथा आप अयोध्या नगरी में आकर ब्रह्मा का रूप धारण करके नगर के बाहर बैठ गया। पर्वत यजुर्वेद का ज्ञाता पुरोहित बना। मायामयी पिंगल, मनु, मतङ्ग, मरीचि, गौतम वगैरह होता बन गये। ब्रह्माजी चारों मुखों से उपदेश देते थे। और पर्वत आदेश देता था।

ब्रह्माजी ने स्वयं यज्ञ के लिए ही पशुओं की सृष्टि की है। यज्ञ सबकी समृद्धि के लिए है इसलिए यज्ञ में किया जाने वाला पशुवध वध नहीं है ॥397॥

ब्रह्मा के लिए ब्राह्मण का वध करना चाहिए, इन्द्र के लिए क्षत्रिय का वध करना चाहिए, वायु के लिए वैश्य का वध करना चाहिए, तम के लिए शूद्रका वध करना चाहिए, गाढ़तम के लिए चोर का वध करना चाहिए, आत्मा के लिए नपुंसक का वध करना चाहिए, काम के लिए बदमाश का वध करना चाहिए, अप्रतिकृष्ट के लिए मागध का वध करना चाहिए, गीत के लिए पुत्र का वध करना चाहिए, सूर्य के लिए गर्भिणी स्त्री का वध करना चाहिए। सौत्रामणि यज्ञ में जो अमुक प्रकार की शराब पीता है वह शराब नहीं पीता। तीन प्रकार की शराब वेदसम्मत है-पैष्टी-जो जौ वगैरह के आटे से बनायी जाती है, गौडी-जो गुड़से बनायी जाती है, और माधवी, जो महुए से बनती है। गोसव यज्ञ में ब्राह्मण तुरत के जन्मे हुए गौके बछड़े से यज्ञ करके वर्ष के अन्त में माता से भी भोग करता है। माता के पास जाओ, बहन के पास जाओ।

षट्शतानि नियुज्यन्ते पशूनां मध्यमेऽहनि ।

अश्वमेधस्य वचनादूनानि पशुभिर्त्रिभिः ॥398॥

अश्वमेध यज्ञ में मध्य के दिन तीन कम छह सौ अर्थात् पाँच सौ सत्तानवे पशु मारे जाते हैं ऐसा वचन है ॥398॥

महोक्षो वा महाजो वा श्रोत्रियाय विशस्यते ।

मिवेद्यते तु दिव्याय स्रक्सुगन्धनिधिविधिः ॥399॥

श्रोत्रिय के लिए महान् बैल अथवा बकरा मारा जाता है। तथा माला गन्ध वगैरह विधिपूर्वक अर्पित की जाती है ॥399॥

गोसवे सुरभि हन्याद्राजसूये तु भूभुजम् ।

अश्वमेधे हयं हन्यात्पौण्डरीके च दन्तिनम् ॥400॥

गोसव यज्ञ में गाय का वध करना चाहिए। राजसूय यज्ञ में राजा का वध करना चाहिए। अश्वमेध में घोड़े का वध करना चाहिए और पौण्डरीक यज्ञ में हाथी का वध करना चाहिए ॥400॥

औषभ्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणो नराः ।

यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युच्छ्रितां गतिम् ॥401॥

औषधि, पशु, वृक्ष, तिर्यश्च, पक्षी और मनुष्य ये सब यज्ञ में मारे जाने से उच्चगति पाते हैं ॥401॥

मानवं व्यासवासिष्ठं वचनं वेदसंयुतम् ।

अप्रमाणं तु यो ब यात्स भवेद्ब्रह्मघातकः ॥402॥

मनु, व्यास, वसिष्ठ आदि ऋषियों के वचनों को और वैदिक वचनों को जो अप्रमाण बतलाता है वह ब्रह्मघाती है ॥402॥

पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम् ।

आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥403॥

पुराण, मानवधर्म मनुस्मृति, साङ्गवेद और आयुर्वेद ये चार स्वयं प्रमाण हैं। इन्हें युक्तियों से खण्डित नहीं करना चाहिए ॥403॥

इति मनु-मरीचि-मतङ्गप्रभृतयश्च सवर्षटकारमजद्विजगजवाजिप्रभृतीन्देहिनी जुङ्गति । तदेवं श्रुतिशतैवाणिज्यजित्योपजीविनामीतोः पर्वतो व्यपोहति । कालासुरः पुनरालभ्यमानान् प्राणिनः साक्षाद्विमानारूढान्स्वर्गं सांवर्ग्या पर्यटतो दर्शयति । मनुप्रमुखाश्च मुनयः प्रभावयन्ति । ततो मायाप्रदर्शितत्रिदशवेशमप्रवेशादिलोभे सआते सकलजनक्षोभे सप्रत्यासन्ननरकनगरः सगरः, स च श्वभ्रविभ्रमोचितस्थितिर्विश्वभूतिस्तदुपदेशात्तांस्तान्सत्त्वान् हत्वा प्सात्त्वा च दुरन्तदुरितचित्तचेतसौ मखमिषात्कालासुरेण स्मारितपूर्वभवागसौ वीतिहोत्रा' । तिविहितविचित्रवधरहसौ विचित्राया धरियाद्राधीयो दुःखदधुमन्थरं तलमगाताम् । पर्वतोऽप्यग्न्यायीपतिविजये"जठरधनञ्जये च हव्यकव्यकर्मभिः समाचरितसमस्तसत्त्वसंहारः कालासुरतिरोधानविधुरविधिसारस्तद्विरहातकशोक शोचिःक्लेशकृश्यच्छरीरः कालेन "जीनजीवितप्रचारः सप्तमरसावसरः समपादि । भवति चात्र श्लोकः --

इस तरह की आज्ञाएँ पर्वत देता था। और मनु, मरीचि, मतङ्ग आदि ऋषि 'स्वाहा' शब्द के साथ बकरा, द्विज, हाथी, घोड़ा वगैरह प्राणियों से होम करते थे। इस प्रकार वेद से जीविका करने वाले ब्राह्मणों में, शस्त्र से जीविका करने वाले क्षत्रियों में, व्यापार से जीविका करने वाले वश्यों में और खेती आदि से जीविका करने वाले कृषकों में कालासुर ने जो बीमारियाँ फैलायी थीं उन्हें पर्वत दूर करता था, और कालासुर मारे गये प्राणियों को अपनी माया के द्वारा विमान में सवार कराकर स्वर्गको जाते हुए दिखाता था। मनु वगैरह मुनि इससे दूसरों को प्रभावित करते थे। इस प्रकार जब सब लोगों में माया के द्वारा दिखलाये गये स्वर्ग गमन के लोभ से हलचल मच गयी तो नरकगामी सगर और विश्वभूति पुरोहित ने भी कालासुर के उपदेश से बहुतसे प्राणियों का वध किया और उन्हें खाया। इससे उनका चित्त पाप में लिप्त हो गया। फिर कालासुरने उन दोनों के पूर्व जन्म में किये गये अपराधका स्मरण कराकर यज्ञ के बहाने से उन दोनों को यज्ञ की अग्नि में होम दिया, और वे दोनों मरकर तीसरे नरक में चले गये। पर्वतने भी अग्नि को तिरस्कृत करने वाली अपनी जठराग्नि में देवताओं और पितरों की तृप्ति के बहाने समस्त प्राणियों का संहार कर डाला। कालासुर तो अपना काम करके अन्तर्धान हो गया। अतः उसके बिना उसकी सब विधि फीकी पड़ गयी। कालासुर के विरह रूपी संतापके शोक से उसकी दशा शोचनीय हो गयी। क्लेश से उसका शरीर कृश हो गया। अन्तमें मरण करके वह सप्तम नरक में उत्पन्न हुआ। इसके विषयमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है --

मृषोद्यादीनवोद्योगात्पर्वतेन समं वसुः ।

जगाम जगतीमूलं ज्वलदातकपावकम् ॥404॥

'झूठ बोलने के दोष के कारण पर्वत के साथ वसु भी सातवें नरक को गया, जहाँ सदा संताप रूपी अग्नि जलती रहती है ॥404॥

इत्युपासकाध्ययने असत्यफलसूचनो नाम त्रिंशत्तमः कल्पः।

इस प्रकार उपासकाध्ययन में असत्य के फल का सूचक तीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

दुराचार का फल

एकतीसवाँ कल्प

ग्रन्थ :

(अब ब्रह्मचर्याणुव्रत का वर्णन करते हैं-)

वधूवित्तस्त्रियौ मुक्त्वा सर्वत्रान्यत्र तजने ।

माता स्वसा तनूजेति मतिर्भ गृहाश्रमे ॥405॥

अपनी विवाहिता स्त्री और वेश्या के सिवा अन्य सब स्त्रियोंको अपनी माता बहिन और पुत्री मानना ब्रह्मचर्याणुव्रत है ॥405॥

(विशेषार्थ – सब श्रावकाचारों में विवाहिता के सिवा स्त्री मात्र के त्यागी को ब्रह्मचर्याणुव्रती बतलाया है। परनारी और वेश्या ये दोनों ही त्याज्य हैं। किन्तु पं० सोमदेवजी ने अणुव्रती के लिए वेश्या की भी छूट दे दी है। न जाने यह छूट किस आधारसे दी गई है ?)

धर्मभूमौ स्वभावेन मनुष्यो नियंतस्मरः।

यजात्यैव पैराजातिबन्धुलिङ्गिस्त्रियस्त्यजेत् ॥406॥

धर्मभूमि आर्यखण्ड में स्वभाव से ही मनुष्य कम कामी होते हैं। अतः अपनी जाति की विवाहित स्त्री से ही सम्बन्ध करना चाहिए और अन्य कुजातियों की तथा बन्धु-बान्धवों की स्त्रियों से और व्रती स्त्रियों से सम्बन्ध नहीं करना चाहिए ॥406॥

रक्ष्यमाणे हि बृंहन्ति यत्राहिंसादयो गुणाः ।

उदाहरन्ति तद्ब्रह्म ब्रह्मविद्याविशारदाः ॥407॥

जिसकी रक्षा करने पर अहिंसा आदि गुणों में वृद्धि होती है उसे ब्रह्मविद्या में निष्णात विद्वान् ब्रह्म कहते हैं ॥407॥

मदनोद्दीपनवृत्तैर्मदनोद्दीपनै रसैः।

मदनोद्दीपन शामंदमात्मनि नाचरेत् ॥408॥

अतः कामोद्दीपन करने वाले कार्यों से, कामोद्दीपन करनेवाले रसों के सेवनसे और कामोद्दीपन करने वाले शास्त्रों के श्रवण या पठन से अपने में काम का मद नहीं लाना चाहिए ॥408॥

हव्यैरिव दुतप्रीतिः पाथोभिरिव नीरधिः।

तोषमेति पुमानेष न भोगैर्भवसंभवैः ॥409॥

जैसे हवन की सामग्री से अग्नि और जल से समुद्र कभी तृप्त नहीं होते। वैसे ही यह पुरुष सांसारिक भोगों से कभी तृप्त नहीं होता ॥ 409॥

विषवद्विर्षयाः पुंसामापाते मधुरागमाः।

अन्ते विपत्तिफलदास्तत्सतामिह को ग्रहः ॥410॥

ये विषय विषके तुल्य हैं। जब आते हैं तो प्रिय लगते हैं किन्तु अन्त में विपत्ति को ही लाते हैं। अतः सज्जन का विषयों में आग्रह कैसे हो सकता है ॥410॥

बहिस्तास्ताः क्रियाः कुर्वन्नरः संकल्पजन्मवान् ।

भावाप्तावेव निर्वाति क्लेशस्तत्राधिकः परम् ॥411॥

तरह-तरह की बाह्य क्रियाओं को करता हुआ कामी मनुष्य रति सुख के मिलने पर ही सुखी होता है। किन्तु इसमें क्लेश ही अधिक होता है सुख तो नाम मात्र है ॥411॥

निकामं कामकामात्मा तृतीयौ प्रकृतिर्भवेत् ।

अनन्तवीर्यपर्यायस्तानारतसेवने ॥412॥

जो अत्यन्त कामासक्त होता है वह निरन्तर का मका सेवन करने से नपुंसक हो जाता है और जो निरन्तर ब्रह्मचर्य का पालन करता है वह अनन्त वीर्य का धारी होता है ॥412॥

सर्वा क्रियानुलोमा स्यात्फलाय हितकामिनाम् ।

अपरत्रार्थकामाभ्यां यत्तौ न स्तां तदर्थेषु ॥413॥

जो अपना हित चाहते हैं उनकी सभ अनुलोम क्रियाएँ फलदायक होती हैं। किन्तु **अर्थ** और काम को छोड़कर । क्योंकि जो अर्थ और काम की अभिलाषा करते हैं उन्हें अर्थ और काम की प्राप्ति नहीं होती, अतः उन्हें अर्थ और काम की प्राप्ति होने पर भी सदा असन्तोष ही रहता है ॥413॥

तयामय समः कामः सर्वदोषोदयद्युतिः।

उत्सूत्रे तत्र मानां कुतः श्रेयः समागमः ॥414॥

काम क्षय रोग के समान सब दोषों को उत्पन्न करता है। उसका आधिक्य होने पर मनुष्यों का कल्याण कैसे हो सकता है ? ॥414॥

देहद्रविणसंस्कारसमुपार्जनवृत्तयः।

जितकामे पृथा सर्वास्तत्कामः सर्वदोषभाक् ॥415॥

जिसने काम को जीत लिया उसका देह का संस्कार करना, धन कमाना आदि सभी व्यापार व्यर्थ हैं; क्योंकि काम ही इन सब दोषों की जड़ है ॥415॥

स्वाध्यायं ध्यानधर्माद्याः क्रियास्तावन्नरे कुतः।

ई? चित्तेन्धने यावदेष कामांशुशुक्षणिः ॥416॥

जब तक चित्त रूपी इंधन में यह कामरूपी आग धधकती है तब तक मनुष्य स्वाध्याय, ध्यान, धर्माचरण आदि क्रिया कैसे कर सकता है ? ॥416॥

ऐदम्पंयमतो मुक्त्वा भोगानाहारवद्रजेत् ।

देहदाहोपशान्त्यर्थमभिध्यानविहानये ॥417॥

अतः कामुकता को छोड़कर शारीरिक सन्ताप की शान्ति के लिए और विषयों की चाह को कम करनेके लिए आहार की तरह भोगों का सेवन करना चाहिए ॥417॥

परस्त्रीसंगमानक्रीडान्योपर्येमक्रियाः।

ती तारतिकर्तव्ये हन्युरेतानि तद् व्रतम् ॥418॥

परायी स्त्री के साथ संगम करना, काम सेवनके अंगों से भिन्न अंगों में कामक्रीड़ा करना, दूसरों के लड़की-लड़कों का विवाह कराना, कामभोग की तीव्र लालसा का होना और विटत्व, ये बातें ब्रह्मचर्य व्रत को घातनेवाली हैं ॥418॥

मचं द्यूतमुपद्रव्यं तौर्यत्रिकमलंक्रियाः ।

मदो विटा वृथाटयति दशधानगजो गणः ॥419॥

शराब, जुआ, मांस मधु, नाच, गाना और वादन, लिंग पर लेप वगैरह लगाना, शरीर को सजाना, मस्ती, लुच्चापन और व्यर्थ भ्रमण, ये दस काम के अनुचर हैं ॥419॥

हिंसनं साहसं द्रोहः पौरो भाग्यार्थदूषणे ।

ईर्ष्या वाग्दण्डपारुष्ये कोपजः स्यारणोऽष्टया ॥420॥

हिंसा, साहस, मित्रादिके साथ द्रोह, दूसरों के दोष देखने का स्वभाव, **अर्थदोष** अर्थात् न ग्रहण करने योग्य धन का ग्रहण करना, और देयधन को न देना, ईर्ष्या, कठोर वचन बोलना और कठोर दण्ड देना ये आठ क्रोध के अनुचर हैं ॥420॥

ऐश्वर्यौदार्यशौण्डीर्यधैर्यसौन्दर्यवीर्यताः।

लभेताद्भुतसञ्चाराश्चतुर्व्रतपूतधीः ॥421॥

ब्रह्मचर्याणुव्रती अद्भुत ऐश्वर्य, अद्भुत उदारता, अद्भुत शूर-वीरता, अद्भुत धीरता, अद्भुत सौन्दर्य और अद्भुत शक्ति को प्राप्त करता है ॥ 421 ॥

अनङ्गानलसंलोढे परस्त्रीरतिचेतसि।

सद्यस्का विपदो पत्र परत्र च दुरास्पदाः ॥422॥

जिसका कामरूपी अग्नि से वेष्टित चित्त पर-नारी से रति करने में आसक्त है उसे इसी जन्म में तत्काल विपत्तियाँ उठानी पड़ती हैं और परलोक में भी कठोर विपत्तियोंका सामना करना पड़ता है ॥422॥

श्रूयतामत्राब्रह्मफलस्योपाख्यानम्-काशिदेशेषु सुरसुन्दरीसपत्नपौरागनाजनविनोदारविन्दसरस्यां वाणारस्यां संपादितसमस्तारतिसंतानप्रकर्षकर्षणो धर्षणो नाम नृपतिः । अस्यातिचिरप्ररूढप्रणयसहकारमअरी सुमारी नामाप्रमहादेवी । पञ्चतन्त्रादिशास्त्रविस्तृतवचन उग्रसेनो नाम सचिवः । पतिहितैकमनोमुद्रा सुभद्रा नामास्य पत्नी । दुर्विलासरसरङ्गः कडारपिङ्गो नामानयोः सूनुः । अनवद्यविद्योपदेशप्रकाशिताशेषशिष्यः पुष्यो नाम पुरोहितः । सौरूप्यातिशयापहसितपंमा पमा नामास्य धर्मपत्नी । समस्ताभिजातजनवायव्यवहारानुगः स कडारपिङ्गः स्वापतेयतारुण्यमदमन्दमानबलाचापलादुरालपनभण्डेन षिङ्गोषण्डेन सह नतभूविभ्रमाभ्यर्थ्यमानभुजङ्गातिथिषु वीथिषु संचरमाणस्तामेकदा प्रासादतलोपसंदामरोलपक्ष्मेक्षणाक्षिप्तपमा पभामवलोक्य । (दुराचार के फल के सम्बन्ध में एक कथा सुनें)

दुराचारी कडारपिंग की कथा

काशी देश में वाराणसी नाम की नगरी है। उसमें धर्षण नाम का राजा राज्य करता था। सुमञ्जरी नाम की उसकी पटरानी थी, और उग्रसेन नामका मन्त्री था। मन्त्री की पत्नी का नाम सुभद्रा था, और पुत्र का नाम कडारपिंग था। वह बड़ा विलासी था। राजपुरोहितका नाम पुष्य था और उसकी पत्नी का नाम पद्मा था।

मन्त्रीपुत्र कडारपिंग कुलीन पुरुषों के न करने योग्य काम करता था। एक दिन वह धन और जवानी के मदसे मस्त होकर अश्लील बात-चीत करते हुए कामीजनों के साथ उन गलियों में घूमता था, जहाँ स्त्रियोंके विलास से आमन्त्रित होकर विलासी जन आतिथ्य ग्रहण करते हैं। उसने महल के ऊपर अपने सुन्दर नयनों से कमल को तिरस्कृत करनेवाली पद्मा को देखा । वह सोचने लगा --

एषेन्द्रियगुमसमुल्लसनाम्बुवृष्टिः-

रेषा मनोमृगविनोदविहारभूमिः ।

एषा स्मरद्विरदबन्धनवारिवृत्तिः

किं खेचरी किममरी किमियंरतिर्वा ॥423॥

इन्द्रियरूपी वृक्ष की वृद्धि के लिए जलवृष्टि, मनरूपी मृग के विनोद के लिए क्रीडाभूमि और कामरूपी हाथी को बाँधने के लिए सांकलके समान यह कौन है ? कोई विद्याधरी है या देवागना है अथवा रति है ?

इति च विचिन्त्य मकरकेतुवशव्यापारनिधिः प्रवृत्तदुरभिसन्धिः पुरुषप्रयोगेणाभिमेतसिद्धिमनवबुध्यमानः पराशयशैलविदारणतडिल्लतामिव तडिल्लतां नाम धात्री अष.क्षीणे शरणे सुनयायंतनपतनादिभिः पादपतनादिभिः "प्रश्रयैरसदाशयाश्रयैरवन्ध्यसाध्यमुपरुध्य स्वकीयाकृतकान्तारप्रवर्धनधरित्रोम करोत् । । तदुपारोधातथाविधविधिविधात्री धात्रो-(स्वगतम्) 'परपरि ग्रहोऽन्यतरानुरागग्रहश्चेति दुर्घटप्रतिभासः खलु कार्योपन्यासः। अथवा सुघट एवायं कार्यघटः । यतस्तप्तातप्तवयसोरयसोरिव चेतसोः साङ्गत्याय खलु पण्डितैर्दीप्त्यं"दौत्यमन्यथा सरसतरसोरम्भसोरिव द्वयोरपि द्रवस्वभावयोरेकीकरणे किं नु नाम प्रतिभाविजृम्भितम् । किं च ।

ऐसा विचारते हुए उसने काम से पीड़ित होकर दुष्ट संकल्प किया। बलात्कार के द्वारा अपने मनोरथ की सिद्धि न होती जानकर उसने दूसरे के अभिप्राय रूपी पर्वत को भेदने में बिजली की तरह कुशल तडिल्लता नाम की धाय को उसके पास भेजने का विचार किया। और एकान्त गृहमें नीतिवानों को भी मार्ग भ्रष्ट करने वाले पैरों पर गिरना आदि दुर्जनों के द्वारा आश्रय की जाने वाली विनय के द्वारा उसे अपना मनोरथ सिद्ध करने के लिए तैयार किया।

उसके अति आग्रह से उस कार्य का भार लेकर धाय सोचने लगी--पर-नारी और किसी दूसरे के प्रेम को जुटाने का कार्य बड़ा कठिन प्रतीत होता है । अथवा यह कार्य सरल ही है; क्योंकि तपे हुए और बिना तपे हुए लोहों के समान दो चित्तों को मिलाने के लिए पंडित जन जो

कुछ प्रयत्न करते हैं वही तो वास्तव में दौत्य है। अन्यथा वेग से बहने वाले दो जलों की तरह दो तरल हृदयों को मिलाने में क्या बुद्धिमानि है ?' तथा।

सा दूतिकाभिमतकार्यविधौ बुधानां

चातुर्यवर्यवचनोचितचित्तवृत्तिः ।

याचुम्बकोपलकलेवहि शल्यमन्त-

श्वेतोनिरूढमपरस्य बहिष्करोति ॥424॥

वही दूती इष्ट कार्य को करने में चतुर कहलाती है, जो चुम्बक पत्थर की तरह दूसरे के मन के भीतर के शल्य को बाहर निकाल लेती है ॥ 424॥

तदलं विलम्बेन । परिपक्वफलमिव न खलु व्यतिक्रान्तकालमदः" सर सताधिष्ठान मनुष्ठानम् । किं त्वस्य साहसावलम्बनधर्मणः कर्मणः सिद्धावसिद्धौ वा देवात्परेगिताकारसर्वः प्राः कथमपि बहुजनावकाशे कृते सति पुरश्चारी हि शरीरी भवति दुरपवाद परागावसरो व्यसनगोचरश्च । तद् ध्वनेयेयमिदमवसेयमद्वितीयाप्त्यप्रसवाय सचिपाय । तदुदाहरन्ति न चानिषेध भर्तुः किञ्चिदारम्भं कुर्यादन्यत्रात्प्रीतिकारेभ्य' इति । (प्रकाशम्) 'प्राणप्रियैकापत्य अमात्य, ईदृश इव ननु भवादशोऽपि जनो जातजीवितामृतानिषेकाय अचिरत्नं यत्नं कर्तुमर्हति ।

अमात्यः- 'समस्तमनोरथसमर्थनकथास्मार्ये भार्ये, तज्जीवितामृतानिषेकाय मज्जीवितोचितविवेकाय च तत्रभवत्येव प्रभवति।'

धात्री- 'अथ किम् । तथाप्यबलाजनमनोतिरिक्तप्रतिभावता तत्रभवतापि प्रतियतितव्यम् । ' इत्यभिधाय धृतकात्यायिनीप्रतिकर्मा

करतलामलकमिवाकलितसकलस्त्रैणधर्मा तैस्तैः परचित्ताकर्षणमन्त्रैर्व त्रैश्वक्षुश्चेतोहादेवास्तुभिश्च अतिचिरायाचरितोपचारा

परिप्राप्तप्रणयप्रसरावतारा च एकदा मुदा रहसीमं प्रस्तुतकार्यघटनासमसीमं तां पुष्यकान्तामुद्दिश्य श्लोकमुदाहर्षीत् ।

अतः इस कार्य में देरी नहीं करनी चाहिए। जैसे समय बीत जाने पर पका फल भी सरस नहीं रहता वैसे ही समय बीत जाने पर सुकर काम भी दुष्कर हो जाता है। किन्तु यह कार्य बड़े साहस का है भाग्यवश यह सिद्ध हो या न हो किन्तु दूसरे के अभिप्राय को जानने में सर्वज्ञ विद्वान् भी यदि ऐसे कार्यको बहुत से मनुष्यों के सामने करें तो दूत निन्दा का पात्र तो बनता ही है, साथ ही साथ मुसीबत में भी पड़ जाता है। इसलिए यह कार्य केवल एक ही पुत्र वाले मंत्री से कह देना चाहिए, कहा भी है कि स्वामी से निवेदन किये बिना दूत को कोई भी काम नहीं करना चाहिए। हाँ, यदि कोई आपत्ति आ जाये तो उसका प्रतीकार स्वामी से विना कहे भी किया जा सकता है।'

ऐसा मनमें सोचकर धाय मन्त्री से बोली--

मंत्री जी! आपका यह प्राणप्रिय इकलौता लड़का है। आप भी पहले ऐसे ही थे। इसलिए पुत्र के जीवन को बचाने के लिए आपको शीघ्र प्रयत्न करना चाहिए।'

मंत्री - आर्ये ! मेरे और मेरे पुत्रके जीवनको बचाना आपके ही हाथ है।

धाय - सो तो है ही, किन्तु फिर भी आपकी प्रतिभा हम स्त्रियों की बुद्धि से बहुत अधिक है। इसलिए आपको भी प्रयत्न करना चाहिए।

इतना कहकर धायने ढलती उम्र की स्त्री का वेश धारण किया। वह स्त्रीजनोचित सब बातों में बड़ी चतुर थी। उसने दूसरे के चित्त को आकृष्ट करने वाले वचनों से और आँखों तथा मन को प्रसन्न करने वाली वस्तुओं से कुछ दिनों में ही पद्मा को खुश कर लिया। एक दिन प्रेम का जाल फैलाने का अवसर आया देखकर धाय ने बड़े हर्ष के साथ एकान्त में पद्मा को लक्ष्य करके एक श्लोक कहा उसका भाव यह था -

स्त्रीषु धन्यात्र गङ्गव परभोगोपगापि या ।

मणिमालेव सोल्लासं ध्रियते मूनि शम्भुना ॥425॥

इस लोक की स्त्रियों में गङ्गा नदी ही धन्य है, जिसे सब भोगते हैं, फिर भी महादेव बड़े हर्ष से मणियों की माला की तरह उसे अपने मस्तक पर धारण करते हैं ॥425॥

भट्टिनी-(स्वगतम्) इत्वरीजनाचरणहर्म्यनिर्माणाय प्रथमसूत्रपात इवायं वाक्यो

इसे सुनकर पद्माने अपने मनमें विचारा- 'इसकी यह भूमिका तो दुराचारिणी स्त्रियों के 'पोशातः । तथा चाह येयं तावदेतदाकूतपरिपाकम्

। (प्रकाशम् ।) आर्ये, किमस्य सुभाषितस्य ऐदम्पर्यम् । धात्री-परमसौभाग्यभागिनि भट्टिनि, जानासि एवास्य सुभाषितस्य "कैम्पर्यम् , यदि न वज्रघटितहृदयासि । . भट्टिनी-(स्वगतम्) सत्यं वज्रघटितहृदयाहम् , यदि भवत्प्रयुक्तोपघातघणः जर्जरितकाया न भविष्यामि ।

(प्रकाशम्) आर्ये, हृदयेऽभिनिविष्टमर्थं श्रोतुमिच्छामि । धात्री-वत्से, कथयामि । किं तु ।

योग्य दुराचार का महल बनाने के लिए पहली नापा-जोखी जैसी है। फिर भी जो कुछ इसने कहा है उसके अभिप्राय को परिपक्व करने का प्रयत्न करना चाहिए।' यह सोच धायसे बोली-'माता आपके इस सुभाषित का क्या मतलब है ?'

धाय--परम सौभाग्यवती देवी यदि तुम्हारा हृदय वज्र का नहीं है तो इस सुभाषित का मतलब तुम जानती ही हो।

पद्मा--(मनमें) यदि तुम्हारे द्वारा फेंके गये इस लोह मुद्रर से मेरा मन चूर्ण नहीं. होता तो जरूर मेरा हृदय वज्र से बना है। (प्रकाशमें)

माता ! हृदय में वर्तमान **अर्थ** को मैं तुमसे सुनना चाहती हूँ।

धाय---पुत्री ? बतलाती हूँ । किन्तु -

चित्तं द्वयोः पुरत एव निवेदनीयं ।

मानाभिमानधनधन्यधिया नरेण ।

यः प्रार्थितं न रहयत्यभियुज्यमानो

यो वा भवेन्ननु जनो मनसोऽनुकूलः ॥426॥

समझदार और स्वाभिमानी मनुष्य को दो के ही सामने अपने मनकी बात कहनी चाहिए। एक तो उससे, जो प्रार्थना करने पर प्रार्थना को अस्वीकार न करे । दूसरे उससे, जो अपने मनके अनुकूल हो ॥426॥

भट्टिनी-(स्वगतम्) अहो नभः प्रकृतिमपीयं पङ्कुरुपलेप्तुमिच्छति। (प्रकाशम्) आर्ये, ''उभयत्रापि समर्थाहं न चैतन्मदुपज्ञं भवदुपक्रम था।

धात्री-(स्वगतम्) 'अनुगुणेयं खलु कार्यपरिणतिः, यदि निकटततन्त्रस्य वहिपात्रस्येव 'दुर्वातालीसन्निपातो न भवेत् । (प्रकाशम्) अत एव भद्रे, वदन्ति पुराणविदः -

पद्मा - (मन में) देखो इसकी धृष्टता, आकाश की तरह निर्लिप्त वस्तु को भी यह कीचड़ से लोपना चाहती है। (प्रकाशमें) माता ! मैं उक्त दोनों बातों में समर्थ हूँ। न मेरे लिए यह कोई नयी बात है और न इसमें तुम्हारा ही कुछ प्रयत्न है।

धाय - (मन में) यदि कोई तूफान न आ पहुँचे तो तटके निकट आये हुए जहाज की तरह यह कार्य सिद्ध है। (प्रकाशमें) पुत्री ! इसीलिए पुराणकारों ने कहा है कि -

विधुर्गुरोः कलत्रेण गोतमस्यामरेश्वरः।

संतनोश्चापि दुश्चर्मा समगंस्त पुरा किल ॥427॥

प्राचीनकाल में चन्द्रमा ने अपनी गुरुपत्नी से, इन्द्र ने गौतम की पत्नी अहिल्या से और महादेव ने संतनु राजा की पत्नी से संगम किया था ॥427॥

भट्टिनी - आर्ये, एवमेव । यतः --

पद्मा - माता आपका कहना ठीक है; क्योंकि -

स्त्रीणां वपुर्वन्धुभिरग्निसाक्षिकं परत्र विक्रीतमिदं न मानसम् ।

स एव तस्याधिपतिर्मतः कृती विनम्भगर्भा ननु यत्र निर्वृतिः ॥428॥

बन्धु-बान्धव अग्नि की साक्षी पूर्वक स्त्री का शरीर दूसरे को बेच देते हैं, मन नहीं। उसका पति तो वही भाग्यशाली होता है जिससे उसे विश्वास के साथ ही साथ सुरत भी मिलता है ॥428॥

धात्री - पुत्रि, तर्हि श्रूयताम् । त्वं किलैकदा कस्यचित्कुसुम किंसारुनिर्विशेषवपुषः पुराङ्गनाजनलोचनोत्पलोत्सवामृतरोचिषः

प्रासादपरिसरविहारिणी वीक्षणपथानुसारिणी सती कौमुदीव हृदयचन्द्रकान्तानन्दस्यन्दसंपादिनी अभः। तत्प्रभृति ननु तस्य मदनसुन्दरस्य

यूनः प्रत्यवसितवसन्तश्रीसमागमसमयस्य "पुष्पन्धयस्येव रसालमार्यामिव भवत्यां महान्ति खलु मन्दमकरन्दास्वादन दोहदानि, नितान्तं

चिन्ताचक्रपरिक्रान्तं स्वान्तम् , प्रसभं गुणस्मरणपरिणामाधिकरणमन्तःकरणम्, अनवरतं रामणीयकानुकीर्तनसंकेतं चेतः,

प्रविकसत्कुसुमविलासोचितसंनिहितेऽप्यन्यस्मिल्लताकान्ताजने महानुद्वेगः, पिशाचच्छलितस्येवास्थानानुबन्धः, सातोन्मादस्येव

विचित्रोपलम्भः क्रियाप्रारम्भः, स्कन्दगदगृहीतस्येव प्रतिवासरं कायावतारः, स्मराराधनप्रणीतप्रणिधानस्येवेन्द्रियेषु सन्नता जडता प्राणेषु "चाद्यश्चीनपथाकथा । अपि च

धाय - पुत्री ! तो सुन एक दिन तू अपने महल के ऊपर घूमती थी। फूल की पंखुड़ीकी तरह कोमल और नगर की स्त्रियों के नयन कुमुदों को विकसित करनेके लिए चन्द्रमा के तुल्य किसी युवा की दृष्टि तेरे ऊपर पड़ गयी। जैसे वसन्त का समागम होने पर भौरा आम की मंजरी का रस पान करने के लिए लालायित रहता है वैसे ही उस दिन से कामदेव की तरह सुन्दर वह युवा तेरे रस का पान करने के मनोरथ बाँधता रहता है। उसी दिन से उसका चित्त तेरे लिए चिन्तित है, सदा तेरे गुणों को स्मरण करता है, तेरी सुन्दरता का बखान करता है, विलास के योग्य अन्य स्त्रियों के पास आने पर भी उनकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता। भूताविष्ट की तरह एक स्थान पर नहीं बैठता । पागलों की तरह विचित्र काम करता है। क्षयरोग के रोगी की तरह दिन-दिन कृश होता जाता है ।इन्द्रियाँ ऐसी क्षीण हो गयी है मानो कामदेव की आराधना के लिए उसने ध्यान लगाया है ।आज-कल में ही उसके प्राण पखेरू उड़ना चाहते हैं। तथा -

अनवरतजलान्दीलनस्पन्दमन्दै

रतिसरसमृणालीकन्दलैश्चन्दनाः ।

अमृतरुचिमरीचिप्रौढितायां निशायां

प्रियसनि सुहृदस्ते किञ्चिदात्मप्रबोधः ॥429॥

सदा जल से भीगे हुए पंखे से मन्द-मन्द हवा के किये जाने से और अत्यन्त सरस कमलों के डोंडों को चन्दन के रस में भिगोकर उनका लेप करने से चाँदनी रात में तेरे प्रेमी को कुछ होश होता है ॥429॥

भट्टिनी - आर्ये, किमित्यद्यापि गोपाय्यते । धात्री-कर्णजाहमनुसृत्य) एवमेवम् । भट्टिनी-को दोषः। धात्री-कदा। भट्टिनी-यदा तुभ्यं रोचते। इतश्चानन्तरायतया 'तनयानुमताहितमतिपाटवः सचिवोऽपि नृपतिनिवासो. चितप्रचारेषु 'वासुरेषु गुणव्यावर्णनावसरायातमेतस्य महीपतेः पुरस्ताच्छलोकमिममुपन्यास्थत

पद्मा - माता! तो अब तक यह बात तुम क्यों छिपाये रहीं ?

धाय - (कान में) । इस इस प्रकार ।

पद्मा - इसमें क्या बुराई है ?

धाय - तो कब ?

पद्मा - जब तुम चाहो। इधर धाय का प्रयत्न चालू था उधर मन्त्री भी प्रतिदिन अपने पुत्र की हित-कामना से राजाके पास जाता था और राजाके महल में रहने योग्य पक्षियों के गुणोंका वर्णन किया करता था ।एक दिन अवसर पाकर उसने राजा के सामने एक श्लोक पढ़ा। जिसका मतलब यह था कि -

राज्यं प्रवर्धते तस्य किअल्पो यस्य वेश्मनि ।

शत्रवश्च क्षयं यान्ति सिद्धाचिन्तामणेरिव ॥430॥

जिस राजा के महल में किञ्जल्प नाम का पक्षी रहता है उसका राज्य बढ़ता है और सिद्ध किये गये चिन्तामणि रत्न की तरह उससे शत्रु नष्ट हो जाते हैं ॥430॥

राजा - अमात्य, क तस्य प्रादुर्भूतिः, कीरशी च तस्याकृतिः। अमात्यः-देव, भगवतः पार्वतीपतेः श्वशुरस्य

मन्दाकिनीस्पन्दनिदानकन्दरनीहारस्य रमणसहवरखेचरीसुरतपरिमलमत्तमत्तालिमण्डलीविलिख्यमानमरकतमणिमेखलस्य प्रालेयाचलस्य वृक्षोत्पलषण्डमण्डितशिखण्डस्य रत्नशिखण्डनाम्नः शिखरस्याभ्यासे निःशेषशकुन्तसंभवावहा गुहा समस्ति । यस्यां जटायु-वैनतेय-

वैशम्पायनप्रभृतयः शकुन्तयः प्रादुरासन् । तस्यामेव तस्योत्पत्तिः । तां च गुहामहं पुष्यश्चानेकशी नन्दाभगवतीयात्रानुसारित्वात्साधु जानोवः । प्रतिकृतिश्चास्यानेकवर्णा मनुष्यसवर्णा च । भूपालः-(सजातकुतूहलः) अमात्य, कथं तदर्शनोत्कण्ठा ममाकुण्ठा स्यात् । अमात्यः-देव, मयि पुष्ये वा गते सति । राजा-अमात्य, भवानतीव्र प्रवयाः । तत्पुष्यः प्रयातु । अमात्यः-देव, तर्हि दीयतामस्मै सरत्नालङ्कारप्रवेक पारितोषिकम् , "अग. णेयं पाथेयं च। राजा-बाढम् । स्वामिचिन्ताचारचक्षुष्यः पुष्यस्तथादिष्टो गेहमागत्य 'आदेशं न विकल्पयेत्' इति मतानुसारी

प्रयाणसामनी कुर्वाणस्तया सतीव्रतपवित्रितसमया पाया

पृष्ठः - भट्ट, किमकाण्डे प्रयाणाडम्बरः।

पुष्पः - प्रस्तुतमाचष्टे।

भट्टिनी - भट्ट, सर्वमेतत्सचिषस्य कूटकपटचेष्टितम्।

भट्टः - भट्टिनि, किं नु खल्वेतच्चेष्टितस्यायतनम्।

भट्टिनी - प्रक्रान्तमभाषिष्ट।

भट्टः - किमत्र कार्यम्।

भट्टिनी - कार्यमेतदेव। दिवा सप्रकाशमेतस्मात्पुरात्प्रस्थाय निशि मिमृतं च प्रत्यावृत्य मात्रैव महावकाशे निजनिवासनिवेशे सुखेन वस्तव्यम्। उत्तरत्राहं जानामि। भट्टः तथास्तु। ततोऽन्यदा तया परनिकेतिपाज्या धाग्या सदुराचाराभिषणः कडारपिङ्गः सुप्तजनसमये समानीतः 'समभ्यसतु तावदिहैवेयमयं च महीमूलं यियासुः पातालावासदुःखम्' इत्यनुभ्याय तया पनया 'महावर्तस्य गर्तस्योपरि कल्पितायामवानायां बटवायां क्रमेणोपवेशितवपुषौ तौ बावपि दुरातकावण्ये श्वभ्रमध्ये विनिपेततुः। अनुबभूवतुब मिलिलपरिजनोच्छिष्टसिक्थजीवनी कुम्भीपाकोपक्रमं षट्समाशाखान्दुःखक्रमम्। पुनरेकदा 'स्वाम्यादेशविशेषविदुष्यः पुष्पः तथाविधपक्षिप्रसवसमर्थपक्षिणीसहितं कृतपञ्जरपरिकल्पं किअल्पमादाय आगच्छन्निचतुरेषु वासरेवस्यां पुरि प्रविशति' इति प्रसिद्धम्। प्रवर्तिनी भट्टिनी विविधवर्णविडम्बितकायेन चटकचकोरचाषचातकाविछदच्छादितप्रतीकनिकायेन पञ्जरालयेन तवयन सह चिरप्रवासोचितवेषजोष्यं पुण्यं पुरोपवने विनिवेश्य भट्टोद्भूतारम्भसंभाषणसनाथसखोजनसंकल्पा धृतपोषितभर्तकार्कल्याभि'मुलमयासीत्। अपरेयुः स निखिलगुणविशेष्यः पुष्पः पृथिवीपतिभवनमनुगम्य 'देव, अयं स किजल्पः पक्षी, इयं च तत्प्रसवित्री पतत्रिणी च' इत्याचरत्। राजा - (चिरं निर्वर्ण्य निर्णीय च स्वरेण।) पुरोहित, नैष खलु किअल्पः पक्षी, किं तु कडारपिङ्गोऽयम्। एषापि विहङ्गी न भवति, किं तु तडिल्लितेयं कुट्टिनी। पुण्या-देव, एतत्परिक्षाने प्रगल्भमतिप्रसवः सचिवः। राक्षा सचिवस्तथा पृष्ठः मातलं प्रविविओरिवं क्षोणीतलमवालोक्त। राजा - पुष्प, समास्तामयं, भवानतद्व्यतिकरं कथयितुमर्हति।

पुष्पः - स्वामिन्, कुलपालिका प्रगल्भते॥भूपतिः भट्टिनीमाहूय 'अम्ब, कोऽयं व्यतिकरः' इत्यपृच्छत्। भट्टिनी गतमुदन्तमास्यत्-काश्यपीश्वरः शैलूष इव हर्षामर्षोत्कर्षस्थामवस्थामनुभवन्निखिलान्तःपुरपुरन्ध्रीजनवन्धमानपादपनां पन्नां तैस्तैः सतीजनप्रहादनवचनैः सम्मानसन्निधानैरलङ्कारदानैश्चोपचर्य, प्रवेश्य च वेदविद्विजोह्यमानकीरथारूढां वेश्म', पुनः 'अरे निहीन, किमिह नगरे न सन्ति सकललोकसाधारणभोगाः सुभगाः सीमन्तिन्यः, येनैवमाचरः। कथं च दुराचार, एवमाचरन्नात्र विलायं विलीनोऽसि। तदिदानीमेव यदि भवन्तं तृणाङ्कुरमिव तृणमि तदा न बहुकृतमपकृतं स्यात्' इति निर्वरं निर्भयं दुर्नगरभुजङ्ग कडारपिङ्ग कुट्टिनीमनोरथातिथिसत्रिणमुग्रसेनमन्त्रिणं च निखिलजनसमक्षमाक्षारणापूर्वकं प्रावासयत्। दुष्प्रवृत्तानङ्गमायह तङ्गः कडारपिङ्गस्तथा प्रजाप्रत्यक्षमाक्षारितः सुचिरमेतदेनःफलमनुभूय 'दशमीस्थः सन् श्वभ्रप्रभवभाजनं जनमभजत। भवति चात्र श्लोकः --

राजा - मन्त्री ! यह पक्षी कहाँ पैदा होता है और उसकी शक्ल कैसी होती है ?

मंत्री - स्वामी ! भगवान् महादेव के श्वसुर हिमालय पर्वत की रलशिखण्ड नाम की चोटी के समीप में एक गुफा है, जिसमें सब प्रकार के पक्षी उत्पन्न होते हैं। जटायु, वैनतेय, वैशम्पायन आदि पक्षी उसी गुफामें पैदा हुए थे। उसी गुफामें किञ्जल्प नामका पक्षी उत्पन्न होता है। उस गुफा को मैं और पुष्प अच्छी तरह जानते हैं क्योंकि हम दोनों भगवती नन्दा की यात्रा करने गये थे। उसका आकार मनुष्य की तरह होता है और वह अनेक रंगका होता है।

राजा - (बड़े कौतूहलसे) मन्त्री ! उसके दर्शनकी मेरी अभिलाषा कैसे सफल हो ?

मंत्री स्वामी ! मेरे या पुष्प के जाने से आपकी अभिलाषा पूर्ण हो सकती है।

राजा - मन्त्री ! तुम बहुत वृद्ध हो इसलिए पुष्प को भेज दो।

मंत्री - स्वामी ! तो पुष्प को उत्तम रत्नजडित कंकण पारितोषिक में दीजिए और रास्तेके लिए बहुत-सी आवश्यक सामग्री भी।

राजा - अच्छा।

आज्ञा पाकर पुष्प घर आया। उसका मत था कि आज्ञा में संकल्प विकल्प नहीं करना चाहिए। अतः आते ही जाने की तैयारी करने लगा। पतिव्रता पद्मा ने यह देखकर पूछा 'स्वामी ! यह असमयमें जानेकी तैयारी क्यों ?'

पुष्य - प्रस्तुत बात को कहता है।

पद्मा - यह सब कपटी मन्त्रीका जाल है।

पुष्य - ऐसा करनेका कारण क्या ?

पद्मा ने सब कुछ कह सुनाया।

पुष्य - फिर अब क्या करना चाहिए ?

पद्मा - यही करना चाहिए कि दिन चढ़ने पर इस नगर से प्रस्थान करो और रात में चुपचाप लौट कर अपने इसी बड़े मकान के किसी एक हिस्से में सुख से निवास करो। आगे जो करना है वह मैं कर लूंगी।

पुष्य - ठीक है। दूसरे दिन जब सब सो गये तो वह ठगनी धाय उस दुराचारी कडारपिंग को लेकर आयी। उधर पद्माने यह सोचकर कि 'ये दोनों नरकगामी इसी जन्म में नरकके दुःखों को सहने का अभ्यास क्यों न करें अपने घर में एक खूब गहरा गढ़ा खुदवाकर उसके ऊपर बिना बुनी खाट बिछा दी और खाटपर एक कपड़ा डाल दिया। वे दोनों जैसे ही उस खाट पर बैठे दोनों उस गढ़े में गिर गये। और छह मासतक सबका झूठा भात खाकर नरकके समान दुःखोंको भोगते रहे।

एक दिन सारे नगर में यह बात फैल गयी कि स्वामी की आज्ञा का पालक पुष्य एक पिंजरे में किअल्प पक्षी को और इस प्रकार के पक्षीको जन्म दे सकने वाली पक्षिणी को लेकर जा रहा है और तीन चार दिन में वह इस नगरमें प्रवेश करेगा। उधर पद्मा ने उन दोनों के शरीरों को अनेक रंगों से रंगा और चिड़िया, चकोर, नीलकण्ठ, चातक आदि पक्षियों के पर उनपर चिपका दिये। तथा पिंजरे में बन्द करके उन दोनों के साथ अपने पति पुष्य को चिर प्रवास के योग्य वेश बनाकर पहले से नगरके बाहर स्थित उपवन में भेज दिया। और आप विरहिणी स्त्री का वेश बनाकर पुरोहित के अद्भुत कार्य के सम्बन्ध में बातचीत करने के लिए जातुर सहेलियों के साथ पति से मिलने गयी। दूसरे दिन गुणी पुष्य राजभवन में जाकर बोला-"महाराज ! यह किञ्जल्प पक्षी है और उसको जन्म देने वाली पक्षिणी है।"

राजा-(बहुत देरतक देखकर और स्वरसे पहचान कर) पुरोहित ! यह किञ्जल्प पक्षी नहीं है, यह तो कडारपिंग है। यह भी पक्षिणी नहीं है किन्तु कुट्टिनी तडिल्लता है।

पुष्य-स्वामी ! इनको पहचानने मन्त्रीजी बहुत प्रवीण हैं। राजा ने मन्त्री से उन्हें पहचानने के लिए कहा तो मन्त्री पृथ्वी को देखता रह गया, मानो पृथ्वीमें समा जाना चाहता है।

राजा - पुष्य ! मन्त्री को रहने दो, तुम सब समाचार कहो।

पुष्य - स्वामी ! मेरी पत्नी ही यह काम कर सकने में समर्थ है।

राजा ने पद्मा को बुलाकर कहा - "माता! यह क्या मामला है ?" पद्मा ने सब बीता वृत्तान्त सुना दिया। वृत्तान्त सुनते-सुनते कभी राजा नट की तरह प्रसन्न होता था और कभी क्रोध से तमतमा उठता था। सब सुनकर अन्तःपुर की स्त्रियों ने पद्मा के पैर पड़े और राजाने सती स्त्रियों के योग्य आनन्ददायक वचनों से और आदरसूचक वस्त्राभरण के प्रदानसे पद्मा को सम्मानित करके पालकी में बैठाकर उसके घर पहुंचा दिया। फिर कुट्टिनी और कडारपिङ्ग का तिरस्कार करते हुए बोला-"अरे नीच ! क्या इस नगरमें वेश्याएँ नहीं हैं जो तूने ऐसा आचरण किया। अरे दुराचारी ! ऐसा करते हुए तू मर क्यों नहीं गया ? अतः यदि इसी समय मैं तुझे तिनके-की तरह नष्ट कर डालूँ तो यह तेरा बहुत अपकार नहीं कहलायेगा।" इस प्रकार बुरी तरहसे तिरस्कार करके दुराचारी कडारपिङ्गको और कुट्टिनी के साथी उग्रसेन मन्त्री को सब लोगों के सामने फटकारते हुए देश से निर्वासित कर दिया। इस प्रकार व्यभिचार के लिए प्रजा के सामने तिरस्कृत होकर कामी कडारपिङ्ग बहुत समय तक इस पाप का फल भोगता रहा। फिर मरकर नरक में चला गया। इस विषयमें एक श्लोक है, जिसका भाव इस प्रकार है -

मन्मथोन्माथितस्वान्तःपरस्त्रीरतिजासधीः।

कडारपिङ्गः संकल्पानिपपात रसातले ॥431॥

कामसे पीड़ित और परस्त्री सन्भोग के लिए उत्सुक कडारपिङ्ग परस्त्री गमन के संकल्पसे नरक में गया ॥431॥

इत्युपासकाध्ययनेऽब्रह्मफल सारणो नामैकत्रिंशत्तमः कल्पः ।

इस प्रकार उपासकाध्ययन में दुराचार के फल को बतलानेवाला एकतीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।